(राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 के अनुरुप एवं उत्तर प्रदेश के समस्त विश्वविद्यालय के एकीकृत पाठ्यक्रमानुसार)

भारत में राष्ट्रवाद

(Nationalism in India)

(1857-1919)

डा. राजेश कुमार शर्मा
प्रोफेसर, इतिहास विभाग
राजकीय महाविद्यालय, रूधौली
बस्ती (उ0 प्र0)

नित्या प्रकाशन

प्रथम संस्करण 2025

प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में इस पुस्तक या उसके किसी भाग को पुन: प्रकाशित नहीं किया जा सकता है ।

प्रकाशक की अस्वीकृति :– इस पुस्तक को प्रकाशित करते समय हर बात का उचित ध्यान रखा गया है । फिर भी अनजाने में हुई किसी भी गलती के लिए लेखक या प्रकाशक किसी भी तरह से जिम्मेदार नहीं है ।

किसी भी प्रकार की टिप्पणी या सुझाव सिर्फ लेखक या प्रकाशक को भेजा जा सकता है। अन्य स्थान पर नहीं।

कॉपीराइट @ **डा. राजेश कुमार शर्मा**

ISBN : 978-93-5857-711-2 (P)
978-93-5857-594-1 (E)

DOI : http://doi.org/10.65651/NP.9789358575941.2025.1-221

Price : Rs. 550.00

प्रकाशक और मुद्रक
नित्या प्रकाशन, भोपाल (म. प्र.)
Web: www.nityapublications.com
Email: info@nityapublications.com
lEidZ +91 900 929 1840

प्राक्कथन

लगभग 200 वर्षो तक भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय जीवन और समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसने न केवल भारतीय समाज की गहराई तक जाने वाली जडों को हिलाकर रख दिया अपितु राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में अनेक नवीन आयाम जोडे। इस उपनिवेशवाद ने एक ऐसे राजनीतिक आन्दोलन को जन्म दिया जिसमें भारतीय जनता की आशाएँ और आकांक्षाएँ निहित थी। ये आन्दोलन समय–समय पर अनेक राजनीतिक संगठनों, समूहों, संस्थाओं, व्यक्तियों आदि के द्वारा चलाये गये जिसकी अन्तिम परिणति 1947 ई0 में देश की स्वतंत्रता प्राप्ति थी। प्रस्तुत पुस्तक स्वाधीनता संघर्ष के विभिन्न आयामों और विचारों पर केन्द्रित है जो उत्तर प्रदेश राज्य के विभिन्न विश्वविद्यालयों में लागू समान पाठ्यक्रम राष्ट्रीय शिक्षा नीति – 2020 के अन्तर्गत बी0ए0 तृतीय वर्ष, सेमेस्टर– V पर आधारित है जिसमें भारत में राष्ट्रवाद (1857 ई0–1919 ई0) का विस्तृत वर्णन किया गया है।

नयी शिक्षा नीति– 2020 के पाठ्यक्रम के निर्माण की अवधि में जब हम सब स्नातक स्तर के इतिहास विषय के पाठ्यक्रम पर विचार–विमर्श और विश्लेषण कर रहे थे, उसी दौरान हमने यह तय कर लिया था कि आधुनिक भारत के इतिहास को एक नये दृष्टिकोण से देखना और समझना होगा और उसी के अनुरुप हमें एक पुस्तक को आकार देना होगा जिससे विद्यार्थी और आम जनमानस गॉधीजी और टैगोर के राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों को समझकर सहज रुप से भारतीय स्वाधीनता संधर्ष के इतिहास को समझ सके।

हमने कोशिश की है कि भारत में राष्ट्रवाद और भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास का प्रस्तुतीकरण सारगर्भित और सरलीकृत हो और उन नये चैप्टर्स को भी शामिल किया जाय जो अब तक स्नातक स्तरीय पुस्तकों में उपलब्ध नही थे। निश्चित रुप से हम यह दावा नही कर रहे है कि प्रस्तुत पुस्तक में हमने सभी पक्षों को समेकित किया है लेकिन इतना अवश्य कहेंगे कि इस पुस्तक को हमने एक नये दृष्टिकोण से लिखने का प्रयास किया है जिससे कि स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी भी लाभान्वित हो और प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले विद्यार्थियों को भी इसका लाभ मिल सके। इस पुस्तक में दी गई जानकारी का अध्ययन करके विद्यार्थी और आम जनमानस यह समझ सकेंगे कि कितनी बडी कीमत चुकाकर भारतवासियों ने राष्ट्रवाद का बिगूल फूॅका। मेरा यह विनम्र निवेदन है कि भारत में राष्ट्रवाद को सिर्फ पढ़ने, लिखने या प्रश्नपत्रों के उत्तर तक ही सीमित न रहने दे। जाति, धर्म, मत–मतान्तर, क्षेत्रीयता से परे होकर भारत के प्रति अपने कर्तव्य का चिन्तन करें और सभी पहलुओं को उन्नत कर दुनिया को फिर से एक बार बता दे कि– ''भारत आज भी विश्व गुरू है।''

प्रस्तुत पुस्तक हमारे परम आदरणीय गुरू प्रो0 ए0के0 मित्तल को समर्पित है। इस पुस्तक के लेखन में हम विशेष रुप से अपने गुरूजन प्रोफेसर हिमांशु चतुर्वेदी व प्रोफेसर निधि

चतुर्वेदी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते है जिनकी प्रेरणा और आशीर्वाद से हमने इस लेखन कार्य को पूरा करने का निश्चय किया। हम अपनी पत्नी डा0 (श्रीमती) तोषी, सहायक प्रोफेसर– संस्कृत, राम जयपाल कालेज, छपरा और महाविद्यालय के अपने अन्य सहपाठियों के प्रति भी आभार प्रकट करते है जिनके सहयोग के बिना यह कार्य पूरा नहीं हो सकता था।

हम नित्या पब्लिकेशन, भोपाल के डा0 जयकरन सिंह जी तथा उनके सहयोगियों के भी आभारी है, जिन्होने पुस्तक के प्रकाशन में विशेष रुचि ली और एक बेहतर ग्राफिक्स को डिजायन किया। आशा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के साथ–साथ आम जनमानस के लिए भी उपयोगी साबित होगी। इस पुस्तक को और अधिक ज्ञानवर्द्धक तथा रूचिकर बनाने के लिए हम आपकी समस्त प्रतिक्रियाओं व सुझावों का स्वागत करेंगे।

डा0 राजेश कुमार शर्मा
प्रोफेसर– इतिहास विभाग
राजकीय महाविद्यालय, रुधौली, बस्ती।

विषय सूची

यूनिट	शीर्षक	पृ0सं0
01	भारत का प्रथम स्वाधीनता संघर्ष : कारण, प्रभाव और प्रकृति। First war of Independence: Causes, Impact & Nature	01
02	भारत में राष्ट्रवाद के उत्थान के लिए उत्तरदायी परिस्थितियॉ। Factors leading to the growth of Nationalism in India.	54
03	राष्ट्रवाद के सिद्धान्त : गॉधीजी और टैगोर के विचार। Theories of Nationalism : Views of Gandhi and Tagore.	80
04	उदारवादी चरण : उदारवादियों की विचारधारा, कार्यक्रम और नीतियॉ। Early Phase : The Ideology, Programme and policies of Moderates.	100
05	उग्र राष्ट्रवाद (1906–1918) का उदय और विकास Rise and Development of Radical Nationalism	135
06	स्वदेशी आन्दोलन और सूरत में कांग्रेस की फूट। Swadeshi Movement and Congress split at Surat.	167
07	मुस्लिम लीग का उदय : मॉगें और कार्यक्रम। Rise of Muslim League : Demands and Programme.	188
08	प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान राष्ट्रीय जागृति : लखनऊ समझौता और होमरूल आन्दोलन। National awakening during First World War : Lucknow Pact and Homerule Movement.	200

भारत का प्रथम स्वाधीनता संघर्ष : कारण, प्रभाव और प्रकृति।
First war of Independence: Causes, Impact & Nature

विषय–प्रवेश :

1857 में घटित वह घटना जिसे प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम, गदर क्रान्ति, सैनिक विद्रोह, ईसाईयों के विरूद्ध धर्मयुद्ध आदि की संज्ञा प्रदान की जाती है, लगभग 100 वर्षो से चले आ रहे ब्रिटिश सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा प्रशासनिक शोषण के खिलाफ भारतीय जनमानस में व्याप्त असन्तोष का परिणाम था। सहिष्णुता और शान्ति की बह रही जीवनधारा का छेडने का कार्य ब्रिटिश सरकार की उस प्रक्रिया ने किया था जिसपर चलकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी नींव मजबूत हो रही थी। ब्रिटिश सरकार की उन्ही अन्यायपूर्ण एवं दमनात्मक नीतियों के कारण भारतीय जनमानस में असन्तोष बढ रहा था जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जनता ने 1857 ई0 के पूर्व अनेंको बार विद्रोहों का प्रदर्शन किया था जिसका उल्लेख भारतीय गवर्नर जनरलों ने भारत सचिव को लिखे गये अपने अनेक पत्रों में किया है। इन विद्रोहो में प्रमुख थे– 1806 का बैलोर विद्रोह, 1824 का बैरकपुर का सैनिक विद्रोह आदि। यद्यपि इन विद्रोहो को दबा दिया गया किन्तु ये विद्रोह अंग्रेजो के विरूद्ध होने वाले विद्रोहो की श्रृंखला की एक महत्वपूर्ण कडी थे। दुर्भाग्य यह भी था कि अंग्रेजो ने इन विद्रोहो से कोई सबक नही लिया और 1857 में एक बार फिर वही गलती की जो 1806 के बैलोर विद्रोह के समय कर चुके थे। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि 1857 में चर्बीयुक्त कारतूसों का प्रयोग न किया जाता तो यह विद्रोह ही नही होता। तात्कालीन परिस्थितीयॉ इस प्रकार बन गई थी कि विद्रोह अवश्यंभावी था किन्तु चर्बीयुक्त कारतूस का प्रयोग न किया गया होता तो संभव यह था कि विद्रोह कुछ समय के स्थगित अवश्य हो जाता। वस्तुतः स्पष्ट है कि 1857 ई0 में ऐसी परिस्थितीयों ने जन्म लिया जिससे कि पहले से सुलग रही असन्तोष की अग्नि अचानक ज्वालामुखी की भॉति विस्फुटित होकर सम्पूर्ण भारत में फैल गयी।

क्रान्ति के कारण (Causes of Revolution)

अधिकांश युरोपीय इतिहासकार 1857 के विद्रोह का कारण चर्बीयुक्त कारतूसों को बताते है किन्तु आधुनिक भारतीय इतिहासकार इस मत से सहमत नही है। आधुनिक भारतीय इतिहासकारों के अनुसार– 1857 के विद्रोह के लिए अंग्रेजों की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, प्रशासनिक तथा सैन्य नीतियॉ जिम्मेदार थी। अंग्रेज जिस तरह से भारतीय जनता का शोषण कर रहे थे उसको ध्यान में रखते हुए 1857 के विद्रोह का अध्ययन करें तो कारण स्वतः स्पष्ट हो जाते है। अंग्रेजों की इन नीतियों के परिणामस्वरूप भारतीय जनता में असन्तोष निरन्तर बढ रहा था जो कि 1857 तक आते–आते अपनी चरम सीमा पर पहुॅच गयी। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार विपिन चन्द्र लिखते है कि– ''इस गड़बड़ी का कारण ब्रिटिश शासन की प्रकृति में तलाशना होगा जिसने सभी वर्गों या समाज के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला।''

(The reason of this Mess upsorts has to sought in the nature of the British rule which adversely effected the interests of all section or society)

इस प्रकार स्पष्ट है कि 1857 के विद्रोह के लिए किसी एक कारण को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता वरन् इसके लिए अनेक कारण सामूहिक रूप से उत्तरदायी थे–

आर्थिक कारण–

1857 के विद्रोह के लिए उत्तरदायी कारणों में आर्थिक कारण सर्वप्रमुख है। दरअसल, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में अपने पांव यहां के आर्थिक दोहन के उद्देश्य से ही रखे थे और शुरुआत से उनकी नीतियां इस प्रकार रहीं कि यहां की जनता और संसाधनों का हर प्रकार से अधिकाधिक शोषण तथा दोहन किया जा सके।

भारत के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य ठीक वही था जो व्यापारिक पूंजी की एकाधिकारी कम्पनियों का होता है– समुद्र पार के किसी देश के माल और विभिन्न उत्पादनों के व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करके लाभ कमाना। इसका उद्देश्य ब्रिटिश माल के लिये मंडियों की तलाश नहीं था बल्कि भारत के ऐसे सामान की आपूर्ति पर कब्ज़ा करना था जो इंग्लैंड और यूरोप के देशों में आसानी से बिक सकता हो।

कम्पनी भारत के साथ व्यापार पर एकाधिकार चाहती थी ताकि इसके साथ प्रतिस्पर्धा करने वाला कोई अन्य ब्रिटिश अथवा यूरोपीय व्यापारी कंपनी न हो। कम्पनी यह भी नहीं चाहती थी कि भारत में उसकी खरीदारी और यूरोप में बिक्री में कोई भारतीय व्यापारी भी उसके साथ प्रतिस्पर्धा बाद करे। राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने कम्पनी द्वारा विनिमय में पलड़ा भारी रखने के उद्देश्य से न्यूनतम कीमत पर अधिक बल माल हड़पने के लिये कई तरह प्रयोग के तरीके अपनाए जाने लगे। व्यापार और के बीच विभाजन–रेखा धुंधली लूट पड़ने लगी और भारतीय जनता में शोषण का नया अध्याय जुड़ गया जिसमें शोषण के नित नये–नये तरीके खोजे गए और जनता शनैः शनैः पिसती चली गईं।

अंग्रेज़ों ने राजनीतिक शक्ति प्राप्त के बाद पहला कार्य यह किया कि उन्होंने परंपरागत भारतीय ग्राम समाज व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। अंग्रेज़ों से पूर्व भूमि पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व नहीं था, बल्कि ज़मीन सम्पूर्ण ग्राम की होती थी। राजा और कृषक के मध्य सामन्त बिचौलिये की भूमिका निभाते थे। अंग्रेज़ों ने स्थायी बंदोबस्त के द्वारा जमींदारों तथा रैयतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत रैयत को भूमि का अब ज़मीन का स्वामी बना दिया। क्रय–विक्रय किया जा सकता था। लगान समय पर तथा नकद देने के लिये कृषि का वाणिज्यीकरण शुरू हुआ। यातायात के विस्तार ने ग्राम्य अर्थव्यवस्था को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एवं अंततः विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया। अंग्रेज़ शासन काल में भारतीय कृषि के राष्ट्रीय स्वरूप का जन्म तो हुआ, लेकिन इसका लाभ भारतीयों को नहीं मिल सका क्योंकि लगान अत्यधिक था। लगान के नकद भुगतान तथा निश्चित समय पर देने के लिये किसान को ऋण लेना पड़ता था। लेकिन किसानों के पास ऋण चुकाने के लिये धन नहीं था। अतः किसान फंसता चला गया और उनकी स्थिति निरंतर खराब होती चली गई।

ब्रिटिश सत्ता ने शासन का दुरुपयोग कर भारत के परम्परागत हस्तशिल्प तथा अन्य उद्योग–धंधों को नष्ट कर दिया। भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति का दोहरा उद्देश्य था।

एक ओर, भारत को ब्रिटेन ने अपने औद्योगिक उत्पादन का मंडी बनाया। दूसरे, ब्रिटेन के उद्योग के लिये भारत से सस्ता कच्चा माल उपलब्ध कराया तथा भारत को कृषि प्रधान देश के रूप में बदलने का प्रयास किया।

सैनिकों के क्षोभ का कारण केवल आहत धार्मिक भावनाएँ ही नहीं थीं। वे ख़राब सेवा शर्तों के कारण भी क्षुब्ध थे। वेतन मामूली सा था, उस पर भी उन्हें अंग्रेज़ सैनिकों के सापेक्ष हीन तथा अविश्वसनीय समझा जाता था। अंग्रेज़ सरकार के नये भू–राजस्व कानूनों ने भी सैनिकों को प्रभावित किया। इन कानूनों के खिलाफ सैनिकों की ओर से हज़ारों शिकायतपत्र दाखिल किए गए। वास्तव में ये सैनिक वर्दीधारी किसान ही थे, जिन्हें गांव की अर्थव्यवस्था से जुड़ा कोई भी कानून सीधे प्रभावित करता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत के स्थानीय समुदायों के स्थानीय उद्योग तथा सामाजिक ढांचे को तोड़कर ध्वस्त कर दिया। भारत में ब्रिटिश शासन की नीति शुरू से लेकर अंत तक एक सी नहीं रही। भारत का आर्थिक शोषण करने के लिये विभिन्न तरीके अपनाए गए। परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद विभिन्न चरणों से गुजरा। मुख्यतः इन चरणों में भारत के आर्थिक अधिशेष को हड़पने के विभिन्न तरीके अपनाये गये थे।

प्रथम चरण (1757–1813) – मुगल शासन के अंतिम दिनों से प्रारंभ होकर 19 वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक चला, जिसमें व्यापारी पूंजी ने प्रमुख भूमिका निभाई, इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी ने एकाधिकार व्यापार के उद्देश्य से आर्थिक लूट व प्रदेशों पर कब्ज़ा जमाने की नीति का पालन किया। इस चरण में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का मुख्य उद्देश्य भारत के साथ व्यापार तथा भारत की आर्थिक लूट था।

द्वितीय चरण – दूसरा चरण लगभग 1813 से आरंभ होकर 1857 तक चला जिसमें इंग्लैंड की मुक्त व्यापार पूंजी का महत्वपूर्ण भाग रहा।

सन् 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। व्यापारिक पूंजीवाद के इस युग में उपनिवेशवाद का रूप भी एकाधिकारी व्यापार का रूप था। 1757 ई0 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के उत्तर–पूर्वी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। प्लासी के युद्ध से पूर्व जहां इंग्लैण्ड को भार में वस्तुओं की खरीदारी के बदले सोना–चांदी जैसी कीमती धातुएं देनी पड़ती थीं, वहां 1757 के बाद इंग्लैंड से किसी भी कीमती धातु का आयात नहीं किया गया और कम्पनी द्वारा भारत से निर्यात किए जाने वाले माल के बदले में कुछ भी नहीं लौटाया गया। इस तरह प्रतिवर्ष भारत के माल तथा संपत्ति–साधनों का दोहन होता रहा जिसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड अमीर और भारत गरीब होता गया। कम्पनी को भारत में बने रहने के लिये अपार धन की आवश्यकता थी। करों को निरंतर बढ़ाकर कम्पनी ने भारत विजय का सारा व्यय भारतीयों से ही वसूल किया।

आर्थिक साम्राज्यवाद के पहले चरण में प्रशासन, न्याय प्रणाली, यातायात, संचार खेती और औद्योगिक उत्पादन, व्यावसायिक प्रबन्ध या आर्थिक संगठन के क्षेत्रों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किए गए। प्रशासन में जो न्यूनतम सुधार हुए उनका उद्देश्य राजस्व वसूली करना था। इस अवस्था में ब्रिटिश शासन और पारम्परिक भारतीय शासन में कोई मौलिक भेद नहीं था। मुगल, मराठा या सिक्ख शासकों की तरह ब्रिटिश शासकों का उद्देश्य भी अधिक से अधिक कर वसूल करना था। यह कार्य अंग्रेज़ों ने अपने पूर्ववर्ती भारतीय

शासकों की तुलना में अधिक निपुणता से किया। फलतः भारत की जनता का अधिक मात्रा में शोषण भी किया।

इस पहले चरण के शासन के परिणाम भारत के दृष्टिकोण से बड़े ही हानिकारक रहे। भारतीय हस्तकला तथा व्यापार पर ब्रिटिश नियंत्रण के कारण भारतीयों के उत्पादन तथा व्यापारिक परियोजनाओं को हड़प लिया गया। शिल्पकारों को जबरदस्ती दी जाने वाली मज़दूरी भी इतनी कम थी कि कई बार उन्हें न्यूनतम जीवन निर्वाह योग्य नहीं दी जाती थी। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय धन का एकमात्र स्रोत कृषि रह गया और अधिकतर जनसंख्या कृषि पर निर्भर रहने लगी। यहां भी लगान की राशि प्रत्येक वर्ष बढ़ती ही नहीं ही बल्कि लगान को निर्दयतापूर्वक वसूल भी किया गया। इसके अलावा जहां मुगल शासन में कर और लगान की रकम भारत में ही खर्च होकर पुनः लोगों तक पहुंच जाती थी जिससे व्यापार और उद्योग फलते–फूलते रहते थे, वहां कम्पनी द्वारा वसूल की गई और लगान की राशि वस्तुओं और कीमती धातुओं के माध्यम से इंग्लैंड और यूरोप में निर्यात कर दी जाती थी। कंपनी लगान से प्राप्त धन द्वारा भारत में व्यापारिक वस्तुएं खरीदती थी और इंग्लैंड और यूरोप में बेचकर लाभ कमाती थी। अतः भारत की लूट इंग्लैंड में पूंजी–संचय का परोक्ष स्रोत थी जिसने इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का लगभग 2 प्रतिशत हिस्सा भारत से प्राप्त होने वाली आय या खिराज था। 18वीं शताब्दी के अंत तक कंपनी ने इंग्लैंड को एक समृद्ध और शक्तिशाली साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया था।

आर0 सी0 दत्त ने भारतीय शिल्प उद्योग को जड़ से उखाड़ फेंकने पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि– "भारतीय उत्पादकों के साथ जोर–जबरदस्ती करने की योजनाबद्ध नीति थी कि वे अपना माल कंपनी के सिवाय किसी और को न बेचें और कंपनी को भी वे स्वयं कंपनी द्वारा निर्धारित कीमत पर बेचें। इंग्लैंड में बनी मशीनी वस्तुओं (जिन्हें राजनीतिक तथा सैनिक सत्ता का समर्थन प्राप्त था) द्वारा उत्पन्न की गई प्रतिस्पर्धा, भारत में बुनकरों के अंगूठे काटकर उनका शारीरिक विनाश, भारतीय वस्तुओं के विरुद्ध इंग्लैंड की वस्तुओं को केवल व्यापारिक चरण में ही नहीं बल्कि मुक्त–व्यापार के चरण में भी संरक्षण आदि ने भारत की अर्थव्यवस्था को बेरहमी से नष्ट किया तथा भारत की राजनीतिक दासता को मजबूत किया। कंपनी के 50 वर्ष के शासन में अर्थात 1810 ई. तक बंगाल जैसा समृद्ध और खुशहाल प्रांत बीमारी, अकाल, न्यूनपोषण, महामारी आदि की वजह से मानो मुर्दाघर में बदल चुका था। "

ईस्ट इंडिया कंपनी जब भारत में एक प्रादेशिक शक्ति बनी, वैसे ही इंग्लैंड में इस सवाल को लेकर एक तीव्र संघर्ष छिड़ गया कि भारतीय उपनिवेश किसके हितों या स्वार्थों की पूर्ति करेगा। ब्रिटेन के उभरते हुए नये औद्योगिक वर्ग ने 1813 ई. में कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करके मुक्त व्यापार के द्वार खोल दिए जिसके परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का दूसरा चरण (1813–1857) आरंभ हुआ। भारत की लूट से संचित पूंजी ने इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

अतः ब्रिटिश उपनिवेशवाद अब भारत का उपयोग ब्रिटेन की मशीन निर्मित वस्तुओं के एक बाज़ार के रूप में तथा ब्रिटेन पर आश्रित एक ऐसे उपनिवेश के रूप में करना चाहता था जो ब्रिटिश उद्योगों के लिये कच्चे माल और खाद्यान्नों का उत्पादन एवं पूर्ति

करे। सन् 1813 के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीति इस उद्देश्य की पूर्ति में जुट गई। 1813 के बाद मुक्त व्यापार का सबसे पहला प्रहार भारत के सूती कपड़ा तथा हथकरघा उद्योग पर हुआ जो भारतीय समृद्धि का मुख्य आधार था। ब्रिटिश सूती कपड़ा उद्योग को विकसित करने के लिये भारतीय निर्माताओं के साथ सीमा शुल्क में भेदभाव का सिलसिला शुरू किया गया। भारत में आयात होने वाले ब्रिटिश सूती तथा रेशमी कपड़ों पर जहां 3 से 5 प्रतिशत कर देना पड़ता था वहां ब्रिटेन को निर्यात किए जाने वाले भारतीय सूती कपड़ों पर 1 प्रतिशत, रेशमी कपड़ों पर 20 प्रतिशत और ऊनी कपड़ों पर 30 प्रतिशत कर देना पड़ता था। इसके चलते सन् 1850 तक स्थिति ऐसी हो गई थी कि भारत, जो कई सौ वर्षो से समूची दुनिया को कपड़ा भेजता आ रहा था, अब निर्यात किए जाने वाले कुल ब्रिटिश सूती कपड़े का एक चौथाई हिस्सा अपने यहां मंगाने लगा। इंग्लैंड के मशीन से बने कपड़ों ने जहां भारत के बुनकरों को बरबाद किया वहीं दूसरी तरफ मशीन से बने सूत ने सूत कातने वालों को उजाड़ दिया। सूती कपड़े के अलावा रेशमी कपड़ों, ऊनी कपड़ों, लोहे, बर्तन, कांच तथा कागज़ आदि के मामलों में भी यही हालत हुई। देश में बने पीतल और तांबे के बर्तनों के स्थान पर यूरोप से आयात किए जाने वाले कलईदार बर्तन और अल्यूमिनियम के सामान का प्रयोग होने लगा। जिन–जिन क्षेत्रों में रेलें पहुंचनी शुरू हुईं, वहां सस्ता विदेशी लोहा और इस्पात पहुंचाया गया जिससे लोहा गलाने वाले देशी उद्योग वस्तुतः समाप्त ही हो गए। इस तरह शहरों और गांवों, दोनों स्थानों में रहने वाले लाखों शिल्पियों और कारीगरों, सूत कातने वालों, बुनकरों, कुम्हारों, लोहा गलाने वालों तथा लोहारों के सामने खेती करने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं बचा तथा भारत, जो कृषि और उद्योग की मिली–जुली पद्धति वाला देश था, अब जबरन ब्रिटेन के औद्योगिक पूंजीवाद का कृषिप्रधान उपनिवेश बना दिया गया।

इस चरण में भारत द्वारा इंग्लैंड को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में तीव्र वृद्धि हुई परंतु इस वृद्धि की प्रकृति सर्वथा भिन्न थी। भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में अब कच्चे माल का स्थान प्रमुख हो गया, जैसे– रुई, नील, अफीम, जूट, तिलहन, खालें, कॉफी, चाय आदि। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात थी भारत की ज़रूरतों की अवज्ञा और यहां की जनसंख्या को भूखा मारते हुए खाद्यान्नों के निर्यात में बढ़ोतरी। 1849 ई0 में 8.5 लाख पौंड से अधिक कीमत का अनाज निर्यात किया गया जिसमें चावल और गेहूं मुख्य थे। बागानों में वृद्धि, अफीम की बंधुआ मजदूरी तथा रुई के अधिक उत्पादन का भी खाद्यान्नों के उत्पादन पर असर पड़ा। खाद्यान्नों के निर्यात के परिणामस्वरूप भारत में अकाल की परिस्थितियां पैदा हो गईं। 19वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में भारत में 7 अकाल पड़े जिनमें अनुमानतः 15 लाख लोग काल के ग्रास बने।

भारत को आयात की जाने वाली सभी वस्तुओं की अदायगी करनी होती थी। कम्पनी के हिस्सेदारों को हिस्सा भी देना होता था, अवकाशप्राप्त सैनिकों और नागरिक कर्मचारियों को पेंशन देनी होती थी, ब्रिटिश व्यापारियों और बागानों के मालिकों को दिया जाने वाला लाभांश भी भारत से जाता था, भारत में लगाई गई ब्रिटिश पूँजी पर लाभांश भी देना पड़ता था। इन सभी तत्वों ने मिलकर आम नागरिक की क्रयशक्ति को काफी कम कर दिया। ऊपर से हस्तकला उद्योग का विनाश, आंतरिक व्यापार से भारतीय व्यापारियों का दिन–प्रतिदिन वंचित किया जाना, भारतीय जमींदारों द्वारा लूट, लगान की भारी मात्रा

आदि कुछ ऐसे अन्य तत्व थे जिनसे भारत में खाद्यान्नों के उत्पादन में लगातार गिरावट आती रही। इंग्लैंड में जहां हथकरघा उद्योग के विनाश का स्थान नये मशीनी उद्योगों ने ले लिया, वहां भारत में दस्तकारों और बुनकरों के विनाश का स्थान किसी अन्य उद्योग ने नहीं लिया।

वस्तुतः इस दूसरे चरण में भी उपनिवेशवाद द्वारा अतिरिक्त धन के अपहरण के पुराने तरीके बंद नहीं हुए। कम्पनी के लाभों का भुगतान जारी रहा। भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित करने के लिये तथा युद्धों के खर्च को पूरा करने के लिये लोक ऋण का भुगतान कर भारतीय राजस्व पर सीधा डाका डाला गया। भारत में नियुक्त अंग्रेज अधिकारियों को वेतन और पेंशनें देकर भी सीधी लूट की मिसाल पेश की गई।

कम्पनी तथा ब्रिटिश पूंजीपतियों ने मिलकर भारत के उद्योग–धंधों तथा व्यापार को नष्ट कर दिया और भारतीय वस्तुओं को यूरोप के बाज़ारों से निष्कासित कर दिया। करघा और चरखा पुराने भारतीय समाज की धुरी थी। अंग्रेज़ों ने भारतीय करघे को तोड़ डाला, चरखे को नष्ट कर दिया और भारत को, जो 'कपड़े का घर' कहलाता था, विदेशी कपड़ों से भर दिया। भारत की उत्पादन व्यवस्था को तहस–नहस कर दिया गया और वह देश, जो किसी समय अपनी समृद्धि के लिये सारे संसार में मशहूर था, उसे गरीबी, बीमारी, भुखमरी और अकाल का घर बना दिया। भारत का आर्थिक विकास विदेशी शोषणकारी व्यवस्था का एक भाग मात्र बनकर रह गया। अंग्रेज़ों का मुख्य सिद्धांत संपूर्ण भारत को प्रत्येक संभावित तरीके से अंग्रेजों के लाभ हेतु ताबेदार बनाना था। इस चरण ने भारत को बाजार और एक निर्भर उपनिवेश के तौर पर आगामी शोषण के लिये एक आधारशिला भी तैयार की।

अंततः अंग्रेज़ों की निरंतर आर्थिक शोषण की नीतियों ने जनसाधारण को अत्यधिक प्रभावित किया तथा धीरे–धीरे उनमें असंतोष की भावना बढ़ती चली गई। भारत अंग्रेज़ों का उपनिवेश था, जिससे अधिक–से–अधिक लाभ उठाना उनका ध्येय था। अंग्रेजों द्वारा लागू की जाने वाली नीतियां भी इसी उद्देश्य से प्रेरित होती थीं, जिनसे जनता का शोषण किया जाता था। अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार, वाणिज्य और उद्योग–धंधों को तो बर्बाद किया ही, अपनी भूमि संबंधी नीतियों से भारतीय किसानों को भी भुखमरी के कगार पर ला खड़ा किया। सरकार ने अनेक ताल्लुकेदारों तथा वंशानुगत भूमिपतियों को उनके अधिकारों व भूमि से वंचित कर दिया। कर–मुक्त भूमि को भी सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया। वायसराय लॉर्ड डलहौजी के समय में इस ओर विशेष कदम उठाए गए तथा हजारों व्यक्ति भूमिहीन हो गए। भारतीय किसान भी निरन्तर करों के बोझ से दबे रहे। 1824 तक कुल उपज का 55 प्रतिशत सरकारी कर के रूप में देने के लिये कहा गया, जिससे किसान खेती छोड़कर भागने लगे तथा अनेक क्षेत्रों में खेती बंद हो गई। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में किसानों की हालत भिखमंगों जैसी हो गई थी। सन् 1835 में यद्यपि भूमि कर को कुछ कम किया गया, परंतु इससे भी किसानों की स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। अंग्रेज़ी आर्थिक नीतियों ने भारतीय किसानों का जीवन नर्क बना दिया था, अतः उनके पास अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं बचा था। इतिहासकार ताराचंद का भी इस विषय में मानना है कि अंग्रेजों की भूमि कर नीति 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के लिये उत्तरदायी थी। ताराचंद के अनुसार, "यह सत्य है कि ब्रिटिश शासन के प्रति सारे देश में असंतोष था, फिर भी यह सत्य है कि

भारत के कुछ भागों में विद्रोह की भावना दूसरे भागों से प्रबल थीं। यह अंतर मुख्य रूप से भूमि व्यवस्था के अंतर के कारण था। जहां ज़मींदारी व्यवस्था थी और समय–समय पर बंदोबस्त होता था तथा सरकारी कर बढ़ा दिया जाता था, वहां ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने की इच्छा आर्थिक परेशानियों के कारण प्रबल हो गई थी। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में भारत में सात बार अकाल पड़े जिससे 15 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। इससे किसानों की दशा और भी शोचनीय हो गई, किंतु सरकार ने इनकी स्थिति में सुधार लाने की बजाय इनका शोषण जारी रखा। अतः ये विद्रोह करने के लिये विवश हुए।

निश्चित ही 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम केवल सिपाहियों का विद्रोह नहीं था बल्कि यह ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विस्तार तथा भारतीय रियासतों के अधिकाधिक क्षेत्रों को अपने राज्य में मिलाने, कम्पनी के अधिकारियों के उत्पीड़क लगान व्यवस्था तथा भारतीय हस्तकला उद्योग के विनाश का सीधा परिणाम था। वे राजा और नवाब, जिनकी जमीन और रियासतें कम्पनी ने अपने कब्जे में कर ली थीं तथा वे सारे स्थानीय सूबेदार जिन्हें कम्पनी ने लगान उगाहने के अधिकार से वंचित कर दिया था, अपने अधिकार वापस लेना चाहते थे। ब्रिटिश उपनिवेशवाद का सबसे बड़ा शिकार काश्तकार वर्ग, अपनी यातनाओं से मुक्ति प्राप्त करना चाहता था। चीनी मिलों और नील के बागानों में काम करने वाले मज़दूर विदेशी प्रभुत्व से तंग आ चुके थे। भारत के कुछ भागों में एक विशेष समय पर ये सारे तत्व एक साथ मिल गए और कम्पनी को एक शक्तिशाली संगठन का सामना करना पड़ा।

धार्मिक और सामाजिक कारण–

अंग्रेजों द्वारा भारत में प्राचीन समय से चली आ रही सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं पर ऐसे बदलाव किये गए, जिससे कुछ रूढ़ीवादी भारतीयों में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न होने लग गया था। जैसे लार्ड विलियम बेंटिक ने अपने कार्यकाल में सती प्रथा को बंद करवाया था और लार्ड कैनिंग के द्वारा उनके कार्यकाल के समय विधवा पुनर्विवाह को बढ़ावा दिया गया था और इसके साथ–साथ बाल विवाह जैसी प्रथाओं पर भी अंग्रेजों द्वारा अंकुश लगाया गया था। अंग्रेजों के इन सामाजिक बदलावों से रूढ़ीवादी लोगों में आक्रोश उत्पन्न हुआ क्योंकि उनके हिसाब से यह बदलाव उनकी प्राचीन काल से चली आ रही प्रथाओं पर पाबंदियां लगा रहे थे।

अंग्रेज भारतीयों को सदैव हेय दृष्टि से देखते थे। उनका मानना था कि भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मो से उनका धर्म श्रेष्ठ है। चार्टर ऐक्ट, 1813 के द्वारा ईसाई मिशनरीयों को भारत में धर्मप्रचार करने की अनुमति प्राप्त हो गयी। इन मिशनरियों ने सम्पूर्ण भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया जिसके लिए उन्होने लोगों को भारतीय धर्मो के दोष तथा ईसाई धर्म के गुण की ओर ध्यान आकर्षित किया। अपने धर्म के प्रचार के लिए इन मिशनरियों ने भारत के विभिन्न भू–भाग में विद्यालयों की स्थापना भी की जिनका उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा भारतीयों को ईसाई धर्म का अनुयायी बनाना था। अतः मिशनरी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी तथा इनमें ईसाई धर्म की सर्वोच्चता का पाठ पढाया जाता था। अतः भारतीयों को अपना धर्म संकट में दिखाई पडने लगा। इसी समय यह अफवाह फैली कि ब्रिटिश सरकार ईसाई मिशनरियों के साथ

मिलकर भारतीयों का धर्म परिवर्तन करा रही है। इन सभी कारणों से भारतीय अत्यन्त भयभीत हो गये और अपने धर्म की सुरक्षा के लिए अंग्रेजों के विरूद्ध हथियार उठाने का विवश हुए। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार विपिन चन्द्र ने लिखा है कि– ईसाई धर्म में रूपांतरण को बढ़ावा देने के लिए सरकारी रहस्यों के बारे में अफवाह ने सिपाहियों को और अधिक परेशान कर दिया। अधिकारी मिशनरी गठजोड़ ने अफवाहों को बल दिया।

(The trumor about the government secrets to promot conversion to Christianality further exasperated the Sepoy. The officer missionary nexus gave credence to the Rumors.)

इस समय अंग्रेजों ने कुछ ऐसे कार्य भी किये जिससे हिन्दु–मुस्लिम की धार्मिक भावना भडक उठी। उदाहरणार्थ– सतीप्रथा निषेध, विधवा पुनर्विवाह, विभिन्न कैदियों को एक साथ खाना देना आदि अनेक ऐसे कार्य थे जिसको भारतीयों ने अपने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप समझा। अतः अपने धर्म की रक्षा के लिए वे संघर्ष करने को तैयार हो उठे। अंग्रेज भारतीयों के साथ सामाजिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त अभद्र व्यवहार करते थे। उन्होने अंग्रेजों के लिए अलग–अलग सडके बनवाई थी जिसपर भारतीयों का चलना प्रतिबन्धित था, क्लब और रेस्टोरेण्ट अलग थे तथा इसके साथ सबसे खराब बात यह थी कि वे भारतीयों से अत्यन्त अभद्र भाषा में वार्तालाप करते थे। अंग्रेज लेखको ने स्वयं स्वीकारा है कि भारत में रहने वाले अंग्रेज भारतीयों के साथ गन्दी भाषा का प्रयोग करते थे जिसको किसी भी सभ्य जाति के लिए सहना कठिन था। उदाहरणस्वरूप मुनरो ने लिखा है कि– ''किसी ने इसके पहले सारी जाति को विश्वास के अयोग्य और बेईमान नही समझा था, हम उन्हे नीची जाति का समझते है तथा हम ही उन्हे इस पतित अवस्था में पहुँचाते है और फिर उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते है।''

भारतीय जो कि आर्थिक शोषण और धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप के कारण पहले से ही आहत थे उनके साथ जब इस प्रकार दुर्व्यवहार किया गया तो उनकी सब्र की सीमा टूट गयी और वे अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह पर उतर आये।

राजनीतिक और प्रशासनिक कारण –

1857 के विद्रोह के लिए राजनीतिक कारण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारत उस समय छोटे–छोटे राज्यों में बॅटा था और अंग्रेजों का यह निरन्तर प्रयास था कि वे भारत के अधिकाधिक भू–भाग पर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना करें। भारत के इन क्षेत्रों पर कब्जा करने के लिए अंग्रेज छल, ताकत, कूटनीति किसी भी तरीको को अपनाने से नही चूकते थे। किसी न किसी बहाने वे एक–एक करके इन राज्यों पर कब्जा करना चाहते थे। 1848 में जब लार्ड डलहौजी भारत का गवर्नर जनरल बना तो उसने और भी तीव्र गति से इस कार्य को आगे बढाया। लार्ड डलहौजी एक साम्राज्यवादी शासक था जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण भारत पर कब्जा करना था। अतः लार्ड डलहौजी ने भी अनेक भारतीय राज्यों पर शक्ति के द्वारा अधिकार किया तथा कुछ अन्य राज्यों पर कब्जा करने के लिए 'गोद निषेध का सिद्धान्त' लागू कर दिया। इसके तहत् यह घोषणा की गई कि जिन राज्यों या रियासतों के राजाओं या शासकों के पुत्र नही है उनकी मृत्यु के पश्चात उनके राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन मिला लिया जाएगा। ऐसे राजाओं को पुत्र गोद लेने की अनुमति नही दी गयी। इस नीति के द्वारा लार्ड डलहौजी ने अनेक राज्यों पर

अधिकार कर लिया। उदाहरण के रूप में – सतारा, झॉसी, नागपुर, जैतपुर, सम्भलपुर, उदयपुर आदि का नाम लिया जा सकता है। लार्ड डलहौजी की इस नीति से समस्त देशी रियासतों में घबडाहट फैल गई और भारतीय रियासतों की स्वतन्त्रता खतरे में दिखाई पडने लगी। लार्ड डलहौजी को इतने पर भी सन्तोष नही हुआ तथा उसने अवध पर भी अधिकार करने की चेष्टा की क्योंकि वह न केवल एक सम्पन्न राज्य था वरन् राजनीतिक दृष्टिकोण से भी उसकी स्थिती महत्वपूर्ण थी। जब लार्ड डलहौजी को अवध पर कब्जा करने का कोई भी बहाना नही मिला तो उसने अवध के नवाब पर कुशासन का आरोप लगाया। उसकी दृष्टि में अवध की प्रशासनिक व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी जिससे वहॉ की जनता को अपार कष्टों का सामना करना पडता था। अतः इस मिथ्या आरोप को आधार मानते हुए उसने 23 फरवरी 1856 ई0 को अवध पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। यहॉ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अवध के नवाब नवाब वाजिद अली शाह के अंग्रेजी साम्राज्य से अत्यन्त मधुर सम्बन्ध थे। फिर भी लार्ड डलहौजी ने अवध पर झूठा आरोप लगाकर कब्जा कर लिया। इस कार्य से अन्य भारतीय रियासतों को यह स्पष्ट हो गया कि वे अंग्रेजों के साथ मधुर सम्बन्ध होने पर भी उनके साम्राज्य को खतरा है। लार्ड डलहौजी ने अपने इस कार्य को सही बताते हुए कहा था कि– ''ईश्वर तथा मनुष्य दोनो की दृष्टि में ब्रिटिश सरकार गुनहगार होती यदि वह ऐसे कुशासन को जारी रखने में हाथ बटाती जिससे लाखों लोगो को कष्ट पहुॅचता हो।''

1857 के विद्रोह के लिए अनेक प्रशासनीक कारण भी उत्तरदायी थे। अंग्रेजों की प्रशासनिक व्यवस्था में अनेक दोष थे जिसके कारण भारतीयों को अपार कष्ट होता था। अतः इन दोषों का निराकरण किया जाना आवश्यक था। उदाहरणस्वरूप– यह अत्यन्त हास्यास्पद था कि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में भारतीयों का कोई प्रतिनिधित्व नही था। भारतीय लम्बे समय से इस बात की मॉग कर रहे थे कि प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सभाओं में भारतीयों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए ताकि भारतीय अपनी समस्याओं को सरकार के समक्ष प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर सके लेकिन अंग्रेजों ने कभी इस ओर ध्यान ही नही दिया। तात्कालीन कर व्यवस्था भी अत्यन्त दोषपूर्ण थी एवं राजस्व बोर्ड का मुख्यालय कलकत्ता में था। जहॉ तक न्याय प्राप्त करने का प्रश्न था एक साधारण किसान के लिए यह संभव न था कि वह राजस्व मुकदमों की पैरवी हेतु कलकत्ता जाये। अतः गलत भूमि कर लगाने के बाद भी एक किसान के समक्ष इसके अतिरिक्त कोई चारा नही था कि चुपचाप वे इस कर को चुकाये। यही स्थिती न्याय व्यवस्था की भी थी। न्याय प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण थी जिसके कारण गरीबों को न्याय मिलना अत्यन्त कठिन था। सवोच्च न्यायालय कलकत्ता में था जहॉ एक साधारण व्यक्ति के लिए पहुॅचना संभव नही था। इसके अतिरिक्त अन्य दोष भी थे– जैसे न्याय मिलने में देरी होती थी तथा न्याय प्रणाली अत्यधिक खर्चीली थी। ऐसी स्थिती में जबकि भारतीय प्रत्येक दृष्टिकोण से परेशान थे तथा निरन्तर प्रशासनिक सुधारों की मॉग कर रहे थे, अंग्रेजी सरकार द्वारा उनकी मॉगों पर कोई ध्यान न दिये जाने के कारण आक्रोश उत्पन्न होना स्वाभाविक था। यही आक्रोश 1857 के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ।

सैनिक कारण–

अंग्रेजों ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर की थी और इसी के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में कायम रखना चाहते थे।

अंग्रेजों के लिए यह संभव नही था कि अपनी सेना में केवल अंग्रेज सैनिको को रखे अतः उन्हे बडी संख्या में भारतीय सैनिकों को भी अपनी सेना में भर्ती करना पडता था। अंग्रेजों को यह चाहिए था कि वे अपने सैनिकों को प्रसन्न रखे क्योंकि सेना के बिना भारत में ब्रिटिश शासन कायम नही रखा जा सकता था परन्तु अंग्रेजों ने ऐसा नही किया। अंग्रेजों द्वारा उनकी सेना में भारतीय सैनिकों से भेदभाव किया जाता था, जैसे की उनके रहन–सहन, उनके वेतन, उनके पदोन्नति में अंग्रेजों द्वारा भेदभाव किया जाता था। भारतीय और अंग्रेज सैनिकों का अनुपात 5:1 का था। अंग्रेजों द्वारा भारतीय सैनिकों पर जबरदस्ती अपनी आवश्यकताओं के अनुसार चीजें थोप दी जाती थी, जो भारतीय सैनिकों के परंपरा के विरुद्ध होती थी, जैसे की उस समय यह माना जाता था की यदि कोई समुद्र को पार कर लेता था तो उसे अछूत मान लिया जाता था और अंग्रेजों द्वारा जबरदस्ती भारतीय सैनिकों को समुद्र पार करवा कर अभियानों के लिए भेजा जाता था। इसके साथ–साथ भारतीय सैनिकों को दाढ़ी और मूछ रखने पर भी पाबंदिया लगा दी गई थी। कम्पनी की सैनिक छावनियों में इस प्रकार की सेवा शर्तो से मुख्यतः वर्तमान उत्तर प्रदेश में आने वाली ऊँची जातियों के हिन्दू सिपाहियों के धार्मिक विश्वासों और पूर्वाग्रहों को ठेस पहुँचती थी। 1854 में डाकघर अधिनियम के तहत भारतीय सैनिकों की मुफ्त पत्राचार व्यवस्था पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया था। भारतीय सैनिकों की स्थिती अत्यन्त खराब थी, उनके लिए पदोन्नति के अवसर बहुत ही कम थे, भारतीय तथा अंग्रेज सैनिकों के वेतन में भारी अन्तर था। पैदल सेना के सिपाही को 7 रूपये मिलते थे और घुड़सवार सेना के सिपाही को 27 रूपये लेकिन इसी में से उसे अपनी वर्दी, भोजन इत्यादि पर भी खर्च करना पड़ता था। समूचे खर्च के बाद मुश्किल से 1 या 2 रूपये बचते थे।

टी0आर0होम्स ने लिखा है कि– '' सिपाही जानता था कि वह चाहे जितनी कर्तव्यनिष्ठा दिखाये, चाहे जितना बहादुर सैनिक बन जाये, उसे अंग्रेज सैनिक के बराबर वेतन कभी नहीं मिलेगा। 30 वर्ष की कर्तव्यनिष्ठ सेवा भी उसे अंग्रेज अफसर का मातहत होने से बचा नही सकेगी।''

वास्तव में ये सिपाही सैनिक वर्दी में किसान थे जो अबतक गॉव की मिट्टी से जुडे थे। अंग्रजों के नए भू–राजस्व कानून ने सैनिकों को बहुत प्रभावित किया था। इस प्रकार भारतीय सिपाही खराब सेवा शर्तो के कारण क्षुब्ध थे। इतना ही नही अंग्रेज सैनिक भारतीय सैनिको के साथ अभद्र व्यवहार करते थे तथा उन्हे हब्सी (Nigger) कहा करते थे। इसी कारण भारतीय सेना ने समय–समय पर अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह किया था जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण बैलोर का विद्रोह है। इन्हीं सब कारणों की वजह से भारतीय सैनिकों में अंग्रेजों के विरुद्ध असन्तोष की भावना बलवती होती गई जो कालान्तर में विद्रोह का कारण बनी।

तात्कालीक कारण –

चर्बीयुक्त कारतूस का प्रयोग 1857 की क्रान्ति का तात्कालीक कारण बना। 1857 में अंग्रेजो ने भारतीय सैनिकों से चर्बीयुक्त कारतूस का प्रयोग करने के लिए कहा जिसमें गाय और सूअर की चर्बी लगी थी और जिसे मुँह से खोलना पडता था। इससे पूर्व अंग्रेजों द्वारा सेना से ब्राउन बेस नामक बन्दूक को हटाकर एक एनफील्ड राइफल को

दिसंबर, 1856 में शामिल किया गया था। जनवरी, 1857 में सेना में यह बात फैलने लग गयी थी की इस एनफील्ड राइफल की गोली में गाय और सुअर की चर्बी का प्रयोग किया जा रहा है। भारतीय सैनिकों द्वारा इस एनफील्ड राइफल का प्रयोग करने से मना किया गया और धीरे–धीरे सारी सेना में यह आक्रोश फैलता चला गया।

सबसे पहले जनवरी, 1857 में बंगाल के दमदम क्षेत्र में सैनिकों में इस खबर का प्रसार हुआ कि एनफील्ड राइफल में चर्बीदार कारतूस का प्रयोग हो रहा है। इसके बाद फरवरी, 1857 में बंगाल के बहरामपुर क्षेत्र में सैनिकों में यह खबर फैली थी। इसके बाद 29 मार्च, 1857 को यह खबर बंगाल के बैरकपुर छावनी में सैनिकों के बीच फैल गई जिसके कारण बैरकपुर छावनी में 34वीं नेटिव इन्फेंट्री के सिपाही मंगल पाण्डेय द्वारा इस चर्बीदार कारतूस के प्रयोग से इनकार कर दिया गया। चर्बीयुक्त कारतूस के प्रयोग के सन्दर्भ में मैडले (Madley) ने लिखा है कि – ''वास्तव में, चर्बी वाले कारतूस ने केवल उस माचिस की तरह कार्य किया जिसने खदान में विस्फोट किया था जो विभिन्न कारणों से लंबे समय से तैयार हो रहा था।''

(In fact, the Greased cortridge cause merely the Match that exploded the mine which had owing to a variety of causes been for a long time preparing.)

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में मंगल पाण्डेय का नाम तो सभी लोग जानते है परन्तु वास्तविकता यह है कि इसकी पटकथा एक दलित मातादीन ने लिखी थी। मंगल पाण्डेय क्रांति के शोले थे तो मातादीन उसकी प्रथम चिंगारी थे। वास्तव में बैरकपुर छावनी में कारतूस बनाने का एक कारखाना था जिसमें बहुत से दलित वर्ग के व्यक्ति कार्य करते थे। इसी जाति के एक व्यक्ति मातादीन को जब प्यास लगी तो उसने एक सैनिक से लोटा मॉगा। वह सैनिक एक ब्राह्मण मंगल पाण्डेय था। लेकिन नीच जाति का होने के कारण मंगल पाण्डेय ने लोटा देने से इनकार कर दिया। स्वयं को अपमानित महसूस करते हुये मातादीन ने कहा – बडा आया ब्राह्मण का बेटा ! जिन कारतूसों का तुम प्रयोग करते हो उनपर गाय व सूअर की चर्बी लगाई जाती है और उन्हे तुम अपने दॉतों से तोडकर बन्दूक में भरते हो, उस समय तुम्हारा ब्राह्मणत्व और धर्म कहॉ चला जाता है ? क्या किसी प्यासे व्यक्ति को पानी पीने के लिए लोटा देने से तुम्हारा धर्म भ्रष्ट हो जाएगा ? धिक्कार है तुम्हारे ब्राह्मणत्व को !

मातादीन ने अपनी बातों से हिन्दुस्तानी सिपाहियों की ऑखें खोल दी तथा क्रांति के लिए प्रथम चिंगारी सैनिक छावनी में फेंक दी। तत्पश्चात इसी बात को लेकर मंगल पाण्डेय अपने सैन्य अफसरों से उलझ पडा। 29 मार्च, 1857 ई0 को मंगल पांडे नाम के इस सैनिक ने 'बैरकपुर छावनी' में अपने अफसरों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, लेकिन ब्रिटिश सैन्य अधिकारियों ने इस सैनिक विद्रोह को सरलता से नियंत्रित कर लिया और साथ ही उसकी बटालियन 34वीं नेटिव इन्फेंट्री को भंग कर दिया। मंगल पांडेय द्वारा इस चर्बीयुक्त कारतूस के बहिष्कार करने के क्रम में दो अंग्रेजी अधिकारी लेफ्टिनेंट बाग और सार्जेंट ह्यूसन की गोली मारकर हत्या कर दी गई। परिणामस्वरूप अंग्रेजों द्वारा मंगल पांडेय को बन्दी बना लिया गया और 8 अप्रैल, 1857 को अंग्रेजों द्वारा मंगल पाण्डेय को उसकी पलटन के सम्मुख फॉसी दे दी गई। मंगल पाण्डेय को फॉसी दिये जाने के बाद

भारतीय सैनिकों में आक्रोश बढ़ता चला गया और धीरे–धीरे यह आक्रोश भारत के पूर्वी भाग से लेकर उत्तर भारत और मध्य भारत तक विस्तारित होता गया।

विद्रोह की घटनाएँ –

अंग्रेजो ने यथासंभव यह प्रयत्न किया कि मंगल पाण्डेय को फॉसी दिये जाने की खबर का प्रचार न होने पाये किन्तु शीध्र ही यह खबर सम्पूर्ण भारत में फैल गई। 24 अप्रैल को 3 एल0सी0 परेड मेरठ में 90 घुड़सवारों में से 85 सैनिकों ने नए कारतूस लेने से इंकार कर दिया। आज्ञा की अवहेलना के कारण इन 85 घुड़सवारों को कोर्ट मार्शल द्वारा 5 वर्ष का कारावास दिया गया। अंग्रेज अफसरों को इस समय शायद संकट का भान नहीं था। सिपाही पुराने कारतूसों का प्रयोग करने से क्यों इनकार कर रहे हैं इसे राजनीतिक नजरिए से देखा नहीं गया। हर तरफ से यही तर्क दिया जा रहा था कि दरअसल इसके पीछे सिपाहियों की जाति, धर्म व मूल के पूर्वाग्रह काम कर रहे हैं। उस समय माना गया कि मेरठ का विद्रोह पुराने कारतूसों का प्रयोग न करने के जन दबाव का परिणाम था इसीलिए उन्होंने ऐसा किया क्योंकि उन्हें जाति, धर्म या समाज से बाहर होने का खतरा था लेकिन वहां तो पुराने कारतूस थे जिन पर गाय और सूअर की चर्बी नहीं थी। इसका मतलब है कि जनता का दबाव कारतूसों को पूरी तरह से हाथ न लगाने का था।

लगता है गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग को इस बात की भनक थी। उन्होंने अपने 27 अप्रैल के पत्र में एक जगह उल्लेख किया था– मैं इस बात से संतुष्ट हूँ कि ऐसी स्थिति सभी के साथ नहीं है और यह भी कि राजनीति किसी मामले में बेवजह नहीं पड़ती। यहॉ 7वीं ओ0आई0 यानी अवध की अनियमित सेना का भी उल्लेख महत्वपूर्ण है। अवध के हड़पे जाने के तुरंत बाद इस रेजीमेंट में सर्वाधिक बगावती भावनाएं भरी हुई थीं। वाजिद अली शाह के सामने जा कर रोने वाले 19वें बंगाल आर्मी के सिपाहियों ने सबसे पहले 7वीं ओ0आई0 से संपर्क किया। इस रेजीमेंट के ज्यादातर सैनिक बाराबंकी और फैजाबाद जिले के थे। मई के आरंभ में घटनाएं कुछ इस तरह घटने लगी थीं –

2 मई 1857– अवध के मुख्य आयुक्त हेनरी लारेंस ने विशेष तौर पर 7वीं ओ0आई0 द्वारा कारतूस के सवाल पर प्रदर्शन का जिक्र किया था। यहां भी सिपाहियों ने कारतूस के प्रयोग से इनकार किया था। इस पर लारेंस के सहायकों ने संदेहास्पद लोगों को पकड़ने व जेल भेजने की इजाजत मांगी, क्योंकि कोतवाली काफी नहीं थी।

3 मई 1957 – 7वीं ओ0आई0 ने बी0एन0सी0 की तीसरी बटालियन का अनुसरण करते हुए कारतूसों का प्रयोग करने से मना कर दिया। 7वीं बी0एन0आई0 द्वारा 48वीं बी0एन0आई को लिखा गया पत्र पकड़ा गया। इससे साफ पता चलता है कि इसमें 48वीं बटालियन भी शामिल है।

4 मई 1857– सर जॉन लारेंस सिख सैनिकों की मांग करने लगे। उनके मुताबिक 48वीं टुकड़ी ने 7वीं से मिलने का फैसला 3 मई को ही कर लिया है।

5 मई 1857– मंगल पांडे की रेजीमेंट 34वीं बी0एन0आई0 भंग कर दी जाती है। इस बटालियन के सिपाहियों ने अपनी वर्दियां फाड़ डालीं और बूटों तले टोपियां रौंद दीं।

6 मई 1857– मेरठ में स्मिथ द्वारा गठित और हेविट द्वारा समर्थित पूरी तरह से देशी अधिकारियों की जांच अदालत ने 85 सैनिकों का कोर्ट मार्शल किया। उन सभी को 5 से 10 साल की सजा हुई।

9 मई 1857– सभी 85 सैनिकों के हथियार डलवा लिए गए और उन्हें हथकड़ी व बेड़ी पहना कर जेल ले जाया गया। इस दौरान वे सभी चीख चिल्ला रहे थे, गालियां दे रहे थे और अपने साथियों से कह रहे थे कि वे अपने सम्मान और धर्म के लिए उठ खड़े हों। हालॉकि इस दौरान 11वीं और 20वीं नेटिव इन्फैंट्री व तीसरी घुड़सवार सेना के सिपाही अविचलित खड़े रहे पर उनको सदमा तो जबरदस्त लगा था, क्योंकि इससे पहले सिपाहियों को इस तरह से नहीं ले जाया गया था। हालॉकि यह एक सैन्य निर्णय था पर इसका उल्टा असर हुआ। सेना की सभी रेजीमेंटों में सक्रिय क्रांतिकारी समिति को यह साबित करने का मौका मिल गया कि अंग्रेज किस तरह से दुश्मन हो गए हैं पर तेजी से क्रांतिकारी बन रही इस स्थिति की गंभीरता को समझने के लिए स्मिथ और आर्कडेल विल्सन तैयार नहीं थे।

10 मई 1857– मेरठ की सुबह में आने वाले तूफान का कोई संकेत नहीं था। दुकानें खुली थीं। व्यापार और हंसी–खुशी से कारोबार यथावत चल रहे थे। दिन के 2 बजे सराय चलाने वाली, उदासीन व चिड़चिड़े स्वभाव की अंग्रेजों को नापसंद करने वाली और भारतीय सिपाहियों की करीबी समझी जाने वाली आधी सवर्ण कश्मीरी लड़की सोफी ने खबर दी कि कुछ हिंसक होने वाला है। यह खबर अंग्रेज अफसरों तक पहुंची पर उन्होंने इसे बाजार की गप कह कर खारिज कर दिया, लेकिन जिस तरह से बाद में सोफी को फॉसी पर लटका दिया गया उससे लगता है कि वह घटना सामान्य नहीं थी। संभवतः वह तवायफों और जेल के कैदियों तथा दूसरे क्रांतिकारी समूह की सदस्य थी। सोफी और मेरठ की अन्य तवायफें भी सिपाहियों की भावनाओं के अनुरूप काम कर रही थीं। एक धारणा यह भी है कि उन तवायफों ने ही भड़काने का काम किया था। तवायफों ने मर्दों से अपने 85 सिपाहियों को छुड़ाने के लिए ललकारा था जिसके चलते बगावत फूटी थी। निश्चित तौर पर यह मामला काफी अनियंत्रित और उत्तेजना भरा था, लेकिन तात्कालिक नहीं था। जैसा कि किसी भी आवेशपूर्ण क्रांतिकारी माहौल में होता है वैसा ही वहां भी अव्यवस्था थी पर किसी तरह का भ्रम नहीं था। इसके बाद लगातार विद्रोह होते गये और 10 मई 1857 को मेरठ में भी सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। इस प्रकार 1857 के विद्रोह का प्रारम्भ हो गया।

मेरठ में विद्रोह 10 मई, 1857 ई0 दिन रविवार को सांयकाल 5 व 6 बजे के मध्य प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम पैदल टुकड़ी '20 एन0आई0' में विद्रोह की शुरुआत हुई, उसके बाद '3 एल0सी0' में भी विद्रोह फैल गया। इन विद्रोहियों ने अपने अधिकारियों के ऊपर गोलियां चलाई। मेरठ में भारतीय सैनिकों द्वारा अपनी रेजिमेंट के शस्त्रागार पर आक्रमण करके वहॉ से हथियारों और युद्ध सामग्री को लूट लिया गया और इसके साथ अंग्रेजों द्वारा वहां कैद किये गए अन्य भारतीय सिपाहियों को भी कैद से आज़ाद करवाया गया। यद्यपि मेरठ में 2200 ब्रिटिश सैनिक थे तब भी इन विद्रोहियों का पीछा नही किया गया। इस दौरान आम जनता भी इन विद्रोहियों के साथ जुड़ती गई और सिपाहियों के द्वारा प्रारंभ हुआ यह विद्रोह एक जनविद्रोह में रुपान्तरित हो गया। इसके बाद वहॉ से भारतीय सैनिक सभी विद्रोहियों के साथ दिल्ली की ओर रवाना हुए। इसके बाद 11 मई, 1857

को सभी सैनिक दिल्ली पहुँचे। 12 मई, 1857 को भारतीय सैनिकों द्वारा दिल्ली पर अधिकार कर लिया गया। यहाँ मुगलों के वंशज बहादुर शाह द्वितीय का आवास था। विद्रोहियों के आगमन से वह भी आश्चर्य में पड गया और काफी संकोच और अनिच्छा से 80 वर्षीय बहादुर शाह द्वितीय ने भारतीय क्रान्तिकारियों के इस विद्रोह का नेतृत्व स्वीकार किया। यद्यपि बहादुर शाह जफर बिना साम्राज्य का सम्राट था और एक ऐसा सेनापति था जिसे किसी युद्ध का कोई अनुभव नही था, फिर भी महान मुगलों के वंशज होने के कारण उसके नाम ने जादू सा असर किया। बहादुर शाह ज़फर ने इस नेतृत्व को स्वीकार करते हुए अपने सेनापति बख्त खॉ को नेतृत्व की जिम्मेदारी सौंप दिया। राजा–महाराजाओं को पत्र लिखे गये जिसमें उनसे एक संघ स्थापित करने को कहा गया। बाद में विभिन्न स्थानों पर मुगल सम्राट के नाम पर ही विद्रोह हुये। मराठा सरदार नाना साहब ने स्वयं को सम्राट का पेशवा ही घोषित किया। विद्रोहियों ने सरकारी कामकाज चलाने के लिए एक परिषद का गठन किया लेकिन धन, अनुभव आदि की कमी के कारण उन्हे अनेक समस्याओं का सामना करना पडा।

विद्रोह का प्रसार –

मेरठ का विद्रोह और दिल्ली पर कब्जा तो बस एक शुरूआत थी। इसके बाद तो समूचे उत्तर भारत और पश्चिम और मध्य भारत के अधिकांश हिस्सों में तो सिपाहियों और नागरिकों के बीच विद्रोह की तेज लहर चल पडी। दक्षिण भारत में मद्रास इस विद्रोह से पूर्णतः अलग रहा। इस प्रकार यह विद्रोह भारत के दूसरे क्षेत्रों में भी फैलता गया और वहॉ के स्थानीय नायकों ने अपने–अपने क्षेत्रों में इस विद्रोह को अंजाम दिया। आधुनिक उत्तर प्रदेश में, जो उस समय 'उत्तर–पचिमी प्रांत और अवध के नाम से जाना जाता था, विद्रोह की भावना सबसे भयंकर रूप में प्रकट हुई। इस प्रांत में आठ डिवीजन थे और उन सभी में विद्रोह हुआ। अवध में, जिसका विलयन एक साल पहले ही किया गया था, नवाबी घराने, अधिकतर ताल्लुकेदारों तथा ग्रामीणों ने बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया तथा यहाँ अँग्रेज –विरोधी भावना ने भी सबसे प्रबल रूप धारण किया। यहाँ सभी वर्गों के लोगों ने जमकर तथा वीरतापूर्वक लड़ाइयाँ लड़ीं। जून के प्रथम सप्ताह में लखनऊ, कानपुर, बरेली, झाँसी तथा अन्य स्थानों में विद्रोह हुए। लखनऊ में विद्रोह 4 जून 1857 को प्रारंभ हुआ। यहाँ के अँग्रेज़ रेजिडेंट हेनरी लॉरेंस तथा अन्य यूरोपवासियों ने रेजिडेंसी में शरण ली परंतु इस रेजिडेंसी की रक्षा करते हुए लॉरेंस की मृत्यु हो गई। अंग्रेज जनरलों– हैवलाक तथा आउटरम ने इन यूरोपवासियों को छुड़ाने का भरसक प्रयत्न किया परंतु वह असफल रहा। शेष शहर पर विद्रोहियों ने अधिकार करते हुये अंग्रेजों के सभी चिह्नों को मिटा देने का प्रयास किया। कई स्थानों पर टेलीग्राफ़ लाइनों को तहस–नहस कर दिया। नवंबर 1857 ई0 के बाद ही, जब यूरोपीय सैनिकों की टुकड़ियाँ आनी शुरू हुई, इन यूरोपवासियों की रेजिडेंसी से निकाला जा सका। इस शहर पर पुनः अधिकार करने में नौ महीने का समय और लगा। कानपुर में 5 जून 1857 ई0 को नाना साहब को पेशवा मानकर स्वतंत्रता की घोषणा की गई। नाना साहब को सेनापति तात्या टोपे से बहुत सहायता मिली। 6 दिसंबर 1857 ई0 को अंग्रेजों ने कानपुर पर पुनः अधिकार कर लिया। जून के शुरू में झॉसी में भी विद्रोह हो गया जहाँ इसका नेतृत्व रानी लक्ष्मीबाई ने किया। कानपुर पर अंग्रेजों का अधिकार होने के बाद तात्या टोपे भी लक्ष्मीबाई के साथ मिल गए। अप्रैल 1858 ई0 में जब अँग्रेज़ों की सेना ने झाँसी पर अधिकार कर लिया तब

तात्या टोपे और लक्ष्मी बाई ग्वालियर की तरफ़ बढ़े। यहाँ सैनिकों ने उनका साथ दिया, यद्यपि यहाँ के राजा सिंधिया ने अंग्रेजों का साथ नहीं छोडा और आगरा में शरण ली। लक्ष्मीबाई ने युद्धक्षेत्र में प्राण त्याग दिए जबकि तात्या टोपे भाग निकलने में सफल हो गये। बाद में एक भारतीय ने उन्हें सरकार के हवाले कर दिया जहां उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि नाना साहब तथा लक्ष्मीबाई शुरू में विद्रोह में नहीं कूदे। इन्होंने विद्रोह में उसी समय भाग लिया जब अँग्रेजी सरकार ने उन्हें अविश्वास की दृष्टि से देखना शुरू किया परंतु एक बार विद्रोह में कूदने के बाद इन्होंने पूरी बहादुरी तथा निष्ठा से विद्रोहियों का नेतृत्व किया। लक्ष्मीबाई की वीरता देखकर अँग्रेज जनरल भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

बिहार के पश्चिमी भाग, अवध, रुहेलखंड, बुंदेलखंड, आगरा, मेरठ, इलाहाबाद, दिल्ली, रोहतक तथा हिसार में यह विद्रोह साधारण जनता तक फैल गया। बिहार में पटना, दानापुर, शाहाबाद व छोटा नागपुर में विद्रोह हुए। यहाँ नेतृत्व जगदीशपुर के जमींदार कुँवर सिंह ने किया। उन्हें बिहार के बाहर आजमगढ़ तथा गाजीपुर में भी काफ़ी सफलता मिली। काफ़ी मुसीबतें सहकर अंग्रेज़ों का वीरता और चतुराई से मुक़ाबला करते हुए उन्होंने जगदीशपुर पर पुनः अधिकार कर लिया, परंतु अप्रैल 1858 ई0 में उनकी मृत्यु हो गई। ऐसा माना जाता है कि इस दौरान अपने बाहों में अंग्रेजी गोली लगने के कारण कुँवर सिंह ने अपने एक हाथ अपने ही तलवार से काट डाले थे। कई स्थानों पर स्थानीय नेता सामने आए, जैसे मथुरा के निकट देवी सिंह तथा मेरठ के निकट कदम सिंह परंतु इनकी शक्ति तथा दायरा काफ़ी संकुचित रहा। इन्होंने किसी प्रकार का तालमेल स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। अंत में ये भी विद्रोह की ऑधी का हिस्सा बन गए। मध्य भारत तथा राजस्थान के कुछ भागों में जहां देशी राज्यों की संख्या बहुत अधिक थी, सैनिकों तथा जनता ने विद्रोह कर दिया यद्यपि राजा तथा उनकी सरकारें ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादार बनी रहीं। इस विद्रोह का अन्य मॉगों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। आसाम में एक षड्यंत्र तैयार किया गया जो समय से पूर्व सूचना मिलने के कारण सफल नहीं हो सका। षड्यंत्र से संबंधित लोगों को कठोर दंड दिया गया। बंगाल में भी ढॉका, चटगाँव तथा अन्य स्थानों पर सैनिक विद्रोह हुए। समकालीन समाचारपत्रों में इस क्षेत्र में कुछ ग़ैरसैनिक विद्रोह के प्रसंग भी मिलते हैं परंतु इनके विषय में विश्वसनीय जानकारी नहीं है। कलकत्ता में, जो उस समय राजधानी थी, घबराहट तथा तनाव का वातावरण बना रहा। गुजरात में भी कुछ छिट–पुट घटनाएं हुई जिनमें सरकार की नीतियों से असंतुष्ट जमींदारों ने जनता को उकसाया। दक्षिण में कोल्हापुर, पूना तथा हैदराबाद में विद्रोह हुए। पंजाब से यद्यपि अंग्रेजों को विद्रोह दबाने के लिए काफ़ी सैनिक मिले फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी लोगों ने अंग्रेजों का साथ दिया। सतलज तथा झेलम नदी के मध्य के इलाके में ग्रामीण लोगों में कई स्थानों परं अंग्रेजों से युद्ध किए यद्यपि ब्रिटिश–विरोधी व्यवस्थित अभियान देखने में नहीं आया। वास्तव में पंजाब में स्थिति उस समय ही बदली जब अंग्रेजों ने दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया। इस प्रकार उत्तरी भारत के इतने बड़े भाग से अंग्रेजी राज का अंत कर दिया गया कि स्वयं गवर्नर जनरल कैनिंग भी भारत को फिर से जीतने की बात करने लगा।

इस विद्रोह का महत्त्व केवल इसके फैलाव में ही नहीं है। यह अधिक महत्त्वपूर्ण इस कारण भी हो जाता है कि विभिन्न वर्गों ने इसमें हिस्सा लिया। यह मानी हुई बात है कि यह विद्रोह केवल सैनिकों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि गैरसैनिकों ने भी इसमें बढ़–चढ़कर भाग लिया। अनुमान लगाया गया है कि इसमें कुल 1,50,000 लोगों की जानें गईं जिनमें 1,00,000 ग़ैर–सैनिक थे। इसने विभिन्न भागों में अलग–अलग रूप लिया। बहुत बड़े भाग में यह जन–विद्रोह बन गया तथा लोगों ने पिस्तौलों, बरछियों, भालों तथा लाठियों का प्रयोग किया। कई स्थानों पर सैनिक विद्रोह से पूर्व ही जन–विद्रोह हो गया। मध्य भारत तथा राजस्थान में कुछ प्रदेश ऐसे भी थे जहाँ यद्यपि सैनिकों ने विद्रोह कर दिया फिर भी राजा ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादार बने रहे। अधिकतर स्थानों पर जमींदारों ने विद्रोह में पहल नहीं की बल्कि विद्रोह होने के बाद वे इसमें कूदे। प्रायः उन्हीं जमींदारों ने विद्रोह किया जो ब्रिटिश लगान–संबंधी नीतियों के कारण बेदखल हो गए थे। परंतु बहुत से ऐसे जमींदारों ने भी विद्रोह में भाग लिया जिन्हें भूमि बंदोबस्त के दौरान कोई हानि नहीं उठानी पड़ी थी। गोंडा के राजा तथा बहराइच जिले में स्थित भिगा तथा छर्दा के राजाओं से गाँव नहीं छीने गए थे। तब भी उन्होंने आखिरी दम तक अँग्रेजों का मुक़ाबला किया। स्वयं अंग्रेज उच्चाधिकारी यह देखकर दंग रह गए कि जिन जमींदारों से वे इतनी उदारता से पेश आए थे वे भी उनके विरुद्ध हो गए थे। गोंडा के राजा ने इस संदर्भ में यह तर्क दिया कि एक बार बेगम की नौकरी करने के बाद वे उसके दुश्मन के शासन को कभी स्वीकार नही करेंगे।

आम जनता ने बहुत उत्साह से ज़मींदारों का साथ दिया। अवघ के संदर्भ में एक जिला अधिकारी ने लिखा कि ताल्लुकेदारों ने अपने उन सभी गाँवों पर पुनः अधिकार कर लिया जो विलयन के समय उनके पास थे तथा ग्रामवासियों ने, जिन्हें वहाँ भूमि दी गई थी, इसपर कोई आपत्ति नहीं की। वास्तव में विद्रोह के दौरान सभी गावों से लोग लड़ने के लिए सामने आए। दिसंबर 1857 में सरकार का अनुमान था कि तालुकेदारों ने 32,000 सैनिक जुटाए थे तथा सितंबर 1858 ई0 तक यह संख्या 58,600 पहुँच गई थी। सैनिक प्राप्त करने तथा धन जमा करने के लिए ज़बर्दस्ती नहीं करनी पड़ी थी। बहुत स्थानों पर ग्रामवासियों ने समय से पहले ही विद्रोही सरकारों के पास लगान जमा करवा दिया था। अंग्रेज़ यह देखकर हैरान रह गए क्योंकि उन्होंने आशा की थी कि जिन लोगों को उन्होंने जमीनें दी थी वे तो मुसीबत के समय सरकार का साथ देंगे।

जहाँ विद्रोह नहीं हुए वहाँ भी लोगों की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ ही थी। लोग बहुत बार सरकारी सेना तथा अधिकारियों को ग़लत सूचनाएँ देकर परेशान कर देते थे। लंदन से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र 'टाइम्स' के संवाददाता, डब्ल्यू० एच० रसल ने, जो इस समय भारत में थे, यह लिखा कि उत्तरी भारत में गोरे आदमी की गाड़ी को कोई भी मित्रतापूर्ण दृष्टि से नहीं देखता था। इस कथन से ब्रिटिश–विरोधी भावना का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। जहाँ विद्रोह नहीं भी हुए वहाँ भी लोग यह सोचने लगे थे कि शायद साम्राज्य का अंत आ गया है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि बहुत से स्थानों से लगान इकट्ठा करना कठिन हो गया। यह ठीक है कि विद्रोह के दमन में विद्रोह के इलाक़ों में भी बहुत से भारतीयों ने अँग्रेज़ों का साथ दिया, परंतु कभी–भी और कहीं भी किसी आंदोलन में सभी लोग एक ओर का पक्ष नहीं लेते। शिक्षित भारतीयों ने, जिनकी संख्या इस समय बहुत कम थी, इस विद्रोह में भाग नहीं लिया। वे पाश्चात्य

सभ्यता से बहुत प्रभावित थे अतः वे यह आशा करते थे कि अंग्रेज़ प्रगतिशील परिवर्तन ला पाएँगे, परंतु फिर भी वे विद्रोहियों के वीरतापूर्ण कारनामों की सराहना करते थे तथा अपने देशवासियों की सफलता पर गर्व करते थे।

विद्रोह का विश्लेषण करते हुए कुछ लेखकों ने यह कहा है कि ग़ैर–सैनिक विद्रोहियों में मुख्यतः डाकू, लुटेरे आदि थे परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश इतिहासकारों ने, जिनमें जॉन के, होमस, मैलीसन तथा फ़ोरेस्ट सम्मिलित किए जा सकते हैं, यह तर्क नहीं दिया है कि विद्रोह में भाग लेने वाले गैर–सैनिक मुख्यतः डाकू व लुटेरे थे। यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ समाजविरोधी तत्त्वों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अराजकता का लाभ उड़ाया होगा, परंतु अधिकतर विद्रोहियों ने बलिदान की भावना तथा निस्वार्थता का परिचय दिया। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जहाँ उन्होंने अपनी जान बचाने के लिए प्रयत्न किए हों अथवा धन के लालच में अपने साथियों को धोखा दिया हो। कुंवर सिंह का पीछा करने करने वाले ब्रिटिश अफसर लुगार्ड ने यह स्वीकार किया कि उसे ग्रामवासियों की ओर से काफ़ी परेशानी उठानी पड़ी। लखनऊ में जेम्स आउटरम ने प्रत्येक यूरोपीय कैदी को छोड़ने के लिए 10,000 रुपए देने की घोषणा की, परंतु कोई भी रुपए लेकर अंग्रेजों का साथ देने को तैयार नहीं हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि इतने बड़े विप्लव में ऐसे भी लोग हों जिन्होंने स्थिति का लाभ उठाने के उद्देश्य से इसमें भाग लिया हो परंतु जिस तरह की बलिदान की भावना इस विद्रोह के दौरान देखने में आई वह केवल स्वार्थ सिद्ध करने की भावना का परिणाम नहीं हो सकती। मेरठ, लखनऊ, कानपुर व झाँसी में जिन लोगों ने अपनी जान की बाजी लगा दी उनके मन में यह प्रबल प्रेरणा अवश्य रही होगी कि वे अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं।

विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था उससे भी विद्रोह की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है। बहुत से पदाधिकारियों को यह लगा कि भारत उनके हाथ से निकलता जा रहा है। उन्होंने इसे छोड़ने के विषय में तो नहीं सोचा, परंतु इसे बनाए रखने का कार्य उनके लिए अत्यधिक चिंता का विषय जरूर बन गया था। कैनिंग ने प्रारंभ से ही अपने सम्मुख दो उद्देश्य रखे– ब्रिटिश सेना को इकट्ठा करना तथा दिल्ली पर पुनः अपना नियंत्रण स्थापित करना। 8 जून को अंग्रेजी सेना ने अंबाला की तरफ़ से बढ़कर दिल्ली के निकट अपना खेमा लगाया और पंजाब से और टुकड़ियों के आने की प्रतीक्षा करने लगी। दिल्ली में भीषण हत्याकांड के पश्चात् अंग्रेजों ने यहाँ 20 सितंबर 1857 ई0 तक अधिकार स्थापित कर लिया। अंग्रेजों ने पंजाब से सेना बुलाकर सबसे पहले दिल्ली पर अधिकार किया परन्तु इस संघर्ष में 'जॉन निकोलस' मारा गया और लेफ्टिनेंट 'हडसन' ने धोखे से बहादुरशाह द्वितीय के दो पुत्रों 'मिर्जा मुगल' और 'मिर्जा ख्वाजा सुल्तान' एवं एक पोते 'मिर्जा अबूबक्र' को गोली मरवा दी। एक लम्बी और घमासान लड़ाई के बाद हुमायूँ के मकबरे में शरण लिये हुये बहादुर शाह द्वितीय को बंदी बनाकर रंगून भेज दिया गया तथा अन्य विद्रोहियों को सजाएँ दी गईं। धीरे–धीरे सेना उत्तर प्रदेश के विभिन्न नगरों की ओर भेजी गई। पहले बनारस में सैनिकों से हथियार रखवा लिए गए, इसके बाद इलाहाबाद पर अधिकार कर लिया गया। यहाँ विद्रोहियों को सबक सिखाने के उद्देश्य से कर्नल जेम्स नील ने भीषण मारकाट का सहारा लिया परंतु वह कानपुर की तरफ़ नहीं बढ़ सका क्योंकि उसके पास आवश्यक सामान तथा यातायात के साधन नहीं थे। कानपुर में ब्रिटिश टुकड़ी तथा अन्य अँग्रेजों ने

एक कामचलाऊ शिविर में शरण ली। जब वहाँ रहना मुश्किल हो गया तब उन्होंने इस शर्त पर नाना साहब का संरक्षण स्वीकार किया कि उन्हें नदी के पार सुरक्षित पहुँचा दिया जाएगा परंतु नदी पार करते हुए उन्हें मार दिया गया। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई युद्धक्षेत्र में लड़ती हुई 17 जून 1858 ई0 को अपने प्राण त्याग दिये। जनरल ह्यूगरोज ने उन्हे पराजित किया। अपने दुर्जेय शत्रु के बारे में उसने लिखा कि– यहाँ वह औरत सोई हुई है, जो विद्रोहियों में एकमात्र मर्द थी। लखनऊ में विद्रोह की शुरुआत 4 जून, 1857 ई0 को हुई थी। यहां के क्रांतिकारी सैनिकों द्वारा ब्रिटिश रेजिडेंसी के घेराव के बाद ब्रिटिश रेजिडेंट 'हेनरी लॉरेन्स' की मृत्यु हो गई। हैवलॉक और आउट्रम ने लखनऊ को दबाने का भरकस प्रयत्न किया, लेकिन वे असफल रहे। आखिर में कॉलिन कैंपवेल' ने गोरखा रेजिमेंट के सहयोग से मार्च, 1858 ई0 में शहर पर अधिकार कर लिया। वैसे यहाँ क्रांति का असर सितम्बर तक रहा। वास्तव में इस विद्रोह में दोनों ओर से निर्दयतापूर्वक हत्याएं की गई। अक्टूबर माह के अंत तक यूरोप से बड़ी तादाद में सैनिक कलकत्ता पहुँचने लगे। इसके बाद सरकार ने दमन चक्र शुरू किया तथा एक–एक प्रदेश पर विजय प्राप्त करके अपनी सत्ता की पुनः स्थापना की।

इस विद्रोह में हिंदुओं तथा मुसलमानों ने मिलकर कार्य किया। अंग्रेज अफसरों ने यह भी स्वीकार किया कि इस विद्रोह के दौरान वे एक धर्म के लोगों को दूसरे के विरुद्ध नहीं भड़का पाए। सितंबर 1857 ई0 में आउटरम को, बरेली की हिंदू प्रजा को खान बहादुर खाँ के विरुद्ध भड़काने के लिए, 50,000 रुपए दिए गए परंतु वह ऐसा कर पाने में सफल नहीं हो पाया। अंत में यह रकम राजकोष में वापस भेजनी पड़ी। वहाबियों ने, जो इस समय का धर्मांध मुस्लिम पंथ था, इस विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया। पंजाब के मुसलमानों ने इसे दबाने में उसी तरह अंग्रेजों की सहायता की, जिस तरह अन्य धर्मों के लोगों ने। बंगाल में भी जहाँ विद्रोह नहीं हुआ, विभिन्न धर्मों के लोगों के दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं देखा जा सकता। राष्ट्रीयता की भावना के अभाव में, लोगों में जोश पैदा करने में धार्मिक भावना ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य निभाई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के बड़े भाग में यह विद्रोह भीषण ज्वाला के समान फैला तथा काफ़ी हिस्सा अंग्रेजों के हाथ से निकल गया। स्वयं कैनिंग ने इसे सैनिक विद्रोह की संज्ञा न देकर 'जन–विद्रोह' की संज्ञा दी तथा अँग्रेज अधिकारी भारत पर पुनः विजय की बात करने लगे। यह ठीक है कि विद्रोह की पहल सैनिकों ने की, परंतु शीघ्र ही ग़ैर–सैनिक भी इसमें कूद पड़े। विद्रोहियों का उद्देश्य केवल परिस्थितियों का लाभ उठाना ही नहीं था बल्कि उनमें प्रबल विदेशी–विरोधी भावना देखने में आई। इस समय 'फिरंगी' एक घृणित शब्द बन गया तथा पैसे का लालच देकर लोगों को अपने साथ मिलाना सदा संभव नहीं हो पाया परंतु विजय प्राप्त करने के बाद विद्रोही योजनाबद्ध तरीके से विजयों व सफलताओं का लाभ उठाने में असमर्थ रहे। इसका नेतृत्व अधिकांश स्थानों पर देशी राजाओं ने किया, परन्तु हर स्थान पर ऐसा नहीं हुआ। ग्वालियर में जब सैनिकों ने विद्रोह कर दिया तो वहाँ उनके राजा ने उनका साथ नहीं दिया। जिस तेजी, सावधानी तथा योजनाबद्ध तरीके से अंग्रेजों ने इस विद्रोह की ज्वाला को दबाया उससे उनका आत्मविश्वास और अधिक बढ़ गया।

अवध में स्वतंत्रता संग्राम –

इस स्वतंत्रता संग्राम में जनता की भागीदारी इतनी जबर्दस्त थी कि कभी–कभी तो लोग अपने नेता के बिना भी समर में जूझ जाते थे। उदाहरणार्थ– उन्नाव की जनता ने अपने ही बूते लम्बे समय तक बिना किसी नेता के अंग्रेजों के एक कदम भी आगे बढ़ाना तब मुश्किल कर दिया था जबकि अंग्रेजी सेना का नेतृत्व होपग्रांट और हैवलॉक जैसे अनुभवी और तपे हुये सेनानायक कर रहे थे और अंग्रेज फौजें आधुनिकतम हथियारों से लैस थी। काफी समय तक उन्नाव की ग्रामीण जनता अपनी सूझ–बूझ से अंग्रेजों से लोहा लेती रही। उनकी जांबाजी और रणकौशल की सराहना अंग्रेज इतिहासकारों जैसे मालेसन और फारेस्ट ने भी किया है। चार्ल्स बाल ने 'हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन म्यूटिनी' में लिखा है कि – 'सौ अवधवासी खुले मैदान में दस अंग्रेज सिपाहियों के हमले से बचकर भाग निकलेंगे लेकिन अवध के दस लोगों को किसी कच्ची दीवार की भी आड़ मिल जाएगी तो वे अपनी जगह डट जाएँगे।

पूरे अवध के कोने–कोने में क्रांति की ज्वाला एक साथ उभरी और अंग्रेज सत्ता एक सप्ताह के भीतर तिरोहित हो गई। अकेले यही तथ्य जन–साधारण के स्वातन्त्र्य संकल्प, समवेत प्रयास और सुनियोजित सहयोग का अकाट्य प्रमाण है। प्रमुख राजधानियों में अंग्रेजी राज्य के पुनः स्थापित हो जाने के बाद भी महीनों तक गांवों में अंग्रेज सेना को लोहे के चने चबाने पड़े। पराजय के बाद भागने वाले नेताओं को जिस प्रकार संरक्षण देकर भारतीय सीमा के बाहर तक जनता ने पहुंचाया और उनका पीछा करने वाली गोरी फौज का जिस प्रकार गांव–गांव में प्रबल प्रतिरोध हुआ, जिस तरह जगह–जगह पेड़ों से लटकाकर अनगिनत स्वातन्त्र्य वीरों को फांसी दी गई, गॉव और बाजार फूंके गए, कत्लेआम किए गए, लोग जीवित जलाए गये, उससे ही अवध की स्वातन्त्र्य संग्राम की सार्वजनीनता सिद्ध नहीं हो जाती है। फैजाबाद से लेकर शाहजहांपुर तक मौलवी अहमदुल्लाह शाह ने, कानपुर और बिठूर से झांसी तक तात्या टोपे, उन्नाव, रायबरेली तथा फतेहपुर हंसवा एवं प्रतापगढ़ के बैसवारा अभियान क्षेत्र में राणा वेणीमाधव' और राव रामबख्श', बाराबंकी से नेपाल सीमा तक गोंडा–बहराइच में राजा देवीबख्श सिंह, रानी तुलसीपुर' एवं राजा बलभद्र सिंह' के सहयोगियों ने और बिहार सीमा के उस पार से आकर भोजपुर के रणबांकुरे कुंवर सिंह व अमर सिंह' ने कानपुर में नाना साहब तथा अवध (राजधानी लखनऊ) में नाबालिग नवाब बिरजीस कद्र और उनकी संरक्षक बेगम हजरत महल जैसे स्वातन्त्र्य प्रतीकों के शासनांतर्गत स्वतंत्र क्षेत्र के रक्षार्थ सब ओर से आक्रमण करने के लिए आती हुई अंगरेज, सिख तथा गोरखा पल्टनों के मुकाबले छापामार युद्ध का जो कौशल दिखाया था, वह प्रबल जनसहयोग के बिना संभव नहीं था। खीरी लखीमपुर, सीतापुर और हरदोई के गांवों से अपने आप उमड़कर जनता ने बेगम हजरत महल को अंग्रेजों से लड़ने तथा बच निकलने में जिस तरह सहयोग दिया, वह स्वतंत्रता–प्राप्ति की उत्कृष्ट जनकामना का प्रमाण है।

खैराबाद में इतिहास प्रसिद्ध अफगान सम्राट शेरशाह का किला स्वातन्त्र्य–संग्राम का महत्त्वपूर्ण गढ़ था और अंग्रेजों की तोपों से ही वह धराशायी हुआ था। खैराबाद में कितने वीरों ने प्राणों की बलि दी, इसका पता चलना ही असंभव है। इस प्रकार के असंख्य अज्ञात शहीद, जो न सैनिक थे, न राजा फिर भी स्वतन्त्रता के लिए बलिदान हुए थे।

शाहजहांपुर, लखीमपुर खीरी और सीतापुर में जन–आंदोलन का वह रूप दिखाई पड़ा जिसमें ग्रामीणों ने उन्मुक्त योगदान किया था।

लखनऊ के बाद उत्तरी अवध में स्वातन्त्र्य संग्राम का सबसे महत्त्वपूर्ण गढ़ मितौली (खीरी) हो गया था जिसका नेतृत्व राजा लोने सिंह ने किया था। चुन्नीलाल सक्सेना, मिट्ठूलाल श्रीवास्तव, मुंशी जहीरुल हसन और सरदार खन्ना सिंह ने शाहजहांपुर तथा सीतापुर से आनेवाले अंग्रेज सैनिकों को परास्त तथा गिरफ्तार करके बेगम की सरकार को सौंपा था। सरदार खन्ना सिंह स्वयं सेना लेकर लखनऊ के युद्ध में भाग लेने आए थे और वहीं एक धंसी हुई तोप निकालते समय गोली लग जाने से वीरगति को प्राप्त हुए थे। लखनऊ के पराभव के बाद बेगम हजरत महल और नाबालिग नवाब बिरजीस कद्र खैराबाद होते हुए मितौली आ गए थे।

जौनपुर में दिल्ली नरेश फीरोजशाह निर्मित शाही किला था जिसके भग्नावशेष आज भी सन् 1857 के स्वातन्त्र्य संग्राम के स्मारक हैं। चारों ओर की दीवारें तोपों की गोलाबारी से ध्वस्त हैं लेकिन फाटक पर जड़े रंगीन पत्थर उस वैभव की याद दिलाते हैं जिसे विजयी अंग्रेज सेना ने नष्ट कर दिया था। स्वातन्त्र्य युद्ध आरम्भ होने के पूर्व बिहार के कुंवर सिंह तीर्थाटन के बहाने मंत्रणा करते हुए झांसी, बिठूर, लखनऊ आदि घूमे थे, तब मौलवी अहमदुल्लाह शाह से उनकी मंत्रणा यहीं हुई थी। इसी मंत्रणा के फलस्वरूप अवध के दमनार्थ मिलमैन के नेतृत्व में आजमगढ़ होकर जा रही गोरखा सेना को अवध के आग्रह पर रोकने के लिए 25 मील दूर अतरौलिया पर कुंवर सिंह ने सेना जमा की। कर्नल डेम्स को परास्त करके 81 वर्षीय कुंवर सिंह ने आजमगढ़ को स्वतंत्र करा लिया और अंगरेज सेना किले में कैद हो गई। लगर्ड और डगलस की अंग्रेज सेनाओं को संड़सीनुमा व्यूह में फॅसाकर परेशान करने वाले, छापामार युद्ध के इस विशेषज्ञ ने अपने अनुज अमर सिंह के साथ बलिया में ही शिवपुर नामक स्थान पर गंगा पार करके अपने इलाके जगदीशपुर को स्वतंत्र कराया था।

कानपुर और लखनऊ के बीच स्थित बैसवाड़े के वीरों ने दोनों ओर की स्वतन्त्र सरकारों की रक्षा के लिए अंग्रेज सेना से अनगिनती युद्ध लड़े थे। 26 जून को जब कानपुर में व्हीलर ने तोपखाना और खजाना नाना साहब को सौंप कर आत्मसमर्पण कर दिया तो नाना साहब ने अंग्रेजों को इलाहाबाद सुरक्षित पहुंचाने का वचन दिया। पर इलाहाबाद में नील के अत्याचारों से अवध की जनता इतनी उत्तेजित थी कि उसने अंग्रेजों पर हमला कर दिया। चोटिल 13 अंग्रेज डीलाफोस के नेतृत्व में नाव लेकर इलाहाबाद की ओर रवाना हुए। नजबगढ़ (उन्नाव) के पास उन्होंने नाव छोड़कर पैदल आगे बढ़ना आरम्भ किया। बैसवाड़े में उस समय राणा वेणीमाधव (शंकरगढ़) और राव रामबख्श सिंह (डोंडियाखेरा) का जोर था। बक्सर में बाबू यदुनाथ सिंह के नेतृत्व में एक सैन्य टुकड़ी से इन अंगरेजों की मुठभेड़ हो गई और बाबू जी की यहीं गोली लगने से मृत्यु हो गई। क्रुद्ध भीड़ ने अंग्रेजों का पीछा किया तो वे भागकर एक मंदिर में (भीतर की मूर्तियां बाहर फेंककर) जा छुपे। बाहर पड़ी मूर्तियों से सुराग पाकर भीड़ ने मंदिर को घेरा और मंदिर में आग लगा दी और इस प्रकार सपत्नीक डीलाफोस को छोड़कर सब जलकर मर गए।

कानपुर–लखनऊ मार्ग पर बशीरतगंज और आलमबाग के मोर्चे बैसवाड़े के वीरों ने ही संभाले थे। नवाबों के शासन काल में बैसवाड़ा अवध के 12 जिलों में से एक था।

बैसवाड़े ने ही 1857 की लड़ाई सबसे जोरदार ढंग से और सबसे लम्बे समय तक लड़ी। इसी लड़ाई में बैसवाड़े की आत्मसम्मानपूर्ण जुझारू भूमिका और अदम्य साहस के कारण अंग्रेजों ने उसे बाद में चार जिलों में बांट दिया– उन्नाव, रायबरेली, लखनऊ और बाराबंकी। 1857–58 में अंग्रेजों को सबसे प्रबल प्रतिरोध इसी क्षेत्र में झेलना पड़ा। लखनऊ पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने के बाद भी बैसवाड़ा में राणा वेणीमाधव और राव रामबख्श ने अंगरेजों के दांत खट्टे किए थे और उन्हें चैन से बैठने नहीं दिया था। राणा वेणीमाधव शंकरपुर (रायबरेली) के थे और राव रामबख्श सिंह डौंडियाखेडा के। बैसवाड़े के लोग बलिष्ठ और युद्ध कला में निपुण थे। स्लीमैन के अनुसार 1825 के लगभग सेना के लिए करीब 30 हजार आदमी अकेले बैसवाड़ा और उसके निकटवर्ती क्षेत्र से ही मिल जाते थे। शायद इसलिए भी आत्मसम्मानी बैसवाड़ा इतने लम्बे समय तक और इतने सशक्त ढंग से अंग्रेजों का प्रतिरोध कर सका। शंकरगढ़, हरचन्दपुर और रायबरेली में कई युद्ध हुए लेकिन कुछ लोगों के विश्वासघात के फलस्वरूप राणा और राव की पराजय हुई। राव रामबख्श सिंह इसके बाद बनारस चले गए और विश्वासी सेवक चंदी के विश्वासघात के फलस्वरूप गिरफ्तार होकर फिर बक्सर लाए गए। उन्होंने क्षमा मांगने से इनकार किया और 8 जून, 1861 को बरगद के पेड़ से लटका कर इस वीर को फॉसी दे दी गई।

इस युद्ध में स्त्रियों की जबर्दस्त भागीदारी थी। हर वर्ग, वर्ण और धर्म–सम्प्रदाय की स्त्रियॉ इस क्रान्ति में शामिल थी और उन्होने क्रान्तिकारियों को अपने घरों में छिपाने, उनको सुरक्षित जगह पहुॅचाने से लेकर तलवार या बंदूक लेकर दुश्मन पर टूट पड़ने तक की भूमिका जोरदार ढ़ंग से निभाई थी। महिलाओं, बेगमों और सामान्य स्त्रियों ने हथियार बनाने का भी काम हाथ में लिया, जासूसी की टीमें भी बनाई। इन कामों में स्वतंत्रता सेनानियों को घर में शरण देना, फरार क्रान्तिकारियों को सुरक्षित स्थानों पर छिपाना, उन्हे भोजन आदि पहुॅचाना शामिल है। शासन की कमान स्वयं बेगम हजरत महल ने सॅभाली थी। हालॉकि उन्हे रानी लक्ष्मीबाई की तरह तलवार चलाने का प्रशिक्षण प्राप्त नही था, फिर भी जब वह मैदान में आ गई तो किसी से पीछे नही रहीं और उनके नेतृत्व में भारी संख्या में महिलाओं ने इस जनयुद्ध में अपनी–अपनी भूमिका निभाई। 'माई इण्ड़ियन म्यूटिनी डायरी' के अनुसार उस काल में लंदन टाइम्स के संवाददाता ने यह लिखा कि– बेगम ने हमारे विरूद्ध अखण्ड युद्ध की घोषणा की है। इन रानियों और बेगमों के ओजस्वी चरित्र से ऐसा लगता है कि इन्हे अपने रनिवासों और जनानखानों में अदुभूत मानसिक शक्ति प्राप्त होती थी और वे किसी भी स्थिति में उपयुक्त कदम उठाने में सक्षम थी।

सिकन्दर बाग के अविस्मरणीय युद्ध में अपने समर कौशल से अंग्रेजों के दॉत खट्टे कर देने वाली दो वीरांगनाओं का फारेस्ट ने विशेष रूप से उल्लेख किया है। अब इनमें से एक वीरांगना की पहचान ऊदा देवी के रूप में हुई है। ऊदा देवी ने सिकन्दर बाग में एक पेड़ की शाखा पर बैठकर अपने अचूक निशाने से लगभग 35 अंग्रेजों को मौत के घाट उतार दिया। उस पेड़ के नीचे जाते ही अंग्रेजों को गोली खाकर गिर जाते देख एक अंग्रेज को शक हुआ। उसने पेड़ पर बैठकर गोली चला रहे व्यक्ति पर निशाना साधा। नीचे गिरे व्यक्ति ने लाल रंग की चुस्त जैकेट और गुलामी रंग की रेशमी पतलून पहनी थी। नजदीक जाने पर पता चला कि वह बहादुर योद्धा एक युवती थी और उसके

पास दो भारी पिस्तौलें थी। इस अमर शहीद की पहचान अब पासी ऊदा देवी के रूप में हुई है। दूसरी वीरांगना, जो वृद्धावस्था में थी, अब तक अज्ञात ही है। वास्तव में बेगम हजरत महल अवध के मुक्ति संग्राम की नायिका थी और वही अवध की आजाद सरकार की मुखिया भी थी।

अनेक इतिहासकारों ने अवध के इस मुक्ति संग्राम के प्रगतिशील चरित्र को भी रेखांकित किया है। इस युद्ध में हिन्दू–मुस्लिम, उच्च–नीच वर्गों की एकता जितने स्पष्ट रूप से सामने आई, वैसी इसके पहले कभी दिखाई नहीं दी थी। एकता और भाईचारे की यह भावना शीर्ष से लेकर आम जनता तक साफ दिखाई देती थी। लार्ड कैनिंग ने जब फूट डालो और शासन करो की नीति के तहत मुसलमानों को यह समझाने की कोशिश की कि नाना साहब और लक्ष्मीबाई अंग्रेजों को इसलिए हटाना चाहते है ताकि वे यहॉ हिन्दू राज्य स्थापित कर सके और इसलिए मुसलमानों को हिन्दूओं का साथ छोड देना चाहिए तो ऐसी बातों को नजरअंदाज करने की सलाह देते हुये बहादुर शाह जफर ने कहा था कि– हम हिन्दुस्तान में पैदा हुये है, हिन्दुस्तान हमारा वतन है, हम हिन्दुस्तान की आजादी के लिए नाना साहब का साथ जरूर देंगे, भले ही हिन्दुस्तान में हिन्दुओं का राज कायम हो जाय। मुझे पूरा यकीन है कि हिन्दुओं का राज फिरंगियों के राज से बहुत बेहतर होगा।

हालॉकि इस लड़ाई के जुझारू और बहादुर योद्धा साधनों के अभाव में संघर्ष के शुरूआती दौर में हासिल की गई अपनी गौरवपूर्ण विजय को स्थायी नहीं बना पाए और अंतिम परिणाम पराजय ही रहा लेकिन इस लड़ाई में अवध की जनता के आत्मविश्वास और दिलेरी, शौर्य और साहस, समझदारी और सूझबूझ को दुश्मनों की भी सराहना मिली। इस मुक्ति संग्राम में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेनेवाले बहादुरों ने एक शोषक उत्पीड़क विदेशी शासन की समाप्ति के लिए अपने सर्वस्व लुटा दिया लेकिन हार नही मानी। इनकी यह वीरता आम जनता की स्मृतियों में बसा है जो लोकगीतों, लोकगाथाओं और आख्यानों में अभिव्यक्त होता है। अवध के गॉवों में आज भी राणा वेणी माघव, राजा बलभद्र सिंह, राजा देवी बख्श आदि के लोकगीत आज भी गाये जाते है।

1857 की क्रान्ति के नायक –

क्षेत्र	**विद्रोही नेता/नायक**	**ब्रिटिश सेनानायक/कमाण्ड़र**
दिल्ली	बहादुर शाह द्वितीय 'जफर'	निकलसन, जे0हड़सन
लखनऊॅ	बेगम हजरत महल	कैम्पबेल, आउट्रम
कानपुर	नाना साहेब उर्फ धोंदू पंत, अली मुल्ला	कैम्पबेल, हैवलॉक
ग्वालियर	तात्या टोपे उर्फ रामचन्द्र पांडुरंग	–
झॉसी	रानी लक्ष्मीबाई	जनरल ह्यूगरोज
जगदीशपुर (बिहार), आजमगढ़	बाबू कुॅवर सिंह,	विलियम टेलर, जी0ग्रांट

पटना	पीर अली	विलियम टेलर
इलाहाबाद, बनारस	लियाकत अली	जनरल नील
बरेली	खान बहादुर खॉ	कैम्पबेल
गोरखपुर	गजाधर सिंह	–
मथुरा	देवी सिंह	–
राजस्थान	जयदयाल, हरदयाल	–
मेरठ	कदम्ब सिंह	
फैजाबाद	मौलवी मोहम्मदुल्ला	
संभलपुर	सुरेन्द्र सांई	

कुल मिलाकर 1857 का संग्राम एक साल से ज्यादा समय तक चला और इसे 1858 के मध्य में कुचला गया। मेरठ में विद्रोह भड़कने के चौदह महीने बाद 8 जुलाई, 1858 को आखिरकार कैनिंग ने घोषणा किया कि विद्रोह को पूरी तरह दबा दिया गया है।

1857 के विद्रोह की असफलता के कारण–

1857 का विद्रोह आधुनिक भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। यह विद्रोह जो कि भारत के विभिन्न भू–भागों में किया गया था तथा जिसमें समाज के सभी वर्ग के लोगों ने भाग लिया था, अन्ततः असफल ही समाप्त हुआ। हालांकि, बहुत कम समय में आंदोलन देश के कई हिस्सों तक पहुंच गया लेकिन देश के एक बड़े हिस्से पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। खासतौर पर दोआब क्षेत्र में इसका असर व्यापक रहा। दक्षिण के प्रांतों ने इसमें कोई हिस्सा नहीं लिया। प्रमुख राजघरानों जैसे– सिंधिया, होल्कर, जोधपुर के राणा और अन्यों ने विद्रोह का समर्थन नहीं किया। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय स्तर का इतना सशक्त विद्रोह क्यों असफल हो गया। यदि हम इसके असफलता के कारणों का अध्ययन करें तो स्पष्ट होता है कि वास्तव में यह विद्रोह किसी एक कारण से नही वरन् अनेक कारणों से असफल हुआ था। संक्षेप में, इसकी चर्चा निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है –

1. इस विद्रोह की असफलता का सर्वप्रमुख कारण यह था कि इसमें केन्द्रीय संचालन का अभाव था। नाना साहेब, तांत्या टोपे और रानी लक्ष्मी बाई की बहादुरी में कोई शक नहीं है लेकिन वे आंदोलन को असरदार नेतृत्व नहीं दे सके। इसके अलावा विद्रोहियों में अनुभव, संगठन क्षमता व मिलकर कार्य करने की शक्ति की कमी थी। विद्रोही क्रांतिकारियों के पास ठोस लक्ष्य एवं स्पष्ट योजना का अभाव था। उन्हें अगले क्षण क्या करना होगा और क्या नहीं, यह भी निश्चित नहीं था। वे मात्र भावावेश एवं परिस्थितिवश आगे बढ़े जा रहे थे। भारत के विभिन्न भू–भागों में विद्रोह हो रहे थे लेकिन उसमें पारम्परिक सम्बन्ध का नितान्त अभाव था। साथ ही साथ कोई शक्ति भी नही थी जो इस आन्दोलन को संचालित करती। जब एक स्थान पर विद्रोह होता था तो दूसरे स्थान अथवा भारत के दूसरे हिस्से में विद्रोह शान्त रहता

था तथा जब पहले समानान्तर विद्रोह का दबा दिया जाता था तब दूसरा राज्य विद्रोह करता था। इस प्रकार अंग्रेजी सेनाएँ विभिन्न स्थानों पर होने वाले विद्रोहों को दबाने में सफल हो जाती थी। यदि समस्त भारतीय जनता और देशी रियासतों ने एक साथ विद्रोह किया होता तो अंग्रेजों के लिए अपनी सीमित सेना के द्वारा दबाना कठिन हो जाता। ऐसी स्थिती में भारतीयों द्वारा किया गया यह विद्रोह निश्चित रूप से सफल हुआ होता परन्तु दुर्भाग्यवश केन्द्रीय संचालन के अभाव में यह संभव हो न सका और अंग्रेजी सेना आसानी से विभिन्न राज्यो द्वारा किये गये विद्रोहो को दबाते चले गये। इस प्रकार यह विद्रोह असफल हुआ।

2. 1857 के विद्रोह की असफलता का एक प्रमुख कारण यह भी था कि भारतीय रियासतों की सेनाओं के मुकाबले में अंग्रेजी सेना कही अधिक शक्तिशाली थी। बहादुरशाह जफर और नाना साहब एक कुशल संगठनकर्ता अवश्य थे, पर उनमें सैन्य नेतृत्व की क्षमता की कमी थी, जबकि अंग्रेजी सेना के पास लॉरेन्स ब्रदर्स, निकोलसन, हेवलॉक, आउट्रम एवं एडवर्ड जैसे कुशल सेनानायक थे। ब्रिटिश शासन में अत्यधिक अनुशासन था तथा उनके पास आधुनिकतम हथियार थे। साथ ही साथ ब्रिटिश सेना विजय प्राप्त करने के लिए प्रत्येक रणनीति का सहारा लेती थी दूसरी ओर भारतीय राजाओं की सेनाएँ अत्यन्त युद्धकुशल होने के बाद भी आधुनिकतम हथियार न होने के कारण अनेक बार संकट में पड जाती थी। नये हथियार और गोला–बारूद हासिल करने का उनके पास कोई स्रोत नही था। ब्रिटिश हथियारखानों से उन्होने जिन चीजों पर कब्जा किया था, वे बहुत दूर तक उनका साथ नहीं दे सकती थी और उनका सामना एक ऐसे शत्रु से था जिनके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र थे। इसके अतिरिक्त उनके पास तेज संचार व्यवस्था नहीं थी जिसके कारण कार्यकलापों में सामंजस्य स्थापित करना असंभव था। यह भी सर्वविदित है कि इसमें भाग लेने वाली रियासतें आकार में छोटी–छोटी थी तथा उनको निकटवर्ती रियासतों का समर्थन और सहयोग नही मिला था। अतः ये रियासतें अंग्रेजी सेना का सामना करने में असफल रही। उदाहरणस्वरूप– झॉसी की रियासत का उल्लेख किया जा सकता है। झॉसी की रानी ने असाधारण शौर्य का परिचय दिया था किन्तु निकटवर्ती ग्वालियर रियासत की मदद न मिलने तथा अपने सीमित साधनों के अभाव में अन्ततः वह भी अंग्रेजों से पराजित हो गयी। यही स्थिती लगभग सभी रियासतों की थी।

3. 1857 के विद्रोह की असफलता का एक अन्य कारण अन्य रियासतों द्वारा अंग्रेजों की मदद करना था। इन रियासतों में ग्वालियर, पटियाला तथा जीन्द का नाम स्मरणीय है। ग्वालियर तथा पटियाला रियासतें शक्तिशाली थी लेकिन उन्होने सदैव अंग्रेजों का साथ दिया। यदि इन रियासतों ने विद्रोहियों का साथ दिया होता तो उत्तर भारत में निश्चित रूप से अंग्रेजों का सफाया हो गया होता लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। जिस समय झॉसी की रानी और अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध चल रहा था उस समय यदि ग्वालियर रियासत ने अंग्रेजों का साथ न दिया होता तो अंग्रेजों की पराजय निश्चित थी। इस तथ्य को अंग्रेजी प्रशासक और इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है।

4. इस विद्रोह की असफलता का एक अन्य कारण विद्रोहियों के पास योजना का अभाव था। अनेक विद्रोही संगठनों को यह ज्ञात ही नही था कि उन्हे करना क्या है। इसके अतिरिक्त उनके पास कोई ठोस रचनात्मक विचार भी नही थे कि यदि उन्हे अंग्रेजी शासन से मुक्ति मिल गई तो वे भविष्य में क्या करेंगे। यदि इन विद्रोहियों के पास कोई निश्चित योजना होती तथा वे जनता के समक्ष अपनी रचनात्मक विचार रखते तो विद्रोहियों को निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक जनसमर्थन मिला होता। इनमें से अधिकांश इस विद्रोह के महत्व का समझ ही नही सके। विद्रोहियों के पास समान आदर्श नही था जिससे विद्रोह पूर्णतः स्थानीय प्रकृति का बनकर रह गया।

5. नर्मदा नदी के दक्षिण में विद्रोह की अग्नि की लपटें न पहुँच सकी। अफगानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद तथा नेपाल ने अंग्रेजों से अपनी मित्रता निभाई और राजस्थान तथा सिन्ध प्रान्त प्रायः शान्त रहे। महाजन, सौदागर, जमींदार आदि भी इस आन्दोलन के लक्ष्य बन गये थे। अतः इस वर्ग के लोगों ने नीहित स्वार्थवश अंग्रेजों का ही साथ दिया।

6. आधुनिक पाश्चात्य शिक्षित व्यक्तियों ने भी इस विद्रोह का समर्थन नही किया क्योंकि उनकी धारणा थी कि पाश्चात्य शिक्षा पद्धति तथा आंग्लभाषा के माध्यम से देश का पिछडापन दूर हो सकता है परन्तु शीध्र ही उनका यह भ्रम दूर हो गया। यातायात तथा संचार के आधुनिक साधनों ने भी अंग्रेजो की सफलता में अहम भूमिका निभाई।

7. अन्त में, राष्ट्रवाद का केन्द्रीय स्वरूप न होने के कारण भिन्न–भिन्न धर्म, जाति, भाषाभाषी तथा क्षेत्रों के लोग संकीर्णताओं से उपर न उठ सके जिसके कारण विद्रोह राष्ट्रीय न बन सका।

जो चीज विद्रोहियों को एक सूत्र में जोड़ती थी, वह थी विदेशी हुकूमत के प्रति घृणा, लेकिन उनके पास न तो कोई राजनीतिक दृष्टि थी और न ही भविष्य के प्रति कोई खास नजारा। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्यजनक नही है कि वे क्रान्तिकारी नेतृत्व नही दे सके। सर जॉन लारेन्स ने ठीक ही कहा है कि– अगर विद्रोहियों में से एक भी योग्य नेता निकला होता तो हम सदा के लिए हार जाते।

1857 के विद्रोह के परिणाम अथवा प्रभाव –

जहॉ तक इस विद्रोह के परिणाम और प्रभाव का प्रश्न है– इस विद्रोह से भारत में ब्रिटिश शासन के एक युग का अन्त और दूसरे युग का प्रारम्भ होता है। इस विद्रोह के कुछ तात्कालिक और कुछ दूरगामी परिणाम सामने आये जो निम्नलिखित है –

1. विद्रोह के परिणामस्वरूप ब्रिटिश भारत की शासन व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया गया। ब्रिटिश महारानी की 01 नवम्बर 1858 की उद्घोषणा से भारत में इस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया और भारत का प्रशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हस्तान्तरित हो गया। निदेशक मण्डल का स्थान भारतीय परिषद ने ले लिया जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री हुआ करता था। महारानी विक्टोरिया की राजकीय घोषणा के द्धारा भारत में उदार, मित्रता, न्याय एवं शासन पर आधारित राज्य की स्थापना की मनोकामना की गई। कम्पनी के प्रतिवादों के वावजूद सरकार का नियन्त्रण अन्तिम रूप से साम्राज्ञी के अधीन चला गया।

2. विद्रोह के कारणों का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात अंग्रेजी सरकार ने अपनी नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। 'फूट डालो और शासन करो'' की नीति का अनुसरण जोरो से होने लगा। उन्होने सेना और शासन के पुनर्गठन का आधार धर्म और जाति को बनाया। सेना का नये सिरे से पुनर्गठन कर भारतीय एवं ब्रिटिश सैनिको के अनुपात को कम कर दिया गया। विद्रोह ने हिन्दू–मुसलमानों को एक कर दिया था लेकिन अब अंग्रेज हिन्दू–मुस्लिम एकता को तोडने और उनमें दरार पैदा करने का प्रयास करने लगे। इसमें वे काफी सफल भी हुए।

3. 1857 के विद्रोह के पश्चात् सीमा विस्तार तथा भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में ''हस्तक्षेप की नीति'' सिद्धान्ततः अस्वीकार कर ली गयी। लार्ड डलहौजी द्वारा अपनाई गयी हडप नीति भी समाप्त कर दी गई। अंग्रेजो ने भारतीय उच्चवर्गो तथा पारम्परिक संस्थाओं को यथास्थिती प्रदान करने की नीति बनाई और अब वे किसी भारतीय के उद्धार करने के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते थे।

4. 1857 के विद्रोह के परिणामस्वरूप अंग्रेजों की मनोवृति में भी काफी बदलाव आया। विद्रोह का दमन अत्यधिक कठोरता और निर्दयता से किया गया था जिसे भूलना भारतीयों के लिए असम्भव था। गैरेट के शब्दों में –''अंग्रेजों ने भारतीय बन्दियों को अदालत के सामने पेश किये बगैर ही मार डाला जो नृशंसता और बर्बरता की पराकाष्ठा थी। हजारो शान्तिप्रिय नागरिकों को तलवार के घाट उतार दिया गया।'' परिणामतः शासकों और शासितों के बीच की खाई और विस्तृत हो गई तथा भारतीयों में ब्रिटिश साम्राज्य को नष्ट–भ्रष्ट करने की भावना जागृत होने लगी।

5. इसके अतिरिक्त इसके दूरगामी परिणाम भी सामने आये जिसे किसी न किसी रूप में स्वतन्त्रता प्राप्ति तक देखा जा सकता है। सन् 1857 की याद ने राष्ट्रीय आन्दोलन को बढावा दिया, स्वतन्त्रता के लिए लडने वालों के ह्रदय में उत्साह जागृत किया और सबसे बढकर संघर्ष के लिए ऐतिहासिक आधार प्रदान किया। विदेशी जुए को उतार फेकने का भारतीय संघर्ष के लिए यह एक ज्वलन्त उदाहरण था जिसके कारण इसे भारतीय स्वातन्त्रता के पहले संग्राम के नाम से जाना जाता है। अपनी विफलता के वावजूद इसने एक महान उद्देश्य की पूर्ति की। यह उस राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रेरणास्रोत बन गया जिसने वह हासिल कर दिखाया, जो विद्रोह हासिल नही कर सका। श्री सुन्दरलाल ने अपनी पुस्तक ''भारत में अंग्रेजी राज्य'' में लिखा है कि– ''इसमें सन्देह नही है कि यदि सन् 1857 ई0 की क्रान्ति न हुई होती तो उसका यही अर्थ था कि भारतवासियों मे से साहस, आत्मगौरव, कर्तव्यपरायणता और जीवनशक्ति का अन्त हो चुका होता। अंग्रेजी शासकों के हौसले फिर सौ गुना बढ गये होते और भारतवासियों के जीवन करीब–करीब वैसी ही होती जैसा कि अफ्रीका और अमेरिका के उन आदिम निवासियों की जिनकी सैकडों वर्षो का अस्तित्व यूरोपियन जातियों के उपनिवेश बने हुए है।''

1857 की क्रान्ति और महिलाओं की भूमिका :

1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में केवल झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और बेगम हजरत महल ने ही नहीं बल्कि कई साधारण महिलाओं ने भी बढ़–चढ़कर भाग लिया था जिन्हें आज इतिहास भी भूल चुका है। उनमें कई दलित महिलाएं एवं तवायफें भी थीं। इन

वीरांगनाओं ने मुक्ति योद्धाओं को अपने घरो में छिपाने, उन्हें सुरक्षित जगह पहुंचाने, जासूसी करने, घायलों की तीमारदारी करने, संदेश पहुंचाने से लेकर खुद हाथ में तलवार या बंदूक लेकर दुश्मनों पर टूट पड़ने तक की भूमिका साहसपूर्वक निभाई। इनमें झलकारी बाई, महावीरी देवी, रनवीरी देवी, सहेजा देवी, अजीज़न बाई और हैदरीबाई आदि शामिल हैं। लखनऊ के इजरिया गांव की ऊदा देवी ने, जो पासी जाति की थीं, एक पेड़ की डाल पर बैठकर अपने सधे निशाने से 35 अंग्रेज सैनिकों को मार गिराया था।

अवध रियासत की महारानी बेगम हजरतमहल द्वारा गठित महिला सैनिक दल में प्रशिक्षण प्राप्त स्त्रियों की टुकड़ी का नेतृत्व भी एक महिला रहीमी ने ही संभाला था। उसने फौजी वेश अपनाकर स्त्रियों को तोपगोला बंदूक चलाना सिखाया। रहीमी युद्ध के दौरान गिरफ्तार हुई थीं और माफी मांगने के प्रस्ताव को ठुकरा कर हंसते–हंसते फांसी पर चढ़ गई थीं। इसी तरह लखनऊ की एक तवायफ हैदरीबाई थी जिनके कोठे पर वहां का थानेदार महमूद खान और सेठ बैजनाथ रोज आते थे। वहां पर थानेदार कई बार क्रांतिकारियों के खिलाफ योजनाओं पर बात किया करता था। हैदरीबाई महत्वपूर्ण सूचनाएं क्रांतिकारियों को पहुंचाती थी। शक होने पर उन्होंने अपना पेशा बंद कर दिया और वह रहीमी की सेना में शामिल हो गईं।

मिर्जा हादी रसव के अमर उपन्यास 'उमराव जान अदा' की नायिका उमराव जान अदा की शिष्या नर्तकी अजीजन बाई 1857 की लड़ाई से कुछ ही पहले लखनऊ से कानपुर पहुंची थी। मुक्ति युद्ध में अपनी हिस्सेदारी निभाने के लिए उसने न सिर्फ, अपना पेशा छोड़ा बल्कि अपने साथ की अन्य तवायफों को भी 1857 की क्रांति के सूत्रधारों में से एक नाना साहब का साथ देने के लिए प्रेरित किया और उन सबको साथ लेकर नाना साहब की फौज में भर्ती हो गई। अजीजन की मस्तानी टोली ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए थे।

बेगम हजरतमहल के बाद जिस दूसरी महिला ने अवध के मुक्ति युद्ध में शुरू से आखिरी तक लड़ाई लड़ी वह थी तुलसीपुर की रानी राजेश्वरी देवी। गोंडा से 40 किलोमीटर दूर स्थित तुलसीपुर रिसायत की रानी राजेश्वरी देवी की 1857 के मुक्ति संग्राम में भागीदारी अंतिम समय तक संघर्ष और अविस्मरणीय वीरता के बावजूद उपेक्षित ही रही। उनका नाम भी 1857 पर लिखी गई किताबों में नहीं मिलता। उनका उल्लेख केवल तुलसीपुर की रानी के रूप में ही हुआ है।

ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेजों के अनुसार सलोन जिले में सिमरपहा के तालुकदार वसंत सिंह की पत्नी (इनका कहीं नाम नहीं दिया गया है) दरियाबाद जिले में मिरजाफर की रानी तलमुंद कोइर, सलोन जिले की शमसपुर की ठकुराइन बैजनाथ कोइर तथा सलोन जिले में ही शम्सपुर ठकुराइन सन्नाथ कोइर आदि व्रिदोह में शामिल थीं। अवध में ही सलोन जिले में सिमरपहा के तालुकदार वसंत सिंह बैस की पत्नी ने भी 1857 की लड़ाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उनकी जमा पूंजी 45 हजार थी। सिबनुरपी में उनके पास एक बहुत बड़ा किला था जो चारों ओर से जंगल से घिरा था। उनके पास 16 तोपें थीं, 25 सवार थे और 600 पैदल सैनिक। दरियाबाद जिले (कमोबेश आज का बाराबंकी जिला) में मिर्जापुर रियासत की रानी तलमुंद कोइर का सरकारी जमापूंजी

41,266 थी। रानी तलमुंद कोइर विद्रोह में लगातार सक्रिय रहीं। सलोन जिले में ही ठकुराइन सन्नाथ कोइर भदरी की तालुकदार थी। इनकी सरकारी जमापूंजी 77,114 थी। इन्होंने विद्रोही नाजिम फजल अजीम को अपने आदमी दिए और कुछ तोपें भी दीं। मनियारपुर की सोगरा बीबी ने अपने 400 आदमी और दो तोपें सुलतानपुर के नाजिम और प्रमुख विद्रोही नेता मेहंदी हसन को दी थी।

नाना साहब पेशवा की पुत्री मैनाबाई अस्त्र–शस्त्र चलाने में कुशल थी। रानी लक्ष्मीबाई की तरह ही वह भी अच्छी घुड़सवार थीं और घोड़े पर बैठकर युद्ध करती थी। वह भी गिरफ्तार हुई। माफी न मांगने पर हाथ पैर बांधकर उसे जलती आग में फेंका गया। अनूप शहर के थाने पर लगे यूनियन जैक को उतार कर हरा झंडा फहराने वाली भी एक महिला चौहान रानी ही थी। मुजफ्फरनगर जिले में आशा देवी गूजर के साथ 11 युवतियों को विद्रोह के जुर्म में फांसी दे दी गई थी।

इन स्त्रियों में हिंदू भी थी और मुसलमान भी। असगरी बेगम, हबीबा, हनीबा और शोभा देवी, भगवती देवी, माम कौर आदि अलग–अलग परिवारों धर्मों की महिलाएं थीं लेकिन हिंदू और मुसलमान होने के साथ–साथ वे हिंदुस्तानी थीं। जिन्होंने विदेशियों को अपने वतन से बाहर करने की लड़ाई में अपने प्राण बलिदान किए। आजादी की लड़ाई के योद्धाओं में मध्य भारत में जैतपुर की रानी का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

झांसी में रानी लक्ष्मीबाई के साथ भी बड़ी संख्या में महिलाओं ने लड़ाई का हर मोर्चा संभाला था। हथियार चलाना हो या उनकी मरम्मत करनी हो, वे हर काम में पारंगत थीं। लक्ष्मीबाई ने भी महिलाओं की एक अलग टुकडी बनाई थी, जिसका नाम था दुर्गा दल। लंबे अरसे तक गुमनाम रही 1857 की नायिकाओं में से एक झलकारी बाई की बहादुरी की कहानियां बुंदेलखंड के लोगों की जुबान पर आज भी हैं।

झलकारी बाई दलित थी और अपनी बहादुरी और प्रत्युत्पन्नमति के बूते उन्होंने दुर्गा दल का नेतृत्व प्राप्त किया था। लक्ष्मीबाई की अंगरक्षिकाएं चौबीसों घंटे छाया की तरह उनके साथ रहने वाली सुंदर–मुन्दर और काशी भी दुर्गा दल की ही सैनिक थीं।

भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में बस्ती जनपद की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बस्ती जनपद में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम को जनक्रांति बनाने में अमोढ़ा रियासत की रानी तलाश कुँवरि का बलिदान अविस्मरणीय है। स्वतंत्रता के इस आन्दोलन में रानी पूरी ताकत से लड़ी और अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। उनकी वीरता को आज भी बस्ती में ही नही अपितु सम्पूर्ण पूर्वांचल में गौरव से याद किया जाता है।

रानी कुँवरि अमोढ़ा रियासत की अंतिम शासिका थी। सन् 1852 ई0 में महाराजा जंगबहादुर सिंह के निधन के बाद रानी कुँवरि देवी को सत्ता की बागडोर सँभालनी पड़ी। उस समय अंग्रेज अपने साम्राज्य विस्तार में पूरी ताकत और तनमयता से लगे हुये थे और इसी क्रम में उनकी नजर अमोढ़ा की रियासत पर पड़ी। उसे हथियाने को लेकर अंग्रेजों द्वारा अनेक कुचक्र रचे जाने लगे। ऐसी स्थिति में मित्र रियासतों का संगठन बना जिसमें अमोढ़ा भी शामिल हो गया। इसी बीच प्रथम स्वाधीनता संग्राम छिड़ गया। रियासतों के इस संगठन ने मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर के नेतृत्व में यह लड़ाई

शुरू की। इधर रानी कुँवरि की बढ़ती ताकत से भयभीत और तिलमिलाए अंग्रेजों ने विद्रोह को दबाने के लिए 1858 ई0 में कर्नल ह्यूगरोज के नेतृत्व में ब्रिटिश फौज को आक्रमण के लिए भेजा। रानी और उनके सैनिकों ने अंग्रेजों का वीरतापूर्वक सामना किया। अंग्रेज रानी को जिन्दा पकड़ना चाहते थे लेकिन रानी कुँवरि देवी ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे जीते जी अंग्रेजों के हाथ नही आएंगी। इसी संकल्प को आत्मसात करते हुये वह अंग्रेजों से युद्ध करते करते पखेरवा कुंवर सम्मय माता के स्थान पर पहुँच गयीं।

अपने विश्वासपात्रों और सैनिकों को सम्बोधित करते हुये उन्होने कहा कि देश की इस आजादी की लड़ाई में अब प्राण बचाना मुश्किल है और यहीं पर उन्होनें 2 मार्च 1858 ई0 को अपने सीने में कटार घोंप कर अपने प्राण न्योछावर कर दिये। इस प्रकार अपने बलिदान से रानी कुँवरि देवी ने देश में बस्ती का नाम स्वर्णाक्षरों में दर्ज कराया। उनकी वीरता किसी मायने में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई से कम नही थी। रानी की मौत के बाद उनके सहयोगियों ने उनके शव को छिपा दिया और बाद में उनके मृत शरीर को अमोढ़ा रियासत की कुल देवी समय माता भवानी का चौरा के पास दफना दिया गया। आज यह स्थान रानी चौरा के टीले के नाम से प्रसिद्ध है। रानी के घोड़े को पखेरवा में दफनाया गया जहाँ आज भी एक पीपल का पेड़ मौजूद है।

इसके बाद रानी के सिपाहसालारों ने इस जंग को आगे बढ़ाया। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी सेना ने गाँव–गाँव जाकर रानी के सैनिकों और उनका सहयोग करने वालों को पकड़ा। इनपर झूठा मुकदमा चलाया गया और लगभग 150 सैनिकों को छावनी में पीपल के पेड़ से लटकाकर मौत के घाट उतार दिया गया। यह सिलसिला महीनों तक चलता रहा और इस दौरान कुल मिलाकर लगभग 500 क्रान्तिकारियों को अंग्रेजों ने फाँसी दे दिया। इतना होने पर भी क्रान्तिकारियां का हौसला नही डिगा। ब्रिटिश सरकार को देश से बाहर निकालने की लड़ाई जारी रही और अन्त में उन्हे कामयाबी भी मिली।

स्पष्ट है कि 1857 की देश की पहली आजादी की लडाई में महिलाओं ने बढ–चढकर हिस्सा लिया और ब्रिटिश शासन से भारत को मुक्त करने के लिए उन्होने अपनी जान की परवाह भी नही की।

प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम में समाचार पत्र की भूमिका :

भारत के इतिहास में ही नहीं, वरन समूचे विश्व के इतिहास में 1857 ई0 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम एक अप्रतिम घटना है। केवल इसलिये नहीं कि यह एक बड़ा जनविद्रोह था, इसलिये भी नहीं कि मुट्ठीभर सिपाहियों द्वारा शुरू की गई क्रांति पूरे देश में इस क़दर फैली कि उसे दबाने–नियंत्रित करने में अंग्रेजी हुकूमत को वर्ष भर से ज्यादा समय लगा, बल्कि इसलिये भी कि इस एक क्रांति ने दुनिया की सबसे बड़ी औपनिवेशिक ताक़त को इस तरह झकझोरा कि उसे अपने तौर–तरीकों पर फिर से सोचने के लिये विवश होना पड़ा। आज़ादी की यह लड़ाई अंग्रेज़ी हुकूमत के शोषण से मुक्ति की बेचैनी की अभिव्यक्ति तो थी ही, दुनियाभर के उपनिवेशों में स्वाधीनता और मुक्ति की चेतना का अग्रदूत बन गई।

1857 की जनक्रांति पर विपुल सामग्री उपलब्ध है लेकिन इस विपुल भंडार में कैसी सामग्रियां सुलभ हैं? इसका विश्लेषण करने पर कई चौंकाने वाले निष्कर्षों से रूबरू होना

पड़ता है। जाहिर है कि आज़ादी की इतनी बड़ी लड़ाई किसी एक प्रदेश या तबके की बदौलत संभव नहीं थी, इसमें सिपाहियों की केंद्रीय भूमिका के अलावा मज़दूर, किसान, जमींदार, सरकारी महकमों में काम करने वाले, लेखक, पत्रकार तथा दूसरे लोग भी शामिल थे। यह अचानक फूटा आक्रोश भी नहीं था, बल्कि समाज के विभिन्न तबकों में व्याप्त व्यापक असंतोष और अंग्रेज़ी दासता से छूटने की सुविचारित तैयारी के साथ लड़ी गई लड़ाई थी। इस तैयारी में, क्रांति की चिंगारी को सुलगाने और फैलाने में अख़बारों–पत्रकारों की भूमिका कम महत्वपूर्ण न थी, लेकिन उपलब्ध सामग्रियों के विपुल भंडार में से कुछ अपवादों को छोड़ दें तो इतिहास की किताबों में इस महत्वपूर्ण पहलू पर सिलसिलेवार और शोधपूर्ण लेखन का सर्वथा अभाव दिखता है।

इसकी वजहें क्या थीं? पहली और सबसे बड़ी वजह तो यही थी कि आरंभिक इतिहासकार स्वयं अंग्रेज़ी स्कूल में दीक्षित थे और तमाम सदाशयता के बावजूद संदर्भ सामग्रियों के लिये अंग्रेज़ों के सरकारी दस्तावेजों और शब्दावलियों पर निर्भर थे। बाद के इतिहासकारों में भारतीय स्रोतों के इस्तेमाल का रुझान बढ़ा लेकिन इनमें से अधिकतर की अंग्रेज़ी भाषा की पृष्ठभूमि और उर्दू–फारसी को अज्ञान बाधा बनी रही। अब जब अंग्रेजों द्वारा इस संघर्ष को सीमित करने के लिये प्रयुक्त 'म्युटिनी' और 'गदर' जैसे शब्दों को त्यागकर 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम', 'जनक्रांति' और 'आज़ादी की पहली लड़ाई' जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाने लगा है और इतिहास को जानने–समझने के लिये कुलीन स्रोतों की जगह वैकल्पिक स्रोतों के इस्तेमाल पर जोर दिया जाने लगा है, तब भी पीड़ाजनक रूप से 1857–58 में छप रहे भारतीय भाषाओं के अख़बारों को एक महत्वपूर्ण संदर्भ स्रोत के रूप में इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति नहीं दिखती। क्रांतिकाल में अख़बारों की इस पहुंच और विश्वसनीय प्रभावोत्पादकता के बावजूद आश्चर्यजनक है कि किसी भी दौर और दृष्टि के इतिहासकारों ने देशी अख़बारों को 1857 ई0 की घटनाओं के साक्ष्य के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया। वैकल्पिक स्रोतों के जरिये इतिहास को समझने की प्रवृत्ति की शुरूआत इतिहासकार पूरन चन्द जोशी के बहुचर्चित लेख 'Folk Songs on 1857' से हुई जिसमें आगे और इतिहासकार व दूसरे माध्यम जुड़ते चले गए।

यह सही है कि 1857 में देश में साक्षरता केवल एक प्रतिशत थी और अख़बार बड़ी कम संख्या में छपते थे। इतने कम कि आज के अख़बारों से उनकी तुलना ही न की जा सके लेकिन अख़बार पढ़कर सुनाए जाते थे और एक–एक प्रति के अनेक श्रोता होते थे, फिर वे श्रोता भी आगे ख़बर और संदेश का प्रसार करते थे। इस तरह अख़बारों में छपी खबरें, संदेश और टिप्पणियां समाज के बड़े तबके तक पहुंचती थीं।

अख़बार और अख़बारी पत्रकारिता के कॉरपोरेटीकरण तथा उनमें विश्वसनीयता और मूल्यक्षरण के इस दौर में भी यह समझ पाना कठिन नहीं है कि अख़बारों में लोगों की मानसिकता और उनकी सोच बदल डालने की कितनी बड़ी ताकत होती है। भारत में इस ताकत का संभवतः पहली बार अंदाजा 1857 ई0 के काल में ही लगा जब भाषायी अख़बारों में छपी खबरें आजादी के लिये लड़ने और मर–मिटने का जज्बा रखने वाले लोगों में नया जोश, ऊर्जा और संकल्प भरने लगे।

भारत में पत्रकारिता की शुरुआत हालांकि 1780 ई0 में ही जेम्स ऑगस्टस हिक्की के अंग्रेजी अखबार 'हिकिज बंगाल गजट' से हो गई थी लेकिन देशी भाषा में अख़बार

निकालने में थोड़ा और विलंब हुआ। सन् 1819 में राजा राममोहन राय ने कलकत्ते से 'संवाद कौमुदी' नाम से बांग्ला समाचारपत्र का प्रकाशन आरंभ किया जिसके संपादक भवानी चरण बनर्जी बनाए गए। हालांकि कहते हैं कि इससे भी पहले 18वीं सदी के आखिरी वर्षों में फारसी में कुछ अल्पजीवी अखबार निकले, लेकिन उनके नाम आदि के बारे में कोई विवरण हमें हासिल नहीं हो पाता। आगे चलकर भवानी चरण वैचारिक मतभेद के कारण इस समाचारपत्र से अलग हो गए और 'समाचार चंद्रिका' नाम से अपना अलग अख़बार निकालने लगे। राममोहन राय व्यापक समाज सुधार के प्रति कृतसंकल्प थे और अखबार सहित उनके सारे उपक्रम इसी व्यापक अभियान के उपकरण थे जबकि समाचार चंद्रिका घोर परंपरावादी थे और उसका इस्तेमाल भवानी चरण सती प्रथा, कर्मकांडी धर्माचरण और रूढ़ सामाजिक आचार–व्यवहार का समर्थन करने के लिये करते थे।

अपने सुधारवादी प्रयासों को और व्यापक बनाने के लिये राममोहन राय ने 1822 में कलकत्ते से ही मिराज़–उल–अखबार नामक फारसी समाचारपत्र का प्रकाशन आरंभ किया। इसके पीछे–पीछे 'जमे–जहांनामा' और 'शम्स–उल–अख़बार' निकलना शुरू हुए। बंबई से फरदूज़नी माजबान ने गुजराती में 'मुंबई– ना– समाचार' का प्रकाशन आरंभ किया जो आज भी मुंबई समाचार के नाम से प्रकाशित होता है।

लेकिन आरंभ में इन सभी अख़बारों में कहीं भी अंग्रेजों, अंग्रेजी हुकूमत या औपनिवेशिक दासता के खिलाफ कोई सुगबुगाहट नहीं मिलती। राममोहन राय के अख़बार सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों का अंत करने और लोगों को जागृत करने का संदेश दे रहे थे व दैनिक घटनाओं को पेश करने के अलावा अंग्रेज़ हाकिमों की बंदगी कर रहे थे।

अंग्रेजी हुकूमत से मोहभंग के संकेत थोड़ा आगे चलकर मुख्यतः हमें उत्तर भारत से निकलने वाले उर्दू–फारसी के अख़बारों में मिलते हैं। कलकत्ते से हरीशचंद्र मुखर्जी के संपादन में प्रकाशित होने वाला अंग्रेज़ी अख़बार 'दि हिंदू पैट्रियट' और यहीं से प्रकाशित 'बंगाल हरकारू' भी ऐसे अख़बार थे जो अंग्रेज़ी अख़बारों के हुक्मरानों की बंदगी वाले मुख्य स्वर से अलग थे। इनमे भी ज्यादा प्रखर दि हिंदू पैट्रियट था जिसका प्रकाशन जनवरी 1853 में आरंभ हुआ। ये दोनों अख़बार अंग्रेजी में निकलते थे लेकिन इनका स्वामित्व भारतीय हाथों में था। कुल मिलाकर 1857 ई0 से पहले तक भारत से निकलने वाले सभी देशी अखबारों का मुख्य स्वर सुधारवादी था और वे औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध जनमत बनाने या अलख जगाने जैसा कोई काम नहीं कर रहे थे। इसके बावजूद अंग्रेजी हुकूमत भारत भूमि से निकलने वाले समाचारपत्रों को शंका की दृष्टि से देखती थी। इसी अविश्वास की वजह से भारतीय समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर लगातार प्रहार किया गया। अंग्रेज़ कतई नहीं चाहते थे कि हिंदुस्तानी समाचारपत्रों को स्वतंत्रता मिले। क्योंकि उन्हें अच्छी तरह ज्ञात था कि यदि उन्हें स्वतंत्र हासिल हो गई तो अंग्रेजी सरकार के कुकर्म का पर्दाफाश होते देर नहीं लगेगी और जनता को मालूम हो जाएगा कि देशी रजवाड़ों की रियासतें कब्जाने के लिये उन्होंने कैसी–कैसी चालें चली, किसानों, मज़दूरों, रैयतों और हस्तशिल्पियों का रोज़गार चौपट करने के लिये कौन–कौन से कर लगाए, कैसे चौपड़ बिछाए और क्या–क्या ज्यादतियां कीं।

जाहिर है कि प्रेस की ताकत का अंग्रेजी हुकूमत को अहसास था और इस वजह से अख़बार निकालने को वे अपने लिये खतरनाक मानते थे। मद्रास के गवर्नर सर टामस मुनरो ने तो साफ–साफ कहा, "हमने अपने साम्राज्य की बुनियादें जिन उसूलों पर तैयार की हैं उनके आधार पर जनता को अखबारों की आज़ादी न तो कभी दी गई और न कभी दी जाएगी। अगर सारी जनता हमारे देश की होती तो मैं अख़बारों की स्वतंत्रता को प्रमुखता देता, लेकिन चूंकि वे हमारे देशवासी नहीं हैं इसलिये इससे ज्यादा ख़तरनाक कोई चीज़ नहीं हो सकती। अखबारों की आज़ादी और विदेशी शासन दो ऐसी चीजें हैं जो न तो एक जगह जमा हो सकती हैं न एक साथ चल सकती हैं। स्वतंत्र प्रेस का पहला फर्ज क्या होगी। यही न कि देश को विदेशी चंगुल से मुक्त कराया जाए? इसलिये हिंदुस्तान में अगर अख़बारों को आज़ादी दे दी गई तो उसका भी यही नतीजा होगा।" अंग्रेजों की इसी आशंका और अविश्वासभरी सोच की वजह से समूचे औपनिवेशिक काल में अनेक बार प्रेस का दमन करने वाले कानून अमल में लाए गए।

भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन के पक्ष में जनमत बनाने एवं पत्रकारिता के दायित्व निर्वाह में हिंदी समाचारपत्रों का योगदान भी कम नहीं है। राष्ट्रीय आंदोलन के समय हिंदी के समाचारपत्रों का दृष्टिकोण देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत था। उस समय की साहसिक पत्रकारिता के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। 30 मई, 1826 को पं0 युगलकिशोर शुक्ल ने देवनागरी में हिंदी का पहला समाचार पत्र 'उदंत मार्तण्ड' प्रारंभ किया तो 'बंगदूत' ठीक उसके बाद 10 मई 1829 को प्रकाशित हुआ। 1854 में कलकत्ता से एक दैनिक प्रकाशित हुआ, जिसका नाम था– 'समाचार सुधावर्षण'। 1868 तक अनेक हिंदी पत्र यथा– बनारस अख़बार, मार्तण्ड, ज्ञानदीप, मालवा अख़बार, जगद्दीपक भास्कर, सुधाकर, बुद्धिप्रकाश, प्रजा हितैषी और कविवचन सुधा आदि प्रकाशित होने लगे थे। कविवचन सुधा का संपादन भारतेंदु हरिश्चंद्र किया करते थे। सरस्वती को 20वीं शताब्दी की अत्यधिक महत्वपूर्ण पत्रिका माना जाता है, जो 1900 में प्रारंभ हुई। उन दिनों यह पत्रिका पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित की जाती थी।

आज जिस रूप में समाचारपत्र हमें प्राप्त होते हैं, वह 1857 के दौर में संभव नहीं था। 1836 में समाचार पत्र चंद्रिका–दर्पण की मात्र 250 प्रतियां छपती थीं, समाचार दर्पण की 298, बंगदूत की 70 से भी कम, पूर्ण चंद्रोदय की 100 और ज्ञाननेशन की 200 । सन् 1839 में कलकत्ता में, जो उस समय भारत की राजधानी थी, यूरोपियनों के 26 पत्र निकलते थे, जिनमें एक संवाद प्रभाकर 14 जून, 1839 को दैनिक हुआ था। बांग्ला, हिंदी, उर्दू और फारसी के जो पत्र कलकत्ता से निकले वे प्रायः सभी साप्ताहिक थे। उसका कारण था, दैनिक पत्रों के लिये सबसे बड़ा साधन और आवश्यकता तार की होती थी। कलकत्ता से आगरा होकर बंबई और बंबई से मद्रास तथा आगरा से पेशावर तक की तार की लाइनें 1855 में ही चालू हुई। समाचारपत्रों को एक ही दर पर डाक से भेजने की प्रक्रिया 1857 ई0 में शुरू हुई थी। उससे पहले 20 वर्षों तक दूरी के हिसाब से डाक टिकट देना पड़ता था। समाचारपत्रों को ले जाने वाली रेलवे लाइनें भी 1857 में शुरू हुई, जब 274 मील की रेलवे लाइनें खोली गई। इस प्रकार इस काल से पहले बहुत प्रचार वाले या दैनिक समाचारपत्रों का अविर्भाव संभव नहीं था, फिर भी देश में ऐसे पत्र निकले जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना में बड़ा योगदान किया। उस काल के अग्रणी नेताओं ने जनता को नेतृत्व समाचारपत्रों के माध्यम से ही देना शुरू किया। 15 नवंबर, 1851 को

दादाभाई नौरोजी ने गुजराती में 'रास्तगुफ्तार' नामक पत्र निकाला था। राजा राममोहन राय का बंगदूत जो एक साथ बांग्ला, हिंदी, फारसी और अंग्रेजी में छपता था, समाज सुधार का पत्र था। ज्ञाननेशन भारतीय भाषाओं में शिक्षा की और बंगला भाषा को सरकारी भाषा बनाने की मांग करने के लिये प्रसिद्ध था। सन् 1857 में 'पयाम–ए–आज़ादी' के नाम से उर्दू तथा हिंदी में एक पत्र प्रकाशित हुआ जो अंग्रेजों के विरुद्ध क्रांति का प्रचारक था। इस अखबार को जब्त कर लिया गया था। जिस किसी के पास उसकी प्रति पाई जाती थी, उसे राजद्रोह का दोषी माना जाता था और कठोर से कठोर सजा दी जाती थी। सन् 1857 में ही हिंदी के प्रथम दैनिक समाचार सुधावर्षण और उर्दू–फारसी के दो समाचारपत्रों दूरबीन और सुल्तान–उल–अख़बार के विरुद्ध यह मुकदमा चला कि उन्होंने बादशाह बहादुरशाह जफर का एक फरमान छापा जिसमें लोगों से मांग की गई थी कि अंग्रेज़ों को भारत से बाहर निकाल दें।

लॉर्ड कैनिंग ने अपने एक भाषण में सूचना दी कि भारतीय जनता के हृदय में भारतीयों द्वारा छपने वाले समाचारपत्रों ने सूचना देने के बहाने कितना राजद्रोह लोगों के दिलों में भर दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि उनकी यह टिप्पणी भारतीयों द्वारा संचालित पत्रों के संबंध में थी, यूरोपियन समाचार पत्रों के सिलसिले में नहीं। इस रिपोर्ट के बाद कहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में भारतीय पत्रकारों से कम प्रभावित नहीं था। ये विचार केवल उत्तर भारत के समाचारपत्रों के बारे में ही नहीं थे, बंबई के गवर्नर लॉर्ड एलफिंस्टन ने भी, जो बड़े उदार माने जाते थे, इनका समर्थन किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि श्री द्वारिकानाथ ठाकुर द्वारा संचालित बंगाल हरकारू पत्र का प्रकाशन 19 सितंबर से लेकर 24 सितंबर, 1857 तक स्थगित कर दिया गया और उसे प्रकाशित होने का नया लाइसेंस तभी मिला जब उसके संपादक ने त्यागपत्र दे दिया। पश्चिमोत्तर प्रांत (यू0पी0) के प्रायः सभी उर्दू पत्र बंद हो गए। कुछ हिंदी पत्र भी काल कवलित हुए।

1857 की क्रांति के दौरान सर्वाधिक क्रांतिकारी जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 1857 से पहले तक लगभग सभी भारतीय भाषाओं के अख़बारों का रवैया चाहे वह समाज सुधार हो या व्यवस्था सुधार, सुधारवादी ही था उनमें अंग्रेजी हुकूमत का मुखर विरोध गोचर नहीं होता था। लेकिन जैसे–जैसे अंग्रेज़ों की साम्राज्यवादी गतिविधियां बढ़ती गई, वैसे–वैसे देशी अख़बारों ने क्रांतिकारी और औपनिवेशिक हुकूमत विरोधी रुख अख्तियार कर लिया। इनमें उपरोक्त के अलावा दिल्ली से निकलने वाले देहली उर्दू अख़बार, सादिकुल अख़बार, सिराजुल अख़बार, खुलसौतुल अख़बार, दिल्ली गजट, और पयाम–ए–आज़ादी जैसे उर्दू–फारसी अख़बारों की भूमिका क्रांतिकाल में काफी अहम और प्रायः विप्लवी हो गई थी। ये सभी अखबार खुलकर क्रांतिकारी सिपाहियों और उनके नेतृत्व के लिये राजी हुए बादशाह जफर का समर्थन कर रहे थे और अंग्रेजों का विरोध।

मेरठ में अंग्रेज अफसरों को मारकर क्रांति का बिगुल बजाते सिपाहियों का तीसरा घुड़सवार दस्ता रातोंरात अगली सुबह दिल्ली पहुंच गया। दिल्ली में 1857 की क्रांति की पहली ख़बर देहली उर्दू अख़बार ने इस तरह साझा की थी– ..... ''दिन सोमवार (16 रमजान, अंग्रेज़ी 11 मई, 1857) तेज गर्मी का मौसम, सुबह के समय कचहरी हो रही थी साहब मजिस्ट्रेट अदालत में थे और सब हाकिम अपने–अपने विभागों में व्यवस्था देख रहे थे और मुज़रिमों को सजाएं सुनाई जा रही थीं कि सात बजे के बाद मीर बहरी यानी

पुल के दारोगा ने आकर ख़बर दी कि सुबह को कुछ तुर्क सवार छावनी मेरठ के पुल से उतर कर आए और हमलोगों पर अत्याचार करने लगे और जो 'महसूल (कर) जमा किया गया था उसे लूटना चाहा। मैंने उन्हें किसी न किसी उपाय से बातों में लगाया और पुल के किनारे की नाव के ताले खोल दिए जिससे वे आगे न आ सकें। जो लोग आए थे उन्होंने मार्ग का चुंगीघर और सड़क के साहब का बंगला, जो मुस्लिमपुर की सड़क पर स्थित है, फूंक दिया। थोड़ी देर में सुना कि किलेदार बड़े साहब और डॉक्टर साहब व मेम वगैरह दरवाज़े में मारे गए और सवार किले में चले आए। कहते हैं कि बड़े साहब और किलेदार व डॉक्टर वगैरह कुछ अंग्रेज़ कलकत्ता दरवाजे पर खड़े होकर दूरबीन लगाए मेरठ की सड़क का हाल पता कर रहे थे कि दो सवार वहां भी पहुंच गए। उनमें से एक ने अपना तमंचा चलाया और एक अंग्रेज़ को मार गिराया। जो बचे सदर दरवाज़े से किले में आकर मारे गए और फिर कुछ और सवार भी आ पहुंचे और शहर में शोर हो गया कि फलां अंग्रेज़ वहां मारा गया और फलां अंग्रेज वहां पड़ा है।"

—(देहली उर्दू अख़बार, 17 मई, 1857) ।

इस अख़बार में दिल्ली में क्रांति की यह ख़बर काफी ब्यौरेवार और लंबी है। ख़बर में आगे एक–एक अंग्रेज अफसर, चाहे वह साहब बहादुर कमिश्नर हो, या देहली कॉलेज का प्रिंसिपल टेलर, देहली बैंक का मैनेजर बेरेस्फोर्ड हो या दूसरे अंग्रेज़ मुलाजिम और किरानी, क्रांतिकारी सिपाहियों द्वारा उनके सपरिवार मारे जाने की और उनकी संपत्तियां लूटे जाने की जानकारी देता है। गौरतलब है कि वे क्रांतिकारी सिपाही निरंकुश कतई नहीं थे, वे अनुशासित देशभक्त थे जो एक सुविचारित क्रांति को अंजाम दे रहे थे। यदि वे अंग्रेज़ों को अपना निशाना न बनाते तो न तो वह ऐतिहासिक क्रांति औपनिवेशिक दासता से मुक्ति का मुकाम बनती, न ही वे अपनी जान बचा पाते। उनके अनुशासित देशभक्ति की मिसाल सिराजुल अखबार में छपी इस ख़बर से मिलती है :–

"दोपहर के करीब क्रांतिकारी सिपाहियों के अनेक समूह बादशाह की खिदमत में हाज़िर हुए और गुज़ारिश की कि बादशाह अपने बेटों को हमारा अफसर मुकर्रर कर दें, जिससे हमलोग शहजादों की सहायता से शहर का प्रबंध करें। ..... बादशाह ने शहजादों में से जहीरूद्दीन बख्त बहादुर और मिर्ज़ा अब्दुल्लाह बहादुर को इस काम के लिये चुना और उनलोगों का अफसर बना दिया ताकि शहर में अमन कायम हो सके।'

(मिरातुल अख़बार, जिल्द 13, नं08, पृ0 2–4)

जाहिरा तौर पर 1957–58 के दौरान देशी अख़बार हर कदम पर क्रांतिकारियों का दोस्त और क्रांति का पैग़ाम जन–जन तक पहुंचाने का माध्यम बन चुके थे। अख़बार अत्यल्प संख्या में प्रसारित होने के बावजूद लोगों के समूह को पढ़कर सुनाए जाते और उनकी विश्वसनीयता इतनी ज्यादा थी कि एक–एक ख़बर सुनने वालों के दिलों में आज़ादी का जोश और जज्बा भरती जाती। ये ख़बरें सुनने वालों की जुबानी और लोगों तक पहुंचती और क्रांति और मुक्ति का पैग़ाम फैलता जाता। अख़बार के मालिक और संपादक भी क्रांति की छोटी–छोटी सफलता से खुश होते और उनके दुख से गमगीन।

दूरबीन (8 जून, 1857) सुल्तानुल अख़बार (10 जून, 1857) और इंडिया गजट (दोनों 13 जून, बंगाल हरकारू, 1857) के अंकों में बहादुरशाह के सिंहासनारूढ़ होने के बाद शासन

की ओर से एक घोषणापत्र छापा गया। इस घोषणापत्र में अंग्रेज़ों के खिलाफ हिंदू और मुसलमानों से एक होकर लड़ने की, अंग्रेज़ी फौज छोड़ बादशाह के फौज में आने की अपील की गई। इसमें अंग्रेजों से बगावत करने वालों के लिये इनाम और बहादुरशाह की फौज में शामिल होने वाले घुड़सवारों और पैदल सैनिकों के लिये वेतन का विवरण भी छापा गया। देहली उर्दू अख़बार ने अपने 21 जून, 1857 के अंक में अंग्रेजी हुकूमत की साजिश का खुलासा करते हुये लिखा– ''जैसा कि प्रसिद्ध है, अंधा बांटे रेवड़ियां, फिर–फिर अपने को दे, अंग्रेज़ों के राज में सारे बड़े–बड़े ओहदे, जिनमें अधिक की कोई सीमा नहीं, कम–से–कम सैकड़ों रुपया मासिक (वेतन) वाले, सब आपस में अपने रंगवालों को दिए जाते थे। वह धन वे बड़ी कंजूसी से खर्च करते थे। हज़ारों और लाखों रुपये बचाते थे और अपने देश को ले जाते थे। उनका धन किसी प्रकार हमारे भारतवर्ष में न फैलता था और न उससे हमें कुछ लाभ होता था। जिन हिंदुस्तानियों को सेवा हासिल होती थी उनमें से बहुत थोड़े से 100 रुपया वेतन पाते थे। अब ईश्वर ने चाहा तो जल्दी ही जिलों का प्रबंध होगा। तुम देखना कि इतने इलाके होंगे कि दानिशमंद और काबिल लोग ढूँढने पर भी नही मिलेंगे। नया निजाम अभी–अभी कायम हुआ है इसलिए इसमें कुछ दिनों तुम्हारे लिए कठिनाई है।''

–(देहली उर्दू अख़बार, 21 जून, 1857, पृ. 3)

इस तरह दादाभाई नौरोजी के 'ड्रेन थ्योरी' से काफी पहले देहली उर्दू अख़बार का संपादक भारत और भारतवासियों के आर्थिक शोषण और उनकी ग़रीबी की वजहों को साफ़–साफ़ देख पा रहा था और अपने अख़बार में उनका खुलासा करते हुए स्वशासन के आर्थिक फायदों को रेखांकित कर रहा था।

देहली उर्दू अख़बार के संपादक मौलवी मोहम्मद बाकर एक पढ़े–लिखे परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता मौलवी मोहम्मद अकबर ने उनकी शिक्षा–दीक्षा का खास ख्याल रखा। अपनी दुनियावी शिक्षा की वजह से वह पहले तहसीलदार और फिर कलेक्टर बने। लेकिन 16 साल नौकरी करने के बाद उन्होंने इसे छोड़ दिया और धार्मिक शिक्षा के प्रसार में तल्लीन हो गए। जैसी पहले चर्चा की जा चुकी है कि अंग्रेज़ी राज में अख़बार निकालना काफी कठिन काम था। लेकिन 1836 ई0 में जब मेटकॉफ ने दमनकारी प्रेस कानून को समाप्त कर प्रेस को आज़ादी दी तो देशी अख़बारों का प्रकाशन किंचित सहज हो गया। यह देखते हुए मौलवी मोहम्मद बाकर ने दिल्ली से देहली उर्दू अख़बार नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया।

मौलवी मोहम्मद बाकर एक ईमानदार, दिलेर और हक़ की लड़ाई लड़ने वाले पत्रकार थे। देहली उर्दू अख़बार में बुराई और अत्याचार के खिलाफ आवाज़ बुलंद करना वह अपनी जिम्मेदारी मानते थे। इसीलिये 1857 में आज़ादी की पहली लड़ाई के दौरान उन्होंने गुलामी और औपनिवेशिक बेड़ियां तोड़ फेंकने के लिये अपने अखबार को पूरी तरह एकाग्र कर दिया। क्रांति और आजादी की लड़ाई की खबरों के साथ–साथ उन्होंने क्रांतिकारी साहित्य–लेख, नज़्में अपील आदि को प्रमुखता से छापा। अपने अखबार के पाठकों से अपील करते हुए एक बार उन्होने लिखा – ''हिन्दू–मुसलमानों तुम सब एकजुट होकर जान की बाजी लगा दो और विजेताओं की तरह शान से अंग्रेजों का खात्मा कर दो।" लेकिन मौलाना के आज़ादी पसंद ख्यालों से अंग्रेज़ भड़क चुके थे और

उन पर तरह–तरह के आरोप लगाए जाने लगे थे। अंततः आजादी की पहली लड़ाई अंग्रेजों द्वारा जीत लेने के बाद 14 सितंबर, 1857 को मौलाना मोहम्मद बाकर को गिरफ्तार कर लिया गया और 16 सितंबर, 1857 को उन्हें पेड़ पर लटका कर गोली मार दी गई।

फरवरी 1857 में ही दिल्ली से एक अन्य अख़बार पयान ए–आज़ादी का प्रकाशन आरंभ हुआ। यह एक क्रांतिकारी अख़बार था और क्रांति की ख़बरें और पैगाम इसमें प्रमुखता से छपा करती थीं। उसके संपादक स्वयं क्रांतिकारी अजीमुल्ला खां थे लेकिन इसका स्वामित्व बहादुरशाह जफर के पोते मिर्ज़ा बेदार बख्त के पास था। मिर्जा बेदार बख्त को इस अखबार के प्रकाशन के लिये बेरहमी से मार डाला गया। कहते हैं कि पयाम–ए–आज़ादी की प्रतियां जिस किसी के घर में निकलीं उन्हें देशद्रोही और राजद्रोही घोषित कर भारी यातनाएं दी गई और अधिकांश को मौत के घाट उतार दिया गया। आज देशभर में कहीं भी किसी भी पुस्तकालय संग्रहालय में इसकी प्रति नहीं मिलती। कहते हैं कि इसकी कुछ प्रतियां लंदन स्थित ब्रिटिश म्यूजियम में उपलब्ध हैं।

इस प्रकार क्रांति को दबा देने के बाद अंग्रेजों ने क्रांति के समर्थक सभी अख़बारों के संपादकों और मालिकों पर बेइंतहा जुल्म ढाए। उनकी संपत्तियां जब्त कर ली गईं और अनेक लोगों को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। अनेक अख़बारों के लाइसेंस जब्त कर लिये गए, अनेक संपादक मालिक अदालतों के चक्कर लगाते रहे। बंगाल हरकारू पर प्रतिबंध लगने के बाद इसका प्रकाशन 19 सितंबर से 25 सितंबर, 1857 तक बंद करना पड़ा। उनको दुबारा लाइसेंस तभी दिया गया जब इसके संपादक ने इस्तीफा दे दिया। बडौदा से प्रकाशित होने वाले अखबार इंदु को जब्त कर लिया गया। समाचार सुधा वर्षण, दूरबीन के संपादक मुंशी अहमद अली गुलशने नौ बहार और सुल्तानुल अख़बार के संपादक श्याम सुंदर के संपादकों के खिलाफ मुकदमें चलाए और उनकी संपत्ति जब्त कर ली गई।

देहली उर्दू अखबार के संपादक मौलवी मोहम्मद बाकर के साथ ही सादिकुल अखबार के संपादक अमालुद्दीन को भी राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर काफी यातनाएं दी गई और आखिर में मौलवी साहब की तरह ही पेड़ से लटकाकर गोली मार दी गई।

ऐसा था अखबारनवीसों का जज्बा और ऐसी थी उनकी शहादत। यह अधूरा विवरण तब है जब यह पता ही नहीं चलता कि अनेक देशी अखबारों के पत्रकारों–संपादकों पर और क्या–क्या जुल्म ढाए गए, क्या यातनाएं दी गईं। क्रांति के दौर के पत्रकारों के इस योगदान और शहादत के बावजूद खेदजनक रूप से शास्त्रीय और वैकल्पिक दोनों तरह के इतिहास की किताबों में उनके योगदान का समुचित वर्णन अनुपस्थित है।

आज़ादी की पहली लड़ाई में अपने अख़बार के मार्फत आज़ादी की अलख जगाते हुए शहीद हो जाने वाले पत्रकारों, मौलवी मोहम्मद बाकर, मिर्ज़ा बेदार बख्त और अमालुद्दीन के शहादत के दिन 16 सितंबर को किसी भी रूप में याद करने की जहमत कोई नहीं उठाता न सरकार, न पत्रकार, न ही उनका संगठन। जबकि बाज़ार और व्यापार के इशारे पर नाचने वाले अखबारों पत्रकारों को उनकी विरासत की याद दिलाने के लिये यह कितना ज़रूरी और उपयोगी हो सकता है– यह कोई भी समझ सकता है। और तो और इन शहीदों की कहीं कोई तस्वीर भी नहीं मिलती। जाहिर है क्रांतिकाल में अखबारों,

संपादकों, पत्रकारों के अवदान को स्मरणीय बनाने की दिशा में अभी बहुत काम करने की दरकार है।

प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम में किसानों की भूमिका :

"आम धारणा यह है कि शहरों में विद्रोह के दौरान भारतीय गाँव सोए हुए थे लेकिन हाल के शोधों से पता चलता है कि 1857 ई0 की क्रान्ति के दौरान किसानों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और हिंदू और मुसलमानों के विभिन्न ग्रामीण समूह चाहे वे भूमिहीन और जमींदार हो, राजपूत और भूमिहार हो, ब्राह्मण, गुर्जर आदि सभी ने मिलकर गॉव और शहर के बीच सभी बाधाओं को तोड़ दिया।

देश के विभिन्न भागों में पशु–पालकों और पशु–चोरों ने अंग्रेजों के विरूद्ध बहादुरी से लड़ाई लड़ी। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो0 एरिक स्टोक्स का मत है कि विद्रोह की सामाजिक और आर्थिक उत्पत्ति वेल्लोर में चमड़े के कॉकेड की कहानी औरर 1857 में मेरठ में चर्बी वाले कारतूसों की कहानी से अधिक महत्वपूर्ण थी। अपनी पुस्तक 'पीजेंट आर्म्ड' में (1986), उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि 1857 का विद्रोह एक महत्वपूर्ण अर्थ में एक किसान विद्रोह था। प्रो0सी0ए0 बेली, जिसने अपनी पुस्तक 'The Peasant armed – The Indian Rebellion of 1857.' शीर्षक के तहत संपादित किया है, संपादक के समापन नोट में लिखते है कि एरिक के लिए 'किसान' शब्द एक भावनात्मक नारा नहीं था, बल्कि यह एक समाजशास्त्रीय शब्द था, जो 1857 ई0 में विद्रोह करने वाले किसानों के एक हिस्से सामाजिक स्थिति की वास्तविकता को अभिव्यक्त करता था। राजपूत और भूमिहार ब्राह्मण जाति के छोटे जमींदार और प्रांतों के विभिन्न हिस्सों में विद्रोह में भूमिका निभाने वाले गुर्जर छोटे काश्तकार और चरवाहे दोनों एक तरह से किसान थे लेकिन हैसियत, कार्यों और संस्कृति में उनके बीच भारी अंतर थे। मूल रूप से वे शांतिकाल में खेती करने वाले थे जिन्होंने युद्ध के समय में हथियार उठाए थे।

आपातकाल में किसान के जवान बनने की घटना आम तौर पर भारतीय है जो पोरस और सिकंदर के बीच युद्ध के समय से ही देखी गई है। ग्रीक जनरल का कड़ा प्रतिरोध करने वाले सैनिक किसान वर्ग के थे। किसान भारतीय सेना का आधार रहा है। महाराजा रणजीत सिंह की सैन्य जीत जवानों के कारण थी जो पहले 'किसान' थे। कंपनी के अधिकांश सैनिक ग्रामीण क्षेत्रों से आए थे। लेकिन जहॉ भारतीय राजाओं ने अपने किसान–सह–सैनिक को स्वस्थ, समृद्ध और खुश रखा था वही ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के लोगों ने इन सबके खून की आखिरी बूंद को निचोड़ लिया और उसे आगे उन्हे हड्डी–तोड़ कर प्रणाली में उलझाकर कुचल दिया ताकि जब वह छुट्टी पर अपने गांव जाए तो वहॉ खाने के लिए कुछ न हो। यह वह बर्बाद किसान वर्ग है जिसने विद्रोह को कृषि प्रधान चरित्र दिया।

प्रारंभ से ही, 1857 के विद्रोह की प्रकृति विवाद का विषय रही है। ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रबंधकों का आधिकारिक संस्करण यह था कि अकेले बंगाल नेटिव आर्मी ने विद्रोह किया था और यह विद्रोह नागरिक गड़बड़ी, कानून और व्यवस्था की मशीनरी के टूटने का परिणाम थी जिसने नागरिक समाज के सभी अपराधियों को खुली छूट दे दी थी। दूसरे शब्दों में, सेना का मामला सरकार और उसके सैनिकों के बीच का मामला था, न कि सरकार और उसके लोगों के बीच। लेकिन जब डिजरायली ने ब्रिटिश हाउस ऑफ

कॉमन्स में गरजते हुए कहा कि यह एक राष्ट्रीय विद्रोह है तो ब्रिटिश अंतरात्मा को पीड़ा हुई और ब्रिटिश प्रेस घबरा गया। तभी यह एहसास हुआ कि ब्रिटिश बूट के तहत पूरे सौ वर्षों से पीड़ित भारत के लोग केवल एक अवसर और एक बहाने की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो चर्बी वाले कारतूसों द्वारा प्रदान किया गया था, हालांकि मूल कारण कहीं और था।

आइए हम कंपनी के सशस्त्र बलों की संरचना और बनावट पर एक नजर डालते है। ईस्ट इंडिया कंपनी की कुल सेना की भर्ती में न तो योग्यता को आधार बनाया गया था और न ही किसी औसत दर्जे के मानदंड के आधार पर बहाली की जाती थी। इस प्रकार की सेना में 98,02,235 पाउंड की लागत वाले 3,15,520 पुरुष शामिल थे। इस राशि में से 56,68,316 पाउंड 51,316 यूरोपीय और अंग्रेज अधिकारियों तथा सैनिकों पर खर्च किए गये। उन्हें कठिन कर्तव्यों और 'बेगार' (जबरन श्रम) से छूट दी गई थी, जो कि देशी सैनिकों को प्राप्त नही थे। अंग्रेजी सैनिकों को खिलाने, ठहराने और उनका भुगतान इस तरह से किया गया कि भारतीयों सैनिकों को पता नही चल सके। अधिकांश भारतीय सिपाही सम्मानित किसान परिवारों से आते थे, जो आत्मनिर्भर विकेन्द्रीकृत ग्रामीण अर्थव्यवस्थाओं में एक सरल और सुखी जीवन व्यतीत करते थे, जबकि अंग्रेजी सिपाही इंग्लैंड के निचले तबके से आते थे जैसे कि बाबर्ची, नाई, कसाई, मोची, दर्जी और राजमिस्त्री जो कि कम या बिना शिक्षा प्राप्त थे। जो अन्य यूरोपीय देशों से आए थे वे सेना के भगोड़े थे। हालाँकि, अधिकारी एक अलग वर्ग से आते थे, लेकिन वे घमंडी, भ्रष्ट और ट्रिगर–खुश थे। दूसरे शब्दों में, गोरे अल्पसंख्यक और काले बहुमत के बीच एक दूसरे के लिए आम अवमानना को छोड़कर कुछ भी सामान्य नहीं था। इसलिए यह अपरिहार्य था कि कुछ अपरिहार्य होना ही चाहिए और यह सब कुछ उस विद्रोह में हुआ जिसे हम 1857 की क्रान्ति के नाम से जानते है।

अंग्रेज अफसरों ने भारतीय सिपाहियों का सबसे अपमानजनक कामों में इस्तेमाल किया। वास्तव में, उन्होंने भारतीय सैनिकों का दुरुपयोग किया और पग–पग पर गाली दी यह भूलकर कि इन सैनिकों के पास अपने गाँव में अपनी ज़मीन का टुकड़ा है और उसने एक सम्मानजनक जीवन व्यतीत किया है। अत्यधिक लगान और लगातार बढ़ रहे कर्ज का भुगतान न कर पाने की स्थिति में कंपनी के भूमि विक्रय के नए कानून ने उनकी कमर तोड़ दी। भारत सरकार द्वारा 1957 में महान विद्रोह की शताब्दी को चिह्नित करने के लिए प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक 'एटटीन फिफ्टी सेवन' (1857) के लेखक डॉ. सुरेंद्र नाथ सेन कहते हैं– 'पुरानी व्यवस्था के तहत' भूमि सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए अविच्छेद्य थी। यदि कोई मालिक बकाया कर में गिर जाता था तो उसकी भूमि जब्त कर लिया जा सकता था और जब तक उसके लोगों ने उसकी रिहाई नहीं खरीद ली, तब तक उसे रखा जा सकता था। इसके अलावा, लगान का भुगतान नकद में नहीं बल्कि वस्तु के रूप में किया जाता था और संग्रह खड़ी फसलों के विभाजन द्वारा किया जाता था। यह तरीका निस्संदेह कच्चा और बोझिल था। कंपनी की सरकार ने इसे बकाएदारों की भूमि बेचने की विधि के साथ प्रतिस्थापित किया। सिद्धांत रूप में प्रणाली अपवादहीन थी; यदि वह अपनी जोत को लाभहीन पाता था तो मालिक अपने हित में इसे छोड़ना पसंद करता था। लेकिन वह अपनी जमीन को प्यार करता था, इसमें कोई शक नही है। किसानों के साथ उसके हितों का एक मजबूत समुदाय था जो सह–ग्रामीण थे और भूमि का नुकसान देखने में महज एक वित्तीय नुकसान था, लेकिन इसने उनकी सामाजिक

स्थिति को भी प्रभावित किया। यदि भूमिकर मध्यम होते तो बिक्री का नियम इतनी कठोरता से संचालित नहीं होता। दूसरी तरफ राजस्व का बंदोबस्त युवा अधिकारियों को सौंपा गया था जिनका करियर उनके सामने था। यह आश्चर्य की बात है कि राजस्व एक ऐसी राशि पर तय किया गया था जिसे जमींदार और काश्तकार चुकाने में सक्षम नहीं थे। अच्छे मौसम में उन्होंने थोडा राजस्व एकत्रित किया लेकिन खराब मौसम में वे बर्बाद हो गए...' उनमें से कई लोगों के लिए विद्रोह लंबे समय से आवश्यक राहत और राहत लेकर आया।

आने वाले समय में भी यह नया कानून और कानूनी प्रक्रिया कायम रही। सर सैयद अहमद खॉ ने अपने 'असबाब–ए–बगावत' नामक पुस्तक में लिखा है कि 1837 के अकाल के दौरान बड़ी संख्या में भूखे व अनाथों को भोजन और आश्रय दिया गया और बाद में उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित कर दिया गया। इससे लोगों को संदेह हुआ कि सरकार पूरी आबादी को पहले गरीब और भूमिहीन बनाना चाहती है ताकि उन्हें बाद में आसानी से उन्हे अपना विश्वास और धर्म बदलने के लिए प्रेरित किया जा सके।

लेकिन इन सबके मूल में किसानों की गरीबी और बदहाली थी। चरागाह और अर्ध–खानाबदोश कृषि समुदायों की सरकार के खिलाफ अपनी शिकायतें थीं क्योंकि कंपनी द्वारा प्रोत्साहित नियमित बन्दोबस्त व्यवस्था से उनकी मिली जुली अर्थव्यवस्था बिखर गई थी। दिल्ली और पड़ोसी हरियाणा और राजस्थान के गांवों में विद्रोह लगभग पूरी तरह से कृषि प्रधान था। हिसार, रोहतक और सिरसा के स्थानीय किसान सामूहिक रूप से उठ खड़े हुए और प्रशासन पूरी तरह चरमरा गया। कई दिनों तक सिरसा पूरी तरह से बागियों के कब्जे में रहा। पलवल की जाट बस्ती में कंपनी की सेना के लिए हालात समान रूप से खराब थे। गुड़गांव में स्थानीय किसानों ने सिर उठाकर अंग्रेजों का इतना कड़ा प्रतिरोध किया था कि बदले की आग में मेवात के पचास गांवों पर फिर से कब्जा कर लिया गया।

मेरठ जिले में गुर्जरों ने तो एक प्रकार से कहर बरपाया था। उनके पूरे गुर्जरलैंड में तीव्रतम संचार की व्यवस्था थी जहां उन्होंने गुर्जर सरकार की स्थापना की थी। वे पंजाब के अंबाला जिले, उत्तर पश्चिमी प्रांत में बिजनौर और मुरादाबाद और रोहिलखंड के गांवों के साथ–साथ गंगा और यमुना के तटीय क्षेत्र में घुस गए और उनके नेता वली दाद खान के नेतृत्व में उन्होंने 12 मई से 21 मई, 1857 तक गुर्जर क्षेत्रों पर शासन किया। जिला बुलंदशहर और उसकी तहसील अनूपशहर में भी गुर्जर संप्रभु थे।

इस विद्रोह में अहीर नेता, रिवाड़ी के राव तुला राम की भूमिका को भी सुनहरे अक्षरों में लिखा जाना चाहिए। जब अहीर सरदार राव तुला राम ने तलवार लहराई तो अंग्रेजों का दिल काँप उठा। झज्झर में किसानों का विद्रोह अधिक स्पष्ट था। उनकी वीरतापूर्ण भूमिका के लिए झज्झर के नवाब को 23 दिसंबर 1857 को बंदी दर्शकों की उपस्थिति में लाल किले के सामने फांसी दे दी गई थी। उनके ससुर ने बदली–की–सराय में बहादुरी से लड़ाई लड़ी। लिबासपुर गांव में जी0टी0 करनाल रोड पर भीषण युद्ध हुआ। मेरठ और मुजफ्फराबाद के गुर्जरों ने कंपनी के सैनिकों के साथ बराबरी के स्तर पर संधर्ष किया, जिसे अंग्रेज अधिकारियों ने कई वर्षों तक याद रखा। जालंधर, झेलम और सियालकोट में भी विद्रोह हुए लेकिन उन्हें दबा दिया गया। गुंजरवाला के अराइनों

(सब्जी उत्पादकों) ने भी विद्रोह किया लेकिन उन्हें भी दबा दिया गया। जब मुजफ्फरपुर जिले में स्थिति बिगड़ी तो कंपनी ने वफादार गोरखा सुरक्षा बलों को तैनात किया लेकिन वह भी काम नहीं आये।

ग्राम गणतंत्र

सहारनपुर के बंजारों ने अपना एक राजा बनाया था। गुर्जरों के अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग राजा थे। देवी सिंह मथुरा के 14 गाँवों के किसान–राजा थे। इस विद्रोह के दौरान कंपनी की अमानवीय राजस्व नीति के कारण डकैती करने वाले किसान भी विद्रोहियों के साथ शामिल हो गए। माहिमजी वाडी तात्या टोपे की सेना में एक ऐसा ही डाकू था। अंबाला तक फैले रोहतक, हिसार और करनाल के जाट कबीले समुदायों को गांव के गणराज्यों द्वारा चिह्नित किया गया था, जिन्होंने अंग्रेजों का सबसे कठिन प्रतिरोध किया था। दिल्ली क्षेत्र ऐसे गणराज्यों का उद्‌गम स्थल था। चार्ल्स मेटकाफ के शब्दों में– ''ये ग्राम समुदाय छोटे गणतंत्र हैं, जिनके पास लगभग वह सब कुछ है जो वे अपने भीतर चाहते हैं और किसी भी विदेशी संबंधों से लगभग स्वतंत्र। ऐसा लगता है कि वे (किसान) वहाँ टिके हैं जहाँ और कुछ नहीं टिकता। एक के बाद एक राजवंश का पतन हुआ, क्रांति के बाद क्रांति होती गयी, हिंदू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज बारी–बारी से आते गये लेकिन ग्रामीण समुदाय वही का वहीं रहते हैं।'' एक पुरानी कहावत है– दो चीजें आपको किसी जाट से नही पूछनी चाहिए : उसका हल और तलवार। अंग्रेजों ने इस मामले में गलती कर दी और इसकी भारी कीमत उन्हे चुकानी पड़ी।

चपाती और कमल

1857 के विद्रोह से पहले और बाद में एक गाँव–गाँव में आंदोलन देखा गया जब हिंदुस्तान में गेहूँ से बने चपाती को देश के विभिन्न हिस्सों में गाँव के चौकीदारों के माध्यम से गाँव–गाँव बाँटा जाता था। यह पहली बार जनवरी 1857 में लगभग एक साथ उत्तर भारत के कई जिलों में दिखाई दिया। गेहूं अधिकांश भारतीयों का मुख्य भोजन था, पके हुए गेहूं के केक, जिसे चपाती का नाम दिया गया था, जैसा कि आम तौर पर माना जाता है, अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह का प्रतीक था। वस्तुतः अंग्रेजों की भू–राजस्व नीति ने ही भारतीयों से रोटी छीन ली थी। डॉ0 सेन के अनुसार– 'चपाती की कहानी पूर्व तैयारी, प्रचार और साजिश के सिद्धांत को प्रसय देती है'।

निस्संदेह 'चपाती' संचार का तेज प्रतीक था, कंपनी के टेलीफोन या डलहौजी के वायरलेस से भी तेज। मान्यता यह थी कि भगवान एक पावरोटी के आकार में प्रकट हुए थे। इससे पहले इसी तरह की चपाती 18वीं के अंत में और 19वीं सदी की शुरुआत में वेल्लोर में सिपाही विद्रोह से पहले मद्रास में दिखाई दी थीं। उन्हें मध्य प्रदेश के निमाड़ में भी वितरित किया गया था। कंपनी के अधिकारियों ने चपातियों का कोई राजनीतिक अर्थ नहीं समझा। उन्होंने सोचा कि वे बुरी आत्माओं और हैजा जैसी बीमारियों से बचने के लिए हैं, जो जनवरी 1857 में इंदौर में व्यापक रूप से फैली हुई थी।

ईसाइयों को छोड़कर सभी हिंदुओं, मुसलमानों और अन्य लोगों को रोटियां वितरित की गईं। यह सोचा जाता था कि चपातियां एक प्रकार का 'ताबीज' होती हैं, उनके पास जादुई शक्तियां होती हैं और वे पवित्र होती हैं। बरार में 1858 में नाना साहब और उनके

आदमियों के आदेश के तहत 'गुड़' और 'थुली' से भरे 'आटा' की छोटी गेंदें वितरित की गईं। अक्टूबर 1858 में नारियल और हरे पान के पत्तों के साथ गेरुआ रंग के झंडों की एक जोड़ी वितरित की गई। चूंकि गेरुआ रंग का झंडा शिवाजी का झंडा था इसलिए आम जनमानस का मानना था कि शिवाजी फिर से प्रकट हुए हैं और फिरंगियों को भगा देंगे। ग्वालियर और रीवा में चपाती में कमल के फूल (कमल का फूल) के बीज डालकर गाँव–गाँव बाँटे जाते थे। ऐसा माना जाता था कि जम्मू और मैसूर के राजा चपातियों और कमल के आंदोलन को वित्त पोषित कर रहे थे लेकिन यह असंभव लगता है क्योंकि जम्मू के राजा गुलाब सिंह अंग्रेजों के सहयोगी थे और मैसूर के राजा को इस कार्यक्रम में आर्थिक रूप से सहायता करने के लिए बहुत दूर रखा गया था।

वैसे भी यह कहा जा सकता है कि विद्रोह पूर्व नियोजित नहीं था और न ही यह किसी राजनीतिक दल, न ही किसी भारतीय राज्य और न ही किसी विदेशी शक्ति द्वारा रचा गया था। यह किसान विद्रोह था, एक कर–विरोधी विद्रोह था जिसमें भारत के सभी देशभक्त तत्व जाति, रंग या पंथ के बावजूद सामाजिक अन्याय और आर्थिक शोषण पर आधारित व्यवस्था को समाप्त करने के लिए शामिल हुए थे। विद्रोह के बाद के नरसंहार इस तथ्य की पर्याप्त गवाही देते हैं कि ब्रिटिश शासन एक बर्बर शासन था। उर्दू कवि मिर्ज़ा ग़ालिब, अपनी प्रिय दिल्ली के भाग्य के चश्मदीद गवाह, 'दस्तानबू' जो 1857 के भारतीय विद्रोह की उनकी डायरी है, जो मूल रूप से फ़ारसी में लिखी गई थी, में लिखते हैं,– 'मेरे सामने खून का एक विशाल महासागर है.. ..मेरी मौत पर आंसू बहाने वाला भी कोई नहीं बचा'। दिल्ली एक विशाल कब्रिस्तान बन गई। अंग्रेजी सैनिकों ने, दिल्ली पर पुनः कब्जा करने के बाद, जिस किसी को भी देखा, उसे मार डाला। जहीर देहल्वी ने अपनी 'दास्तान–ए–गद्दार' में लिखा है, "अंग्रेज सैनिक रास्ते में मिलने वाले को गोली मारने लगे। महिलाओं और बच्चों को भी नहीं बख्शा गया, महिलाएं अपनी इज्जत बचाने के लिए कुओं में कूद गईं। मैं और लिखने की हिम्मत नहीं कर सकता।" विद्रोह के बाद के कानपुर और इसके आसपास के इलाकों में सर जॉन के का 'फांसी की कतार' और 'वालंटियर हैंगिंग पार्टी' का लेखा–जोखा अत्यन्त दुःखद है।

ऐसा लगता है कि नरसंहार के देशव्यापी दृश्य में किसान ही किसान थे। बागी–किसानों की लाशें मीलों तक पेड़ों पर लटकी रहीं और मीलों तक कोई ज़िंदा आदमी देखने को नहीं मिला। मैकाले ने कहा कि हम भारत में सभ्य बनाने के मिशन पर थे लेकिन कैसी सभ्यता और कैसा मिशन ? विद्रोह के बाद भारत के ग्रामीण इलाकों में जनसंहार सिंध में सिकंदर, चंगेज खॉ और तैमूर द्वारा लैंप–पोस्ट पर जनसंहार को पीछे छोड़ गया। किसान वर्ग पूरी तरह से कुचला गया था और किसान रक्तहीन था। अवध में जहां विद्रोह ने 'जन आंदोलन' का दर्जा हासिल कर लिया था, वहीं अंग्रेजों का बदला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया था। झाँसी के किसानों के साथ भी ऐसा ही था, जहाँ हजारों की संख्या में आम जनमानस ने अपनी प्रिय रानी के गुणों के गीत गाते हुए जनरल नेपियर का खुलेआम विरोध किया। जनजातीय इलाकों की कहानी और भी दर्दनाक थी जहॉ देशभक्त किसान अपने ''कर नही'' अभियान के तहत तबतक लडते रहे जबतक अंग्रेजों ने उनके क्षेत्रों पर अपना अधिकार नही कर लिया। अंग्रेजों को नगाड़ों की गड़गड़ाहट के साथ बताना पड़ा कि 'विद्रोह' खत्म हो गया है। ई0बी0 हावेल आनी पुस्तक 'आर्यन रूल इन इंडिया' में लिखते हैं कि भारत के अनपढ़ किसान सबसे परिष्कृ

त पश्चिमियों को संस्कृति का पाठ पढ़ा सकते हैं। उन्होंने आगे लिखा कि– हो सकता है कि वही 'किसान' युद्ध के समय उच्च प्रशिक्षित अंग्रेजी सेना के आदमी को सबक सिखाने के लिए एक सक्षम 'जवान' बन सकता है।

अंत में हम प्रो0 एरिक स्टोक्स से सहमत हो सकते हैं कि 'प्रत्येक स्थिति में किसानों ने सैन्य विद्रोह और ग्रामीण अशांति के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी का निर्माण किया। वास्तविक अर्थ में 1857 का विद्रोह अनिवार्य रूप से एक किसान सेना का विद्रोह था जो अपने विदेशी आकाओं से अलग हो गई थी। बंगाल की सेना में जमींदार क्षत्रीय और ब्राह्मणों ने उन स्थानीय क्षितिजों के बिखरने का अनुभव किया जिसमें गाँव का जीवन आमतौर पर बंधा हुआ था। डॉ0 सेन का विचार है कि 1857 की घटना एक सिपाही विद्रोह के रूप में प्रारंभ हुआ लेकिन यह विद्रोह स्वतंत्रता संग्राम के रूप में समाप्त हुआ।

1857 की क्रांति का स्वरुप –

इतिहास के पुनर्निमाण में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ–साथ इतिहासकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोण के सम्मिलन के कारण घटनाओं के प्रस्तुतिकरण में मतवैभिन्न होना स्वाभाविक है। इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना 1857 की क्रान्ति है, जिसके स्वरूप और चरित्र के विषय में विद्वानों तथा इतिहासकारों में परस्पर मतभेद है। इसी कारण इस क्रान्ति का स्वरूप आधुनिक इतिहास के लिए एक पहेली बन गया है।

1857 ई0 के विद्रोह की घटनाएँ लम्बे समय से काफी तीखे वाद–विवाद का विषय रही है। वास्तव में जिनता साहित्य इस विद्रोह की घटनाओं पर लिखी गई है, उतना शायद भारतीय इतिहास की किसी अन्य घटना पर नही लिखा गया है। 19वीं शताब्दी में मुख्यतः अंग्रेज लेखकों ने इस विषय पर लिखा जिनका मूल उद्देश्य कोई निष्पक्ष राय देना नही अपितु यह सिद्ध करना था कि यह विद्रोह शासन की कुछ त्रुटियों के कारण हुआ। एक तरह से उन्होने केवल सैनिक कारणों पर ही प्रकाश डाला और आम जनता की भागीदारी को अस्वीकार कर दिया। इंग्लैण्ड के रूढिवादी दल के प्रमुख नेता लार्ड डिजरायली ने जुलाई 1857 में हाउस ऑफ कामन्स में इस एक 'राष्ट्रीय विद्रोह' की संज्ञा दी। तात्कालीन अंग्रेज इतिहासकार चार्ल्स बाल यद्यपि इसे एक सैनिक विद्रोह मानते है किन्तु इस विद्रोह में उन्हे भारतीयों की स्वतंत्रता का संघर्ष दिखाई दिया। कार्ल मार्क्स पहले युरोपीय विद्वान थे जिन्होने 1857 की क्रान्ति को प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन कहा। भारतीय विद्वानों में वीर दामोदर सावरकर द्वारा इसे 'भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम' माना गया है। स्वतंत्रता के बाद इस विषय पर काफी कार्य हुआ और अलग–अलग इतिहासकारों ने इसे अपनी दृष्टि से देखा। देश के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने 1857 की क्रान्ति के लिए 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' शब्द प्रयुक्त करने पर बल दिया है। यही शब्द भारत सरकारा द्वारा भी ग्रहण कर लिया गया परन्तु इतिहासकारों और विद्वानों में 1857 की क्रान्ति को प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन मानने के सम्बन्ध में घोर मतभेद है। पिछले 30 वर्षो में प्रकाशित पुस्तकों में कुछ नयी प्रवृतियॉ देखने में आयी है और इनमें भारतीय इतिहासकारों में एक स्पष्ट प्रवृति एक बार फिर इस विद्रोह को स्वतंत्रता संग्राम मानने की है। वस्तुतः 1857 के विद्रोह के स्वरूप के विषय में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। विभिन्न इतिहासकारों ने इस विद्रोह को अपनी–अपनी दृ ष्टिकोण से देखा है तथा उसके अनुसार ही इसका स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास

किया है। संक्षेप में, 1857 के विद्रोह के स्वरूप के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न दृष्टिकोण निम्नलिखित है–

1. इस सन्दर्भ में अंग्रेज इतिहासकार टी0 आर0 होम्स (T R Homnes) ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यह विद्रोह वास्तव में बर्बरता और सभ्यता के बीच हुआ संघर्ष था। होम्स का मानना है कि वास्वत में अंग्रेज और भारतीयों मे काफी अन्तर था। अंग्रेज काफी विकसित सभ्यता के थे जबकि भारतीय असभ्य और बर्बर थे। अंग्रेजों ने जब भारतीयों को सम्यता सिखाने का प्रयास किया तो भारतीयों ने विद्रोह कर दिया।

होम्स की उक्त विचारधारा को स्वीकार नही किया जा सकता क्योंकि भारतीयों को बर्बर और असभ्य कहना ही नितान्त असंगत है। यह सर्वविदित है कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन रही है तथा भारतीयों ने अपने गुणों से अन्य देशों की संस्कृतियों को भी प्रभावित किया है अतः होम्स द्वारा भारतीयों को असभ्य और बर्बर कहना अपने आप में अत्यन्त हास्यास्पद है। यह भी सर्वविदित है कि 1857 के विद्रोह के मूल कारण ब्रिटिश नीतियों में नीहित थे।

2. एक अन्य इतिहासकार रीज (Reese) का मानना है कि यह विद्रोह वास्तव में भारतीयों द्वारा ईसाईयों के विरूद्ध किया गया विद्रोह था। रीज के शब्दों में – ''ईसाईयों के विरूद्ध एक कट्टर धार्मिक युद्ध'' "A war of fenetic religionist against chiristianity."

आधुनिक इतिहासकार रीज के इस बात का विरोध करते है क्योंकि इस विद्रोह में धर्म जैसी कोई बात थी ही नही। इसके अलावा अनेक भारतीयों ने भी इस विद्रोह में अंग्रेजो का साथ दिया था। यदि यह धर्म के लिए लडा गया युद्ध होता तो इसमें किसी भी भारतीय ने अंग्रेजों का साथ न दिया होता।

3. इसके अतिरिक्त एक अन्य इतिहासकार सर जेम्स आउट्रम (Sir James outrum) का मानना है कि यह विद्रोह वास्तव में अंग्रेजों के विरूद्ध भारतीय मुसलमानों द्धारा किया गया विद्रोह था। अपने मत के समर्थन में इन्होने तर्क दिया कि अंग्रेजो ने भारतीय सत्ता मुसलमानों से छीनी थी अतः भारतीय मुसलमान अंगेजो से बैर रखते थे तथा अनुकूल अवसर पाकर वे अंग्रेजो से सत्ता पुनः अपने हाथ में लेना चाहते थे। 1857 तक आते–आते क्योंकि विभिन्न कारणोंवश भारतीयों में काफी आक्रोश उत्पन्न हो चुका था अतः भारतीय मुसलमान भारतीयों में व्याप्त असन्तोष का लाभ उठाकर जनसमर्थन प्राप्त करना चाहते थे ताकि वे जनसमर्थन का प्रयोग अंग्रेजो के विरूद्ध कर सके।

1857 के विद्रोह के समय भारतीय मुसलमानों ने यही किया था। अतः इस प्रकार आउट्रम मानते है कि यह विद्रोह न तो कुछ सिपाहियों द्धारा किया गया था और नही प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था।

लेकिन आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नही करते है क्योंकि यह सर्वविदित है कि इस विद्रोह में केवल मुसलमानों ने ही नही वरन् हिन्दू तथा अन्य धर्मो ने भी

खुलकर भाग लिया था। अतः इस मत को भी स्वीकार नही किया जा सकता। यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि इस विद्रोह को शुरू करने वाला भी एक हिन्दू मंगल पाण्डेय ही था।

4. मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भी 1857 के विद्रोह को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम स्वीकार नही किया है। अनेक मार्क्सवादी इतिहासकार जैसे पूरन चन्द जोशी (Pooran chand Joshi) आदि का विचार है कि किसी भी देश में राष्ट्रीय आन्दोलन तभी संभव है जब वहॉ आद्यौगिक क्रान्ति हुई हो। भारत में चूँकि आद्यौगिक क्रान्ति नही हुई थी अतः भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन होने का कोई प्रश्न ही नही उठता है।

किन्तु आधुनिक इतिहासकार इस विचारधारा से सहमत नही है। यदि हम मार्क्सवादी इतिहासकारें के घोषणाओं का अध्ययन करे तो ज्ञात होता है कि उनकी अधिकांश घोषणाएँ सत्य की कसौटी पर खरी नही उतरी थी। उदाहरण के रूप में फ्रान्सिसी क्रान्ति का उल्लेख किया जा सकता है। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारत में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाएँ तो देखी किन्तु वे यह भूल गये कि राष्ट्रीयता की भावनाओं का आधार केवल आर्थिक ही नही होता है वरन् इसके अनेक पहलू भी होते है। अतः आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नही करते है।

5. 1857 के विद्रोह के स्वरूप के सम्बन्ध में युरोपीय विद्वान जिसमें के (Kaye), मेलेसन (Melesion), लारेन्स (Lawrence), आदि प्रमुख है, यह मानते है कि वास्तव में यह विद्रोह केवल कुछ सिपाहियों द्वारा किया गया विद्रोह था। इन इतिहासकारों के मत का समर्थन कुछ भारतीय इतिहासकार भी करते है जिनमें रमेश चन्द्र मजूमदार (R.C.Majumdar) का विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आर0सी0 मजूमदार का मानना है कि – '' यह न तो पहला, न राष्ट्रीय और नही स्वतंत्रता का युद्ध था।'' (It was neither first, nor national and nor a war of Independence) आर0सी मजूमदार तथा अन्य युरोपीय इतिहासकार अपने मत के समर्थन में यह तर्क देते है कि सैनिको के आचरण में ऐसा कुछ भी नही था कि जिससे इसे स्वतंत्रता संग्राम कहा जाय। अपने मत के समर्थन में ये विद्वान तीन प्रमुख तर्क देते है –

* यह विद्रोह कुछ सिपाहियों द्वारा प्रारम्भ किया गया।

* इस समय भारत में राष्ट्रीय भावना थी ही नहीं। अतः जब तक किसी राष्ट्र में राष्ट्रवादी भावना न हो तबतक वहा राष्ट्रीय आंदोलन कैसे हो सकता है।

* 1857 के विद्रोह का क्षेत्र व्यापक नहीं था। यह भारत के एक सिमित क्षेत्र में हुआ था, अतः ऐसे विद्रोह को जो भारत के कुछ ही क्षेत्र में हुआ हो, उसे राष्ट्रीय विद्रोह कैसे कहा जा सकता है।

उपरोक्त तीन प्रमुख तर्को को आधुनिक भारतीय इतिहासकार स्वीकार नही करते क्योंकि इस मत के अनेक प्रमाण है कि चाहे राष्ट्रीय भावना रही हो या न रही हो, भारतीय अंग्रेजों के विरोधी थे तथा वे अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाना चाहते थे। 1838 ई0 में ही गवर्नर जनरल मेटकाफ (Metcaph) ने ब्रिटिश सरकार को जो अपनी रिपोर्ट भेजी थी उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। इस रिपोर्ट में मेटकाफ ने लिखा था कि –

भारतीय हमारा तख्ता उखाड फेकना चाहते है तथा यदि इस स्थिती से भारतीय ब्रिटिश सरकार को बचना है तो भारतीय आक्रोश को दबाने के लिए तुरन्त तथा प्रभावशाली सुधार किया जाना आवश्यक है। आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि महत्वपूर्ण बात यह नही है कि भारतीयों में राष्ट्रीय भावना थी अथवा नही। विचारणीय प्रश्न यह है कि इस संघर्ष में भाग लेने वालों का मुख्य उद्देश्य क्या था। इसमें कोई सन्देह नही है कि वे अंग्रेजो से भारत को मुक्त कराना चाहते थे। अतः ऐसी स्थिती में जबकि यह स्पष्ट है कि भारतीयों का मूल उद्देश्य इस विद्रोह के द्वारा अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाना था, तो फिर इसे स्वतन्त्रता आन्दोलन के अतिरिक्त और कुछ कैसे कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में एस0बी0 चौधरी (S.B.Chaudhry) ने लिखा है कि– '' यह विद्रोह सामान्य जनता का विद्रोह था तथा इसमें जिन राजाओं ने भाग लिया था उनकी प्रजा का भी उनको समर्थन प्राप्त था।'' स्वयं कुछ अंग्रेज लेखकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इस विद्रोह में आम जनता ने खुलकर भाग लिया था। उदाहरण के रूप में – ट्रेवेलियन लारेन्स (Travelian Lawrence) ने कानपुर नामक ग्रन्थ में लिखा है कि– ''भिक्टियो (पानी पिलाने वालों) ने उन्हे (अंग्रेजो) को पानी देने से इन्कार कर दिया, अंग्रेजो के घर से आया बिना आज्ञा लिए ही चली गई। जब संदेशवाहकों को संदेश पहुॅचाने की आज्ञा दी जाती तो वे मालिको (अंग्रेजो) के सामने उदण्डतापूर्वक खडे रहते।''

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये यह मानना कि इसमें आम जनता ने भाग नही लिया था, उचित नही है। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि किसी भी आन्दोलन में उस देश की सौ प्रतिशत जनता न तो भाग लेती है और न ही समर्थन देती है। क्रान्ति का विद्रोह कुछ लोगो के द्वारा किया जाता है जिसमें जनता का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष समर्थन होता है। उदाहरण के तौर पर हम फ्रान्स और अमेरिका की क्रान्ति को ले सकते है। यह क्रान्ति भी कुछ लोगों के द्वारा की गई थी जिसमें वहॉ की जनता ने अप्रत्यक्ष समर्थन दिया था। अतः इस आधार पर कि 1857 के विद्रोह में देश की समस्त जनता ने भाग नही लिया था, इसे सैनिक विद्रोह मानना उचित नही है। इस सम्बन्ध में डा0 एस0 एन0 सेन ने लिखा है कि – '' क्रान्तियॉ प्रायः एक छोटे से वर्ग का कार्य होती है जिसमें जनता का समर्थन होता भी है और नही भी होता है। अमेरिका तथा फ्रान्स की क्रान्ति में भी यही हुआ था।

युरोपीय इतिहासकारों का तर्क है कि 1857 ई0 के विद्रोह का क्षेत्र व्यापक नही था, भी आधुनिक इतिहासकारों को मान्य नही है। आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि किसी भी क्रान्ति अथवा विद्रोह की लोकप्रियता का पैमाना यह नही होता कि वह कितने बडे क्षेत्र में हुआ अथवा किया गया। आन्दोलन अथवा विद्रोह के कारण कितने लोग प्रभावित हुए अथवा उसका प्रभाव क्षेत्र कितना था– वास्तव में यह तथ्य ज्यादा महत्वपूर्ण है। किसी भी विद्रोह अथवा आन्दोलन को जनआन्दोलन कहने के लिए उसका व्यापक प्रभाव का होना आवश्यक है। यदि हम इस दृष्टिकोण से इसका अध्ययन करे तो इसमें सन्देह नही है कि तब 1857 ई0 का विद्रोह हमें जनआन्दोलन ही नजर आएगा। इस सन्दर्भ में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि– ''यह एक सैन्य विद्रोह से कहीं अधिक था और यह तेजी से फैला और इसने लोकप्रिय विद्रोह और स्वतंत्रता संग्राम का स्वरूप धारण कर लिया।''

(It was much more than a militory mutiny and its spread rappidly and assumed the character of Popular rebellion and a war of Independence.)

कुछ इसी प्रकार के विचार डा0 ईश्वरी प्रसाद ने भी व्यक्त किये है। उन्होने लिखा है कि– ''लंबे समय से इसकी योजना बनाई जा रही थी, इसके संगठन को पूर्ण किया जा रहा था, इसके धागे को निस्वार्थ देशभक्तों के एक समूह द्वारा भूमि के सुदूर कोनों तक फैलाया जा रहा था, जिनके लिए अपने देश की स्वतंत्रता से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं था।"

(For long this rising for being planned, Its organisation being perfected, Its thread being spread to the remotest corners of the land by a band of selfless patriots who had nothing dearer to them freedom to their country.)

उपरोक्त सम्पूर्ण तथ्यों के आधार पर इस प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ही माना जाना चाहिए। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि 1857 ई0 में ब्रिटिश संसद में प्रतिपक्ष के नेता लार्ड डिजरायली ने 1857 ई0 में ही इस विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह मान लिया था। उसने ब्रिटिश संसद में भाषण देते हुए कहा था कि– "यह न तो सैन्य विद्रोह था और न ही सिपाही विद्रोह बल्कि एक राष्ट्रीय विद्रोह था।''

(It was neither militory nor a sepoy mutiny but a National revolt.)

यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि जिस विद्रोह के स्वरूप को लार्ड डिजरायली ने उसी समय पहचान लिया था उसके स्वरूप को निर्धारित करने के लिए हम आज भी बहस कर रहे है। वास्तव में 1857 ई0 के विद्रोह को प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के अतिरिक्त कुछ और स्वीकार नही किया जा सकता है। यहॉ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अंग्रेजों का मूल उद्देश्य भारत पर ब्रिटिश शासन बरकरार रखना था तथा वे नही चाहते थे कि भारत में राष्ट्रीय भावनाओं का जन्म हो अथवा उसका प्रसार हो। इसलिए जानबूझकर युरोपीय इतिहासकारों ने भारतीयों के हृदय में यह बात बैठाने की चेष्टा की है कि यह विद्रोह मात्र एक सैनिक विद्रोह था। जहॉ जक आर0 सी0 मजूमदार और डा0 सेन जैसे इतिहासकारों का प्रश्न है उन्होने क्यों युरोपीय इतिहासकारों के मत का समर्थन किया है, इसका एकदम सही उत्तर हर्डीकर ने दिया है। हार्डीकर के शब्दों में – '' ये दोनो इतिहासकार इस क्रान्ति के पीछे कोई निश्चित योजना, संगठन अथवा कार्यक्रम को नही देखते है। इसमें इन प्रकाण्ड पण्डितो का कोई दोष नही है। दोष है उस सामग्री का जिसके आधार पर इन्होने अपने ग्रन्थों की रचना की है। ये दोनो इतिहासकार सरकारी रिकार्ड के जाल से स्वयं को मुक्त न कर सके। क्रान्तिकारियों की योजनाओं तथा कार्यक्रम का आभास उन्हे तभी मिल सकता था जब वे उसके शिविर में प्रवेश करते। यह तभी संभव था जबकि वे अभी तक भूमिगत तथा अज्ञात क्रान्ति पक्ष पर प्रकाश डालने वाली सामग्री खोज कर लाते पर ऐसा करने की अपेक्षा इन्होने सरकारी रिकार्डो तथा अंग्रेज लेखकों को ही अपना मार्गदर्शक मान लिया।''

इस प्रकार इन सम्पूर्ण विवेचनों से यह स्पष्ट है कि 1857 ई0 का विद्रोह भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम था और लगभग सभी भारतीय तथा आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस तथ्य को एक मत से स्वीकार किया है।

1857 की क्रान्ति की पुनर्व्याख्या :

भारत में सन् 1857 ई0 का क्या मतलब है? सिर्फ गदर या विद्रोह और या सिर्फ प्रथम स्वतंत्रता संग्राम? या उससे अलग या उससे आगे कुछ? और यह किस हद तक सफल रहा? भारत ने इसमें क्या पाया और क्या खोया? भारत पर शासन कर रहे या भारतीय संपदा तथा संसाधन का अपने हित में इस्तेमाल कर रहे अंग्रेज़ों ने क्या हासिल किया?

अंग्रेज़ों ने सन् 1857 से पहले तक भारत के भिन्न–भिन्न प्रांतों, शासकों, ज़मीनदारों, किसानों, मज़दूरों, व्यापारियों, बुद्धिजीवियों और सिपाहियों को साम–दाम–दंड–भेद से आपस में लड़ाया–भिड़ाया और चतुर व्यापारी की तरह उनका लंबे समय तक शोषण–दोहन किया। सन् 1857 के बाद, सन् 1858 से अंग्रेज़ों ने व्यापारी का चोला उतार कर शासकीय रूप धारण कर भारत को सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से खोखला बनाने का सतत प्रयास सन् 1947 ई0 तक जारी रखा। लेकिन अंततः उसे क्या प्राप्त हुआ? आज, सन् 1857 के 165 वर्षों के बाद, और सन् 1947 के 75 वर्षों के बाद भारत राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से ब्रिटेन से कहीं बेहतर स्थिति में है तथा भारत की बौद्धिक परिपक्वता 'दक्षेस' और 'राष्ट्रमंडल' से लेकर 'संयुक्त राष्ट्र' तक में गूंज रही है। भारतीय आज अपने देश से बाहर ब्रिटेन और अमरीका में भी विकास की नयी कहानियां लिख रहे हैं।

आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व, सन् 1507 ई0 में पुर्तगालियों के एक बेड़े को पहली बार गुजरात और मिस्र के सुल्तानों ने मिलकर हिंद महासागर में डुबो दिया था। यह तब की एक बड़ी घटना थी। पुर्तगाली लुटेरों ने उस समय आतंक मचा रखा था। लूट–खसोट का यह साम्राज्य निर्बाध गति से सौ वर्षों तक कायम रहा। सन् 1600 ई0 से लुटेरों की संख्या बढ़ गई। अगले लगभग सौ वर्षों तक उसके साथ ब्रिटिश, डच और फ्रांसीसी पूंजी विस्तारवादी भी लूट में सम्मिलित रहे। व्यापार सिर्फ बहाना था। उसकी आड़ में भारत में यूरोपीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपने पांव तेज़ी से पसारने लगा। आगे चलकर इन चारों के बीच वर्चस्व का संघर्ष हुआ, जिसमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बाजी मारी। सन् 1757 ई0 में पलासी युद्ध के बाद ब्रिटेन ने कंपनी की आड़ में भारत में शासन करना आरंभ कर दिया। इस तरह व्यापारिक कब्जे के बाद ब्रिटेन ने भारत पर राजनीतिक कब्जा करना आरंभ कर दिया। इससे पहले, शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल में अनेक बार अंग्रेजों को लूट के आरोप में गिरफ्तार किया गया था। बहरहाल, पलासी युद्ध (1757) और बक्सर युद्ध (1764) के बाद ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत के व्यापार को दोनों हाथों से लूटना शुरू किया और सन् 1800 के बाद, सन् 1857 के आते–आते उसने भारत के उद्योगों को अपना शिकार बनाया। भारतीय लघु उद्योग, कुटीर उद्योग और अन्य ग्रामीण उद्योग उपनिवेशवाद के विस्तार के शिकार बने। तब न सिर्फ दिल्ली, कलकत्ता या बंबई जैसे बड़े शहर बल्कि पटना, शाहाबाद, भागलपुर, मालदह, पूर्णिया, गोरखपुर, सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद, बनारस, इलाहाबाद, फतुहा, गया, नवादा, मुजफ्फरपुर जैसे छोटे शहरों के भी उद्योग–धंधे प्रभावित हो गए। यही नहीं,

भारत का विदेश व्यापार भी चौपट हो गया और ब्रिटेन ने अपनी तब की विश्व बाज़ार पर पकड़ बनाने की महत्वाकांक्षा पूरी की। इस बीच, सन् 1857 के पूर्व तक गोरों का 'काला चेहरा' जग–जाहिर हो चुका था। सन् 1857 से पहले समय समय पर, सन् 1763 से सन् 1856 तक यानी 'सन्यासियों' से लेकर संथालियों तक ने अंग्रेज़ों के खिलाफ अपना मोर्चा खोला। इस बीच सांकेतिक विरोधों से लेकर रक्तजित विद्रोहों तक का जबर्दस्त सामना अंग्रेजों को करना पड़ा। सन् 1857 से पहले तक छोटे–बड़े लगभग सौ विद्रोह हुए और पलासी युद्ध के बाद से, लगभग हर वर्ष कोई न कोई महत्वपूर्ण संघर्ष हुआ। इस तरह भारत का लगभग पूरा भाग एक–एक कर, अंग्रेज़ों के खिलाफ मुक्ति और न्याय की चाह में जयघोष करता रहा। इनमें से कुछ हिस्से, अल्पकाल के लिये स्वतंत्र हुए, थोड़े समय के लिये कुछेक जगह पंचायत व्यवस्था भी लागू हुई और फिर एक–एक कर, वे अंग्रेजों की साम–दाम–दंड–भेद नीति के चंगुल में फिर से फंसते चले गए। इस तरह, सन् 1600 से 1757 तक और 1757 से 1856 ई0 तक ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने सौदागरी छल–कपट से भारत के बड़े भू–भाग को समय–समय पर आर्थिक और राजनीतिक रूप से गुलाम बनाए रखा। किसान से लेकर ज़मींदार तक और प्रजा से लेकर राजा तक 'कंपनी सरकार' के गुलाम बने। उस दौर में गुलामी की आजादी थी, आज़ादी की आजादी नहीं थी और यह भी सही है कि गुलामी ने ही आजादी की आवश्यकता की याद दिलाई।

सन् 1857 में भारतीय जन सैलाब का आक्रोश अचानक नहीं फूट पड़ा। इसमें सन् 1757 से ही चल रहे विरोधों का भी बड़ा हाथ था। सन 1857 से पहले जैतपुर के राजा पारीछत का संघर्ष तथा बनारस के 'बुढ़वा मंगल' का सम्मेलन भीतर ही भीतर महासंघर्ष का खाका तैयार करने की ओर संकेत करते हैं। बिठूर के नाना साहब बौद्धिक रणनीति तैयार करने में अकस्मात नहीं जुट गए थे। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के पत्रों में अचानक ही 'देश' या 'सुराज' का ज़िक्र नहीं किया गया है। दिल्ली का बादशाह अचानक ही 'भारत का बादशाह' नहीं बन जाता है और 'सर्वखाप पंचायत' की तर्ज पर मुल्क का शासन चलाने की इच्छा वह अचानक ही ज़ाहिर नहीं कर देता है। दरअसल, यह सब सुनियोजित तरीके से सोच–विचार कर किया जाता है, जिसमें महासंग्राम का आरंभ करने के लिये वर्ष 1857 का चयन, फिर मई माह का चयन, बहादुर शाह ज़फर के नाम पर सर्वसम्मति, अलग–अलग क्षेत्र में अलग–अलग नेताओं का चयन और मुक्ति संग्राम से पूर्व व्यापक जन संपर्क अभियान सभी पूर्व नियोजित लगते हैं।

आज सन् 1857 के 165 वर्ष पूरे होने पर यदि हम उन घटनाओं को स्मरण करने के योग्य बने हैं और उन स्थितियों की 'भारतीय व्याख्या' या 'पुनर्व्याख्या' करने में जुटे हैं तो इसका श्रेय पूर्वज के क्रांतिकारियों योगदान– बलिदान को ही जाता है। 20 अप्रैल, 1859 को ब्रिटिश सम्राज्ञी पार्लियामेंट, कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स, गवर्नर जनरल, लेफ्टिनेंट गवर्नर और असैनिक अधिकारियों को संबोधित पत्र में नाना साहब लिखते हैं :

कानपुर में सिपाहियों ने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया और उन्होंने अंग्रेज़ स्त्रियों और प्रजाजनों को मारना शुरू कर दिया। जिस किसी उपाय से मैं बचा सकता था, मैंने सबको बचाया और जब वे खाइयों से बाहर आए तो मैंने उन्हें नावें दिलवाई, जिनमें बैठाकर उन्हें इलाहाबाद भेजा। आपके सिपाहियों ने मुझ पर आक्रमण किया। मैंने अपने सिपाहियों से अनुनय–विनय कर उन्हें रोका और 200 अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों की जानें

बचाई। मैंने सुना है कि जब मेरे सिपाही कानपुर से भाग आए और मेरा भाई घायल हो गया, तो आपके सिपाहियों और बदमाशों ने उन्हें मार डाला। इसके बाद मैंने उस इश्तहारनामे के बारे में सुना जिसे आपने प्रकाशित किया था और मैंने आपके साथ लड़ने की तैयारी की। तब से मैं आपके साथ लड़ता रहा हूं और जब तक जीवित हूं, लड़ता रहूंगा। आप अच्छी तरह जानते हैं कि मैं हत्यारा नहीं हूं। न मैं अपराधी हूं और न आपने मेरे संबंध में कोई आदेश पारित किया है। मेरे अलावा आपका और कोई शत्रु नहीं है और मैं जब तक जीवित हूं, लडूंगा। मैं भी एक आदमी हूं। मैं आपसे दो कोस की दूरी पर रहता हूं। यह एक आश्चर्य की बात है कि आप जैसा एक महान और शक्तिशाली राष्ट्र दो वर्ष से मेरे साथ लड़ता रहा है और मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सका है, विशेषतः तब जब कि मेरे सैन्य दल मेरी आज्ञा का पालन नहीं करते और मेरे अधिकार में कोई देश नहीं है। आपने सबके अपराधों को क्षमा कर दिया है और नेपाल का राजा आपका मित्र है। इस सबके होते हुए भी आप कुछ नहीं कर सके हैं। सबको अपनी ओर मिला लिया है। मैं ही केवल बचा हूं, परंतु आप देखेंगे कि जिन सिपाहियों को मैं दो वर्ष से बचा कर रख रहा हूं, वे क्या–क्या कर सकते हैं? हम मैदान में मिलेंगे और फिर मैं अधिक खून बहाऊंगा जो घुटनों तक गहरा होगा। मैं मरने के लिये तैयार हूं। यदि अंग्रेज जैसे शक्तिशाली राष्ट्र के लिये मैं अकेला ही शत्रु होने के योग्य हूँ, तो यह मेरे लिये एक बड़े सम्मान की बात है। मेरे हृदय की प्रत्येक इच्छा पूरी हो चुकी है। मृत्यु तो एक दिन आनी ही है, फिर मुझे किसका डर है? परंतु आप यह समझ लें कि जिन लोगों को आपने अपनी ओर मिलाया है, वे ही नियत दिन पर आपके विरुद्ध हो जाएंगे और आपको मार देंगे। आप बुद्धिमान हैं, परंतु अपनी बुद्धिमता के कारण ही आप गलती कर गए हैं।

सन् 1859 का नाना साहब का यह पत्रांश सन 1857 के विभिन्न आयामों पर रोशनी डालता है। साथ ही, यह विकट से विकट परिस्थिति में भी 'मानवता और स्वतंत्रता को सर्वोच्च प्राथमिकता देने के भारतीय दर्शन को प्रतिबंधित करता है। इस पत्र से नाना साहब के स्पष्ट विचार और असंदिग्ध लक्ष्य का पता चलता है। साथ ही सम्पूर्ण 1857 की हकीकत को यह चन्द पॅक्तियों में सुस्पष्ट कर देता है जो इस विषय पर लिखी गई सैकडों पुस्तकें नहीं कर सकी। भारतीय जनता सन् 1857 ई0 में मानवता और स्वतंत्रता दोनों की रक्षा के लिये महासंघर्ष कर रही थी। सन् 1857 के महासंघर्ष की व्यापकता का अनुमान हम इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि सन् 1859 में भी नाना साहब जैसे शीर्ष भारतीय नेता स्वतंत्रता के लिये ही संघर्ष कर रहे थे। उसके बाद भी संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। यह महासंघर्ष नयी क्रांति का 'बीजारोपण' पूरे देश में कर भारतीय धरती को आज़ादी हासिल करने के लिये झकझोर चुका था। शैक्षणिक, सांस्कृतिक आध्यात्मिक और राजनीतिक नवजागरण की नींव पड़ चुकी थी। स्वामी दयानंद सरस्वती से लेकर स्वामी विवेकानंद तक अनेक महर्षियों ने, लाल–बाल–पाल से लेकर खुदीराम बोस, भगत सिंह, सुभाषचंद्र बोस सरीखे सैकड़ों क्रांतिवीरों ने, भारतेंदु से लेकर गणेश शंकर विद्यार्थी और इकबाल तक अनेक बुद्धिजीवियों–लेखकों–शायरों ने और महात्मा गांधी, अली बंधु, जवाहर लाल नेहरू जैसे परिपक्व नेताओं की व्यापक सूझबूझ ने अंततः सन् 1947 ई. में भारत को उसकी अस्मिता वापस दिलाई।

नाना साहब से जुड़े दो उदाहरण सन् 1857 के संघर्षों की व्यापकता को समझने में सहायक हो सकते हैं। एक ओर नाना साहब कहते हैं, "अपना प्रभाव क्षेत्र हिराज से

सिंगापुर तक तथा हिराज से लंका तक होना चाहिए। जावा, सुमात्रा व बाली द्वीप हमारे ही बंधु देश हैं। काबुली, पठान व मलिक अपने ही भाई हैं। मुसलमानों के साथ बराबरी का बर्ताव होना चाहिए। वे अपने ही भाई हैं। जब हम सब एक होंगे, उसी दिन अपना ध्येय पूर्ण होगा।'' वस्तुतः सुभाषचंद्र बोस से पहले नाना साहब ने ही भारतीय हितों के लिये यूरोप और एशिया के अनेक देशों को भारतीय संघर्ष की ओर आकृष्ट किया था। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को एक साथ मिलकर अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ने के लिये प्रेरित किया। स्वतंत्रता हासिल करने के लिये उनके पास ठोस रणनीति थी, लेकिन निर्धारित समय के अंदर उनके राजनीतिक लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। उन्होंने स्वयं लिखा है – ''मैं सारे देश की स्वतंत्रता के लिये जिया और लड़ा। इन दुष्ट रजवाड़ों ने अपने स्वार्थ के लिये देश को अंग्रेज़ों के हवाले कर दिया, नहीं तो इन फिरंगियों की हमारे सामने क्या बिसात थी?...''

बहरहाल, नाना साहब का यह कहना कि "जब हम सब एक होंगे, उसी दिन अपना ध्येय पूर्ण होगा" अंततः 'ध्येय' पूर्ण करने में सफल रहा। सन् 1857 की क्रांति की सबसे बड़ी उपलब्धि थी देश में राष्ट्रीयता और 'सुराज' की भावना का व्यापक रूप से प्रस्फुटन, हिंदुओं और मुस्लिमों के साथ–साथ अंततः विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों में स्वतः स्फूर्त एकता का जन्म, जनांदोलनों के युग का सूत्रपात और राजनीतिक सार्वभौमिक जागरण का आगमन तथा अंततः भारत को छोड़ने के लिये ब्रिटिश बुद्धिजीवियों का चिंतन–मनन दबाव और भारत पर ब्रिटिश शासन प्रणाली में तत्काल व्यापक परिवर्तन। 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रीय एकता' के जन्म ने अंग्रेज़ों की नींद उड़ा दी। इसलिये सन् 1857 की क्रांति को कुचलने के बाद उन्होंने विभिन्न धर्मों में वैमनस्य और भ्रम पैदा करने की कोशिश की और सुनियोजित तरीके से भारतीय भाषाओं को पीछे कर अंग्रेजी शिक्षण माध्यम का विस्तार किया। भारतीय किसान, मज़दूर, छोटे व्यापारी जब उनके हाथ से निकल गए तो ब्रिटिश रणनीतिकारों ने भारतीय बुद्धिजीवियों और संपन्न वर्गों को अपने प्रभाव में लेने का आखिरी प्रयास किया और इसके लिये उसने शासन–प्रणाली और उच्च शिक्षा में भारतीयों की हिस्सेदारी बढाने के साथ–साथ आधुनिक सोच से युक्त भारतीय युवाओं के लिये विदेश यात्रा और विदेश में अध्ययन तथा सामंतवादियों को पुरस्कृत–सम्मानित करने का चलन आरंभ किया। रेल, विश्वविद्यालय, बड़े उद्योग, सड़क, पुल, रेडियो, क्लब, डाक संचार आदि का देश में विकास उसने ऊपर से भारतीयों को रिझाने के लिये किया, लेकिन अंदर ही अंदर उसने अपने व्यापारिक साम्राज्य को विस्तार देने का लक्ष्य हासिल करना शुरू किया। लेकिन इसी समय प्रौद्योगिक और वैचारिक रूप से एक और क्षेत्र का विकास जन संचार बड़ी तेज़ी से हुआ। वह क्षेत्र था और विशेष रूप से पत्रकारिता का। कार्ल मार्क्स और राकोवस्की जैसे विदेशी लेखकों–पत्रकारों ने यदि भारत के सन् 1857 के बारे में पूरी दुनिया को सचेत किया तो उसमें अखबारों का बहुत बड़ा योगदान था।

अंग्रेजों ने 1857 की क्रांति को कुचलने के प्रयास में भारतीय प्रेस का भी गला घोंटने का प्रयास किया। लेकिन अल्पकालिक पत्रकारिता में क्रांतिकारी वैचारिक विकास बाधाओं को झेल लेने के बाद भारतीयकरण हुआ और आगे चलकर सन् 1942 की क्रांति समेत संपूर्ण स्वतंत्रता आंदोलन का यह प्रमुख हथियार और संवाहक बना। बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, महात्मा गांधी, गणेश शंकर विद्यार्थी, भगत सिंह सरीखे सभी प्रमुख सेनानियों ने 'कलम' का व्यापक इस्तेमाल किया। अतः सन् 1857 की 'जागृति' ने

भारतीय प्रेस के लिये भी स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्यधारा में उतरने की प्रेरक परिस्थिति को जन्म दिया। उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक संपूर्ण भारत में सन् 57 की जागृति का प्रभाव दिखा। यह मानना आसान नहीं है कि तब दिल्ली समेत भारत का एक बड़ा भू–भाग कुछ समय के लिये अस्थायी रूप से स्वतंत्र हो गया था। लेकिन यह तथ्य उतना ही हकीकत है जितना कि सन् 1947 में भारत का स्थायी रूप से आजाद हो जाना। सन् 1857 में जन्मी हिंदू–मुस्लिम एकता ब्रिटेन के सीने में खंजर की तरह लगातार चुभन पैदा करता रहा। इसीलिये अगले 90 वर्षों तक उसने अपनी प्राथमिकता में इस एकता में दरार पैदा करने का लक्ष्य भी शामिल किए रखा, और अंततः जाते–जाते वह झुंझलाहट में धर्म के नाम पर भारत से अलग एक नया राष्ट्र पाकिस्तान बनाते हुए गया। लेकिन इसके बावजूद वह शेष भारत में बहुधर्मी और बहुसांस्कृतिक विविधता के 'गुलदस्ते' को समाप्त नहीं कर सका और आज भी यह गुलदस्ता उसी तरह सुगंध बिखेर रहा है।

1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का संदेश :

21वीं शताब्दी के तीसरे दशक के मध्य में भी 1857 दस्तक दे रहा है। 1857 की यह दस्तक पहली नहीं है। भारतीय चेतना को झकझोरने, उसे आत्मबोध कराने के लिए 1857 बार–बार दस्तक देता रहा है। 1907 में जब अंग्रेजों ने 1857 की अर्द्धशताब्दी को 'असभ्य, बर्बर भारत पर अंग्रेजी शौर्य और सभ्यता' की विजय के रूप में मनाया, तब इंग्लैंड की धरती पर ही सावरकर के नेतृत्व में युवा भारतीय छात्रों ने उसे देश–भक्ति और राष्ट्रीय स्वाभिमान के पर्व के रूप में मनाया। सावरकर ने गहन शोध करके 1857 को एक ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा प्रदत्त तात्कालिक, लक्ष्यविहीन 'सिपाही विद्रोह' की छवि से बाहर निकाल कर 'सुनियोजित' प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य समर' के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया और 'ओ शहीदों' शीर्षक पेम्प्लेट लिखकरं 1857 के शहीदों का अपने रक्त का तर्पण करने का भीम–संकल्प लिया। बौखलाई–घबराई ब्रिटिश सरकार को उनकी पुस्तक पर प्रकाशन के पूर्व ही प्रतिबंध लगाने की हास्यास्पद स्थिति में धकेल दिया। 1857 की उस दस्तक को सुनकर ही इधर अरविन्द घोष ने जेल से बाहर निकल कर अपने प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण में भारतीय स्वतंत्रता के वैश्विक लक्ष्य को घोषित किया, लगभग उसी समय मोहनदास करमचंद गांधी दक्षिण अफ्रीका में 'हिंद स्वराज' नामक पुस्तिका में भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को राजनीतिक लक्ष्य से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक सभ्यतामूलक लक्ष्य प्रदान किया। 1857 की दस्तक ने मूर्छित भारत के प्राणों में नवचेतना का ऐसा संचार किया कि जिस साम्राज्य को बनाने में अंग्रेजों को 1757 के प्लासी के युद्ध से लेकर 1857 तक सौ साल लगे थे, वह नब्बे साल में ही उखड़ गया।

1957 में अपने शताब्दी वर्ष में 1857 फिर दस्तक देने आया। उस समय हम नव–प्राप्त स्वतंत्रता के जश्न में खोए थे। स्वाधीनता की दहलीज पर पहुंच कर महात्मा गांधी हमें स्वाधीनता आंदोलन की मूल प्रेरणाओं के आलोक में नवनिर्माण की पगडंडियां खोजते छोड़कर चले गए थे। उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी बनकर जवाहरलाल नेहरू भारत को अपनी धारणाओं–कल्पनाओं के सांचे में ढालने में जुटे हुए थे। वे उस समय सोवियत संघ के मॉडल पर पंचवर्षीय योजनाएं, सहकारी बनाम वैयक्तिक कृषि जैसे विवादों में उलझे हुए थे। इसलिए 1857 की दस्तक का मर्म वे समझते भी कैसे? 1957 के प्रति कृतज्ञ भाव से भरे भारत ने खूब 'शताब्दी वर्ष' मनाया। खूब तमाशे हुए, संगोष्ठियां हुईं,

विशेष संस्करण छपे, लेखों की आंधी आ गई। पहली बार 1857 के बारे में नए स्रोतों का अध्ययन हुआ। आर0सी0 मजूमदार ने उसे 'सिपाही विद्रोह' कहा तो उनके शिष्य डॉ0 शशिभूषण चौधरी ने उसे 'जनक्रांति' कहा, सरकारी इतिहासकार एस0 एन0 सेन ने केवल '1857' जैसा नपुंसक शीर्षक देकर अपनी जान बचा ली। 1957 के बाद जो शोध का सिलसिला शुरू हुआ, उसमें से '1857 इन असम', '1857 इन गुजरात', '1857 इन साउथ इंडिया' जैसे शोध ग्रंथों के प्रकाशन ने ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा गढ़े गए इस मिथक को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया कि 1857 के विस्फोट की धमक केवल नर्मदा के उत्तर में गंगा–यमुना के प्रवाह क्षेत्र तक सीमित था। उसका अखिल भारतीय स्वरूप अब उभर आया था। इससे अधिक गहरा संदेश हम उस समय 1857 की दस्तक में नहीं सुन पाए थे।

आज 1857 इस तीसरी दस्तक से हमें क्या सुनाना चाहता है? स्वाधीन भारत की लगभग 65 वर्ष लम्बी यात्रा में से निकला चित्र अब हमारे सामने है। एक विखंडित–भ्रष्ट समाज जीवन के रूप में हमारी छवि है। न्यायपालिका, विधायिका, कार्यपालिका आदि सब संस्थाएं आपस में टकरा रही हैं। देश की राजनीति जाति, क्षेत्र और संप्रदाय की संकीर्ण दलदल में बुरी तरह फंसी हुई है। स्वाधीन भारत इस स्थिति को क्यों प्राप्त हुआ? क्या 1857 की यह दस्तक हमें इसकी 'कारण मीमांसा' करने की प्रेरणा दे रही है? क्या हम भी इसी बहस में उलझे रहे कि 1857 'एक सिपाही विद्रोह' था या 'स्वातंत्र्य समर'? सामन्तवादी विस्फोट था या जनक्रांति? क्या हम पिछले 165 वर्षों में 1857 पर सृजित विशाल वाङ्मय में से शौर्य, बलिदान और प्रतिशोध के कुछ रक्तरंजित पन्नों को ही फिर से दोहराते रहें? क्या करोड़ों रुपये खर्च करके सरकारी तंत्र के हाथ कुछ हजार युवक–युवतियों के एक दिन के लिए लालकिले पर भीड़ जुटा कर, 1857 की क्रांति–चेतना राष्ट्र के प्राणों में प्रवाहित हो सकेगी? 'जाति और धर्म' की रक्षा की वह छटपटाहट जिसने बंगाल नेटिव इंफैन्ट्री के जवानों को अपनी ब्रिटिश निष्ठा त्याग कर संघर्ष और आत्म बलिदान के पथ पर बढ़ने को बाध्य कर दिया था, फिर से पुनर्जीवित हो सकेगी? उस समय अंग्रेजों ने जाति की शक्ति को पहचाना था। 1858 में पील कमीशन ने 1857 के विस्फोट के कारणों की खोज करते हुए 'जाति–चेतना' को ही उसका मुख्य कारण माना था। 1858 में अलेक्जेंडर डफ, बंबई के जॉन विल्सन, मद्रास के हार्डी जैसे ईसाई मिशनरियों, मैक्समूलर, व्हिटने, जॉन म्योर जैसे विद्वानों ने भारत की जाति संस्था पर लेखों और पुस्तकों का ढेर खड़ा कर दिया था। उनका निष्कर्ष था कि जाति की जड़ें बहुत गहरी हैं, उन्हें मिटाया नहीं जा सकता किन्तु जातियों को परस्पर पूरक और सहायक होने से रोका जा सकता है, उनमें स्पर्धा व टकराव की स्थिति पैदा की जा सकती है, इसलिए उन्होंने 1857 से सबक लेकर 1871 से प्रारंभ दस वर्षीय जनगणना, गजेटियर, जाति सर्वेक्षण एवं भाषा सर्वेक्षण द्वारा विशाल संदर्भ साहित्य का सृजन कर भारत की विविधता को नस्ली रंग दिया, नवोदित आर्य आक्रमण सिद्धांत का पूरा– पूरा उपयोग किया। एक ओर अंग्रेजी शिक्षित वर्ग की आंखों में जातिविहीन समाज की रचना का सपना भर दिया दूसरी ओर आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक–सभी प्रकार के आंकड़ों का जाति के आधार पर वर्गीकरण ने जातीय स्पर्धा की भावना को गहरा किया। बंगाल नेटिव इंफैन्ट्री को विसर्जित कर सेना का जातीय आधार पर पुनर्गठन किया। 1861 के काउंसिल एक्ट से तथाकथित संवैधानिक सुधार की

प्रक्रिया का श्रीगणेश किया, जिसकी परिणति 1935 के 'भारत सरकार एक्ट' में हुई और उसी का विस्तार 1950 के संविधान में हुआ। 1857 में ही कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। 1957 के बाद भारतीय समाज को निःशस्त्र कर दिया गया। भारत के दिल में दहशत बिठाने के लिए भीषण दमन का दौर चला। बनारस से इलाहाबाद तक गंगा तट के दोनों किनारों पर प्रत्येक पेड़ पर क्रांतिकारियों की लाशें उल्टा लटका दी गईं।

अकेले लखनऊ शहर में 20,270 भारतीयों ने अपने प्राण खोए। अपनी इस बर्बरता को उन्होंने 1859 में चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित 'विकासवाद के सिद्धांत' के आधार पर बर्बर भारत पर योग्यतम पश्चिमी सभ्यता का विजय बताया। 1857 की सैनिक विजय को स्थाई बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विजय में परिणत कराना चाहा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता में से उपजी संस्थाओं को आरोपित किया। भारतीय राजनीतिक एजेंडा पूरी तरह अंग्रेजों के हाथ में चला गया। गांधी ने पहली बार उस एजेंडा को छीनने की कोशिश की। भारतीय जीवन दर्शन के आधार पर नई संस्थाओं के सृजन का आह्वान किया, किन्तु स्वाधीन भारत 1857 की विफलता के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा निर्मित संस्थाओं के जाल में ही फंसा रह गया और आज की दुर्दशा को प्राप्त हुआ। आज 1857 की तीसरी दस्तक का संदेश है कि भारत आत्मालोचन करे और सृजन के लिए नए रास्ते, नई रचनाओं की खोज करे।

भारत में राष्ट्रवाद के उत्थान के लिए उत्तरदायी परिस्थितियॉं
Factors leading to the Growth of Nationalism in India

15 अगस्त 1947 को भारत की ब्रिटिश शासन से मुक्ति एक कठिन संग्राम का परिणाम था जो विभिन्न अवस्थाओं से गुजरने के बाद पूरा हुआ था। ब्रिटिश शासनकाल के अन्तर्गत विभिन्न कारणों से भारतीय जनता में राष्ट्रीय जागृति की भावना का उदय हुआ। ब्रिटिश शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया और उसे उखाड़ फेकनें के विचार में ही स्वतंत्रता आन्दोलन का बीज नीहित है।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की गणना आधुनिक समाज के सबसे बड़े आंदोलनों में की जाती है। विभिन्न विचारधाराओं और वर्गों के करोड़ों लोगों को इस आंदोलन ने राजनीतिक रूप से सक्रिय होने के लिए प्रेरित किया और शक्तिशाली औपनिवेशिक साम्राज्य को घुटने टेकने के लिए विवश किया। इसलिए जो लोग मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे को बदलना चाहते हैं, उनके लिए दुनिया के अन्य राष्ट्रीय आन्दोलन की तरह इसकी भी प्रासंगिकता है।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न पहलू – ख़ास तौर से गाँधीवादी राजनीति की रणनीति – उन समाजों में चलाए जाने वाले आंदोलनों के लिए विशेष रूप से सार्थक हैं, जो समाज कानूनी ढांचे के अंतर्गत कार्य करते हैं तथा लोकतांत्रिक और मूलतः नागरिक स्वतंत्रता वाली राज्यव्यवस्था जिन समाजों की विशेषता मानी जाती है लेकिन दूसरे समाजों के लिए भी इसकी सार्थकता है। हम सब इस बात को भली–भॉंति जानते हैं कि दुनिया के अनेक राष्ट्रीय आन्दोलनों में गाँधीवादी रणनीति के कुछ तत्त्वों को शामिल किया है।

वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन लोकतांत्रिक पद्धति के राजनीतिक ढाँचे की अकेली वास्तविक ऐतिहासिक मिसाल पेश करता है, जिस ढाँचे को सफलतापूर्वक बदला या रूपांतरित किया जा सकता है। अपने तरह का यह एकमात्र आंदोलन है जहाँ राजसत्ता पर क्रांति के ज़रिए एक ख़ास ऐतिहासिक क्षेत्र में कब्ज़ा नहीं किया गया बल्कि इसके विपरीत, नैतिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक, तीनों ही स्तरों पर लंबे जनसंघर्ष चलाकर इसको हासिल किया गया; जहाँ अनेक वर्षों में धीरे–धीरे जबाबी राजनीतिक नेतृत्व की शक्ति संचित की गई तथा जहाँ संघर्ष और शांति के दौर बारी–बारी से आते–जाते रहे।

सार्वजनिक उद्देश्य का व्यापक आंदोलन किस प्रकार खड़ा किया और चलाया जाता है, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन संभवतः इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। इस आंदोलन में अनेक रंगतों वाली राजनीति और कई तरह की विचारधाराएं साथ–साथ काम कर रहीं थीं। साथ ही ये विचारधाराएं राजनीतिक नेतृत्व पर वर्चस्व कायम करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा भी कर रही थीं। इस आंदोलन में जहाँ सभी आधारहीन मुद्दों पर ज़ोरदार बहस की इज़ाज़त थी, वहीं इसकी विविधता और इसके भीतर आपसी तनावों के कारण

इसकी एकता और इसकी प्रहार शक्ति कमज़ोर नहीं थीं। इसके विपरीत, इसकी विविधता और इसमें बहस तथा स्वतंत्रता का वातावरण, इसकी शक्ति के मुख्य स्रोत थे।

आज़ादी मिलने के 75 वर्षों बाद भी आज हम स्वतंत्रता संग्राम के इतने क़रीब हैं कि इसके उत्साह को आज भी महसूस कर सकते हैं, हमें इस बात का गर्व भी है कि इसकी पृष्ठभूमि हमारी आँखों के सामने है। लेकिन निश्चित रूप से हमें आज इसका विश्लेषण करना चाहिए क्योंकि हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य अविभाज्य रूप से इसके साथ जुड़े हुए हैं। हर युग और समाज में स्त्री–पुरुष अपना इतिहास खुद बनाते हैं लेकिन इसकी रचना किसी ऐतिहासिक शून्य में नहीं होती है। उनके प्रयास कितने प्रवर्तक क्यों न हों, वर्तमान में अपनी समस्याओं के समाधान तलाशने में और अपने भविष्य की रूपरेखा बनाते समय, वे अपने– अपने इतिहास से उत्तराधिकार में प्राप्त आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक संरचनाओं से निर्देशित, नियंत्रित और अनुकूलित होते हैं। यदि मैं अपनी बात स्पष्ट करना चाहूँ तो कहूँगा कि आजादी के बाद इन 75 वर्षों में हमने जो कुछ भी उपलब्धियॉ अर्जित की है, उसकी जड़ें आज़ादी की लड़ाई में गहराई तक समाई हुई हैं। जिन राजनीतिक और विचारधारात्मक विशेषताओं का स्वतंत्रता के बाद विकास पर निर्णायक प्रभाव पड़ा, उनमें से अधिकांश स्वतंत्रता संग्राम की विरासत हैं।

दरअसल भारत के स्वतंत्रता संग्राम की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? वे मूल्य और आधुनिक आदर्श, जिनको आधार बनाकर यह आंदोलन खड़ा किया था, और इसके नेताओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिकल्पना इस आंदोलन के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। यह परिकल्पना लोकतांत्रिक, नागरिक स्वतंत्रता वाले धर्म–निरपेक्ष भारत की थी, जिसका आधार आत्मनिर्भरता, समतावादी समाज व्यवस्था और स्वतंत्र विदेश नीति थी। इस आंदोलन ने भारत में जनतांत्रिक विचारों और संस्थाओं को लोकप्रिय बनाया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कभी भी अंतर्मुखी नही था। राजा राममोहन राय के समय से ही भारतीय नेताओं ने एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास किया था।

हमारे विचार से भारत का मुक्ति संग्राम मूलतः भारतीय जनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के हितों के बीच आधारभूत अंतर्विरोधों का नतीजा था। एकदम शुरू से ही भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने इन अंतर्विरोधों को समझा था। इस बात को समझने की उनमें क्षमता थी कि भारत अल्प विकास की प्रक्रिया से गुज़र रहा है। समय रहते उन्होंने उपनिवेशवाद के वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति का विकास किया। औपनिवेशिक प्रजा के रूप में भारतीय जनता का अनुभव लेकर और उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के सामान्य हितों को पहचान कर राष्ट्रीय नेताओं ने क्रमशः एक सुस्पष्ट उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा विकसित की जिसको उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का आधार बनाया। आंदोलन को व्यापक जनाधार प्रदान करने वाले चरण में उपनिवेशवाद विरोधी इस विचारधारा और उपनिवेशवाद की आलोचना को प्रचारित किया गया।

ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी राष्ट्रीय आंदोलन की केंद्रीय भूमिका थी जिसके माध्यम से भारतीय जनता ने अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित किया। दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और तिलक से लेकर गाँधीजी और जवाहरलाल नेहरू तक, राष्ट्रीय नेताओं ने स्वीकार किया कि भारत पूरी तरह से सुसंगठित राष्ट्र नहीं है, यह ऐसा राष्ट्र है, जो

बनने की प्रक्रिया में है और उन लोगों ने यह भी माना कि आंदोलन का एक प्रमुख उद्देश्य और कार्य उपनिवेशवाद विरोधी आम संघर्ष के ज़रिए भारतीय जनता की बढ़ती हुई एकता को आगे ले जाना था। दूसरे शब्दों में कहें तों राष्ट्रीय आंदोलन उभरते हुए राष्ट्र की प्रक्रिया का परिणाम और उस प्रक्रिया का सक्रिय कारण दोनों ही था। भारत की क्षेत्रीय, भाषाई, प्रजातीय पहचान कभी भी इसके राष्ट्र बनने की प्रक्रिया के विरोध में नहीं खड़ी हुई। इसके ठीक विपरीत राष्ट्रीय अस्मिता के उत्थान के साथ ही ये अन्य छोटी अस्मिताएँ भी उभरीं और इन दोनों से एक–दूसरे को शक्ति प्राप्त हुई।

वास्तव में, भारतीय जनता की त्याग और बलिदान की क्षमता में अगाध आस्था पर यह आंदोलन टिका था लेकिन साथ ही वह इसकी क्षमता की सीमाओं से भी परिचित था, इसीलिए इसने अवास्तविक और स्वच्छंद कल्पना पर आधारित कोई माँग नहीं रखी। इन सारी बातों के बाद भी जहाँ कैडर पर आधारित आंदोलन, प्रतिभाशाली व्यक्तियों पर निर्भर कर सकता है, जिनमें अपूर्व त्याग की क्षमता हो, किंतु असाधारण प्रतिभा वाले व्यक्तियों और नेताओं के होने बावजूद एक जन–आंदोलन को अपनी जनता पर, उसकी सारी शक्ति और सीमाओं के साथ, भरोसा करना होता है, इसलिए कि इस सामान्य जनता को असाधारण कार्य करना होता है। गाँधीजी ने के0 एफ0 नरीमन से 1934 में कहा था– "राष्ट्र के पास जो ऊर्जा है, उसका अंदाज़ा आपको नहीं है, लेकिन मुझे है।" लेकिन आगे उन्होंने यह भी कहा कि "नेतृत्व को इस ऊर्जा पर अनावश्यक बोझ नहीं डालना चाहिए। ' भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने जनआन्दोलन के रूप में अनेक प्रकार के लोगों की क्षमता, प्रतिभा और ऊर्जा का प्रयोग किया और इस आन्दोलन में सबके लिए जगह थी। इस आन्दोलन में लोगों ने अनेक रूपों में भाग लिया और इसके जरिए उन लोगों ने अपनी नवाचारी शक्ति और पहल की क्षमता को पूरी तरह अभिव्यक्त किया।

राष्ट्रवाद का अर्थ –

अन्य सामाजिक तथ्यों की तरह राष्ट्रवाद भी ऐतिहासिक तथ्य है। लोक जीवन के विकास के क्रम में वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ दोनों प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों की परिपक्वता के पश्चात राष्ट्रवाद का उदय हुआ। जैसा कि ई0एच0 कार ने कहा– '' सही अर्थों में राष्ट्रों का उदय मध्ययुग की समाप्ति पर ही हुआ।'' भारतीय राष्ट्रवाद के विस्तृत अध्ययन से पूर्व राष्ट्र और राष्ट्रवाद क्या है, उसका अर्थ क्या है, के सम्बन्ध में जान लेना उपयुक्त होगा। राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय एकता का पर्याय है। गार्नर ने राष्ट्र की परिभाषित करते हुये लिखा है कि– ''एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण चेतन और दृढ़ निश्चयी हो।'' इस प्रकार जब इन बन्धनों से संगठित जनता के बीच राष्ट्रीय भावना पैदा होती है और वह उस भावना से प्रेरित होकर राजनीतिक एकता और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने लगता है तो इस स्थिति को राष्ट्रीय जागरण की स्थिति कहते है। दूसरे शब्दों में कहे तो जब किसी राष्ट्र के नागरिक स्थान, वेशभूषा, खान–पान, रहन–सहन, भाषा–साहित्य, मूल्य, मान्यताओं, जाति समूह और धर्म आदि के अन्तर होते हुए भी सभी को एक समझते हैं और राष्ट्रहित के समक्ष अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों का परित्याग करते हैं, यही भावना राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता कहलाती है।

प्रसिद्ध समाज विज्ञानी बुबेकर राष्ट्रीयता को परिभाषित करते हैं– "साधारण रूप में राष्ट्रीयता देश प्रेम की अपेक्षा देशभक्ति के अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करती है। राष्ट्रीयता में स्थान के सम्बन्ध के साथ–साथ जाति, भाषा, इतिहास, संस्कृति और परम्पराओं के सम्बन्ध भी प्रदर्शित होते हैं।"

.डॉ0 हुमायूँ कबीर राष्ट्रीयता को अपने शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं– "राष्ट्रीयता वह है जो राष्ट्र के प्रति अपनत्व की भावना पर आधारित होती है।"

इन सभी परिभाषाओं से राष्ट्रवाद का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। इनके आधार पर हम निष्कर्ष निकालते हैं कि राष्ट्रीयता की भावना में देश प्रेम के तत्त्व नीहित होते हैं जो देश के विविध मतावलम्बी निवासियों को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास करते हैं। सच्ची राष्ट्रीयता वही है जिसमें व्यक्ति देशहित व राष्ट्रहित के लिए सभी कुछ त्याग देने के लिए तत्पर रहता है। यदि यह कहा जाए कि किसी राष्ट्र के अस्तित्व का राष्ट्रीयता मूल अंग है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भारतीय राष्ट्रवाद का उदय

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद भारत के लिए नया नहीं है। भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में एक रोचक तथ्य यह है कि इसका अभिर्भाव राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ। अंग्रेज इतिहासकारों ने तो पहले भारत में राष्ट्रीयता के अस्तित्व को मानने से ही इनकार कर दिया था। 1883 ई0 में जे0 आर0 सीले भारत को एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' मात्र मानता था, जिसमें राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं थी। 1884 में जान स्ट्रैची ने भी कैंब्रिज विश्वविद्यालय के भूतपूर्व छात्रों को बताया था कि भारत के बारे में सबसे पहली और प्रमुख जानने योग्य बात यह है कि 'भारत न एक है और न एक था।' लेकिन जब 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के पहले दशक में भारतीय राष्ट्रवाद उभरकर शक्तिशाली हो रहा था, तो अंग्रेजों ने इसका श्रेय खुद लेना चाहा। तर्क दिया कि भारत में राष्ट्रवाद के उत्थान को आद्यौगिकीकरण, नगरीकरण और मुद्रण पूँजीवाद से बढ़ावा मिला। मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने दावा किया था कि– "राजनीतिक भावना से प्रेरित भारतीय बौद्धिक रूप से हमारी ही संतान हैं। उन्होंने वे ही विचार अपनाये हैं, जो हमने उनके सामने रखे हैं और इसका श्रेय हमें ही मिलना चाहिए। कूपलैंड ने स्पष्ट लिखा था 'भारतीय राष्ट्रवाद तो अंग्रेजी राज की ही संतति थी।" इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद से जुड़े अधिकांश इतिहासकारों का तर्क रहा है कि आधुनिक अर्थ में भारतीय राजनीतिक राष्ट्र ब्रिटिश राज की स्थापना के पहले मौजूद नहीं था।

जिस समय अंग्रेज यहॉ आए उस समय भारत एक राष्ट्र नही था क्योंकि भारतीय सन्दर्भ में राष्ट्रवाद आधुनिक युग की चीज है। ब्रिटिश शासन और विश्व शक्तियों की वजह से, साथ ही भारतीय समाज में उत्पन्न एवं विकसित विभिन्न आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ कारणों की क्रिया–प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिश काल में भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। लेकिन हम ब्रिटिश आलोचकों के उस तथ्य को भी स्वीकार नही कर सकते कि भारत में उन सभी आधारभूत तत्वों का अभाव था जो एक राष्ट्रीयता के पनपने में सहयोगी होते है। यह तर्क भी सही नही है कि भारत के विस्तार और विविधता की वजह से यहॉ एक समन्वित राष्ट्र के उभरने की संभावना नही थी। वास्तव में अनुकूल

परिस्थितियॉ उत्पन्न होने पर यह एक राष्ट्र बन सकता था और ये अनुकूल परिस्थितियॉ भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान उत्पन्न हुई।

किंतु भारत में राष्ट्रीय चेतना वेद काल से अस्तित्वमान है। पौराणिक ग्रन्थों, उपनिषदों, वेदों में कई मन्त्र, ऋचाएँ, स्मृतियाँ सिर्फ राष्ट्र की अवधारणा को स्पष्ट करने मात्र के लिए हैं। यजुर्वेद के एक मंत्र में सारे देशवासियों के हितार्थ योग क्षेम की कामना की गई है। योग क्षेम से तात्पर्य है– भौतिक एवं आध्यात्मिक समन्वित समृद्ध जीवन; यानी राष्ट्र के सभी वर्गों का अभ्युदय। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में धरती माता का यशोगान किया गया हैं– माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः अर्थात भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। विष्णुपुराण में तो राष्ट्र के प्रति श्रद्धाभाव अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है। इस ग्रंथ में भारतभूमि का यशोगान पृथ्वी पर स्वर्ग के रूप में किया गया है।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महागने ।
यतोहि कर्म भूरेषा हातोऽन्या भोग भूमयः ॥
गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत–भूमि भागे।
स्वपिस्वगस्पिदमार्गे भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

इसी प्रकार महाभारत, गरुड पुराण, रामायण आदि ग्रंथों में भारतभूमि की महिमा का बखान किया गया है और जननी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी महान् बताया गया है। स्पष्ट है कि भारत में राष्ट्रवाद का जन्म और विकास कोई नई और अपरिचित प्रक्रिया नहीं थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता की अवधारणा के लिए समाहित तत्त्व– मातृभाषा, संस्कृति और मातृभूमि– पूर्णतः भारत के लिए राष्ट्रीयता के पुरातनकालिक सम्बन्धों को उजागर करते हैं। इन सबके बावजूद राष्ट्रीयता तभी फलीभूत होती है जब राष्ट्र प्रभुता सम्पन्न और लोकतान्त्रिक हो।

ऐसा माना जाता है कि बहुत पहले ही भारतीय समाज एक निजी सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने राष्ट्रत्व की कल्पना करने लगा था। 19वीं सदी के आरंभिक वर्षों के भारत में क्षेत्रीय आधार पर ऐसी भावनाओं का विकास होने लगा था, जब जन्मभूमि की परिभाषा देश या वतन के रूप में की जाने लगी थी। संचार के विभिन्न साधनों के विकास के कारण भी उनका अलगाव भंग हुआ और सांस्कृतिक बाधाएँ व्यापार और नियमित तीर्थयात्राओं के कारण धीरे–धीरे समाप्त होने लगीं। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना वर्चस्व स्थापित किया, तो यह प्रारंभिक देशभक्ति प्रतिरोध की अनेक कार्यवाइयों में फूटकर सामने आई, जिसका चरमोत्कर्ष 1857 की क्रांति था। क्रांति के बाद भारत में शिक्षा के तीव्र प्रसार, रेल और तार जैसी संचार व्यवस्थाओं के विकास तथा औपनिवेशिक संस्थाओं के कारण उत्पन्न कर्मक्षेत्र के कारण धीरे–धीरे राजनीति का यह आधुनिक स्वरूप सामने आया। यद्यपि पुराना 'देशप्रेम' पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ, किंतु उसे नये सिरे से ढालकर एक ऐसी नई उपनिवेशी आधुनिकता पैदा की गई, जो पश्चिम की आधुनिकता से भिन्न थी।

इस ऐतिहासिक संग्राम के विरुद्ध फिरंगियों ने कठोर नियम, कानून लागू किये। थामसन, गैरेट, और मैलेसन द्वारा लिखित कुछ अंश अंग्रेजी दमन नीति को स्पष्ट करते हैं– "हर एक हिन्दुस्तानी जो अंग्रेजों की तरफ से नहीं लड़ रहा था, उसे हत्यारा माना जाए। दिल्ली निवासियों का कत्ले–आम किया जाए।" इससे सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीयता की धूम मच गई और जनक्रान्ति को अपेक्षाकृत अधिक बल मिला। अंग्रेजी शासकों ने क्रान्ति के बाद समय–समय पर शासन व्यवस्था में कुछ सुधार किए और शासन के कार्यों में थोड़ा–थोड़ा भारतीयों का सहयोग लेना आरंभ किया। लेकिन सुधारों की गति बहुत धीमी थी अतः राष्ट्रवाद की कोपलें तेजी से पल्लवित होने लगीं। कई स्वयंसेवी, राष्ट्रीय राजनीतिक संगठनों का सूत्रपात हुआ। भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक संगठनों की स्थापना में सबसे अहम भूमिका इलबर्ट बिल की रही। इसके अनुसार भारतीय न्यायाधीशों को भी यूरोपीय अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार दे दिया गया था। अंग्रेजों ने इस बिल का विरोध किया। हेनरी कॉटन के अनुसार– यूरोपियनों द्वारा इस न्याय संगत कानून का विरोध करने पर भारतीयों को राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुई जिसके माध्यम से वे अपनी आवाज सरकार तक पहुँचा सकें। इस कड़ी में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सन् 1876 में इंडियन एसोसियेशन की स्थापना की। सन् 1883 के अन्तिम माह में कलकत्ता में एक राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें एक अखिल भारतीय संगठन को मूर्त रूप देने की अनुशंसा की गई। तात्कालिक गवर्नर जनरल लॉर्ड डफरिन ने भारतीयों की योजना का अनुमोदन किया। डफरिन के कथनों से आश्वस्त होकर सर ए0 ओ0 ह्यूम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों एवं अन्य पचास शिक्षित नवयुवकों से स्वातन्त्र्य हितार्थ अपील की, जिसके फलस्वरूप 28 दिसम्बर 1885 को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की नींव पड़ी।

बाद के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का इतिहास बन गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष में राष्ट्र के समस्त वर्गों ने एकजुट होकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक संघर्ष किया। राष्ट्रवाद की संकल्पना के विकास में स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, गोखले, लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द, रविन्द्रनाथ ठाकुर, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू ने महती भूमिका का निर्वहन किया। एक ओर राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता का संघर्ष व्यावहारिक रूप से लड़ा गया तथा दूसरी ओर राष्ट्रवाद का सैद्धान्तिक धरातल विकसित किया गया।

आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास

स्वतंत्र रहना मनुष्य का प्रकृत धर्म है परन्तु जागरूकता के अभाव में स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रह पाती। हर्षवर्द्धन के राज्य काल (606–648 ई०) के बाद भारत में देश–प्रेम की उत्कृष्ट भावना का ह्रास होता गया। सैकड़ों वर्षों तक राष्ट्रीय एकता का अभाव रहा। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तक जन–सामान्य के बीच राजनीतिक चेतना का उदय नहीं हो पाया था। अपनी स्थितियों एवं शिकायतों को प्रभावकारी रूप में व्यक्त करने के लिए उनलोगों ने किसी मंच अथवा संस्था तक का गठन नहीं किया। इस प्रकार के राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीन से हो गये थे। जनता में न तो राष्ट्रीयता की उग्र भावना थी और न ही पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए उसकी ओर से कोई ठोस कार्यक्रम बन रहा था।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए कि लोग इस शासन–व्यवस्था से संतुष्ट और प्रसन्न थे। उनमें असंतोष था और वे अपने शासक के शोषण और अत्याचार से अत्यंत दुःखी थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट होकर न सही, पर छिटफुट रूप से विभिन्न समुदाय के लोगों ने अपने क्षोभ को कई बार प्रकट किया था। किसानों, आदिवासियों, संन्यासियों आदि की ओर से तो विद्रोह भी हुआ था। 19 मार्च 1938 ई० को कलकत्ता के नगर भवन में भूमिपतियों की समिति का जो उद्घाटन समारोह हुआ था उसका मूलोद्देश्य भी राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना ही था । परन्तु क्रांति की सफलता के लिए जिस संगठन एवं एकता की अपेक्षा थी वह लोगों में विद्यमान नहीं रहा और व्यापक स्तर पर एकजुट होकर कभी आन्दोलन नहीं कर सके। इसी से अँग्रेजी शासन भारत में जमता गया और सामान्य झोंकों से उसकी नींव को उखाड़ फेंकना संभव नहीं रहा। फिर भी, देशवासियों में संकीर्णता और दासता के भार से मुक्त होने की आकुलता विद्यमान थी।

विदेशी शासकों ने भारत में प्रवेश के दौरान सम्पूर्ण भारत का राष्ट्रीय एकीकरण किया। देशवासियों में एकता की भावना जाग्रत की एवं भारत को अखण्ड एक इकाई बनाया। एकता के स्वर दुनिया के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के प्रणेता ऋषियों की वाणी में ही प्रस्फुटित हो चुके थे। इतना अवश्य था पुरातन काल में राष्ट्रवाद मात्र भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक ही सीमित था। राजनीतिक एकता का अस्तित्व प्राचीन भारत में नहीं था। राष्ट्रवाद की आधुनिक संकल्पना के अनुसार 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता भारत में अस्तित्व में आई अर्थात राजनीतिक एकता का सूत्रपात 19वीं शताब्दी में ही हो पाया। विभिन्न आंदोलनों, भारतीय विचारकों, साहित्यकारों और विभिन्न घटनाओं ने राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला को अधिकाधिक भड़काया। भारत के राष्ट्रवाद की गति और शक्ति को समूल नष्ट करने के लिए अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक झगड़े फैलाना शुरू किया एवं "फूट डालो और राज करो" की नीति अपनाई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीयता की लहर अनवरत बढ़ती रही और अन्ततः भारतीय राष्ट्रवाद के हाथ विजय पताका लग ही गई।

क्या भारतीय राष्ट्रवाद अँग्रेज़ों की देन है?

अँग्रेज़ों का यह दावा ग़लत है कि भारतीय राष्ट्रवाद अँग्रेज़ी शासन की देन है। यह प्रश्न कई बार उठाया जा चुका है कि यदि अँग्रेज़ी शासन यहाँ न होता तो क्या भारत में राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आंदोलन जन्म ले पाता ? दूसरे शब्दों में इनका अभिप्राय यह था कि भारत में राष्ट्रीय जागरण के लिए भारतीयों को नहीं वरन् खुद अँग्रेज़ों को ज़िम्मेदार समझा जाए। पर सचाई यह है कि ऐसी सभी धारणाएँ साम्राज्यवादी समर्थकों की एक चाल थी जिनका एक ख़ास उद्देश्य था और वह यह कि अँग्रेज़ी उपनिवेशवाद को एक उदारवादी कल्याणकारी शासन के रूप में पेश किया जा सके।

कुछ साम्राज्यवादी समर्थकों ने यह कहना शुरू किया कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन मूलतः उन्हीं की देन है। भारतीय जनता का राजनीतिक मनोवृत्ति वाला हिस्सा बौद्धिक दृष्टि में हमारी संतान है। उन्होंने उन विचारों को ग्रहण किया जिन्हें खुद हमने उनके सामने रखा। भारत की वर्तमान बौद्धिक और नैतिक हलचल हमारे कार्य की निंदा नहीं वरन् प्रशंसा की बात है।

यह शायद दुहराने की आवश्यकता ही नहीं कि अँग्रेज़ों ने भारत पर इसलिए शासन कायम किया था कि भारत को लूटा खसोटा जा सके, इसलिए नहीं कि भारत में राष्ट्रीयता की नींव डालकर खुद अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी जाए। भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मदाता होने का दावा केवल अंतर्विरोधपूर्ण ही नहीं है वरन् यह अँग्रेज़ों की ढकोसलेबाज़ी का जीता–जागता उदाहरण है। इसी संदर्भ में अँग्रेज़ी साम्राज्यवाद के एक प्रबल समर्थक का कथन उल्लेखनीय है – हमने भारत को भारतवासियों के लाभ के लिए नहीं जीता। मैं जानता हूँ कि मिशनरियों की सभाओं में कहा जाता है कि हमने भारत को भारतवासियों का स्तर ऊँचा करने के लिए जीता है। यह सफ़ेद झूठ है। हमने भारत को तलवार से जीता है और तलवार से ही उसे अपने कब्ज़े में बनाएं रखेंगे। हम उस पर इसलिए आधिपत्य बनाए रख रहे हैं कि वह ब्रिटिश माल की निकासी का सर्वोत्तम मार्ग है।

साम्राज्यवादियों के इस कथन से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि भारत पर अँग्रेज़ी शासन बनाए रखने का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि अँग्रेज़ी पूँजीपतियों के कारख़ानों में बने तैयार माल के लिए भारत को एक मंडी बनाया जा सके। साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पुष्टि अंग्रेजों के इन शब्दों से होती है कि– "भारत ब्रिटिश साम्राज्य की कुंजी है, यदि हम भारत को खो दें तो साम्राज्य का विनाश हो जाएगा – पहले आर्थिक फिर राजनीतिक दृष्टि से।"

भारत पर अंग्रेज़ या किसी अन्य विदेशी शक्ति का शासन होता या नहीं, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आंदोलन का जन्म निश्चय ही हुआ होता। लोकतांत्रिक विकास की जड़ें ब्रिटेन के अलावा आधुनिक युग में कई और राष्ट्रों में भी फैलती गई हैं, अतः यह निश्चय ही अकेले ब्रिटेन की देन नहीं है। न यह कहना ही उचित होगा कि लोकतांत्रिक व्यवस्था का विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक विदेशी आधिपत्य कायम न हो जाए। इंग्लैंड में राजा व संसद के बीच हुए समझौतों की तुलना अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा और ख़ासकर फ्रांसीसी क्रांति के मूलतंत्र (स्वाधीनता, समानता और भाईचारे) ने उन्नीसवीं शताब्दी के लोकतांत्रिक आंदोलनों को कहीं ज़्यादा प्रेरणा दी थी। बीसवीं शताब्दी में 1905 और 1917 की रूसी क्रांति ने भी एशिया के पराधीन लोगों को अपने खोए हुए अधिकारों के प्रति जागरूक बना दिया था। परंतु साथ ही यह कहना भी अनुचित होगा कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के मूल में अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा या फ्रांसीसी एवं रूसी क्रांति ने ही भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को जन्म दिया था।

भारतीय राष्ट्रवाद के उत्थान के प्रेरक तत्व :

भारत में राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। मुख्य रूप से भारत में राष्ट्रीय जागरण किसी एक कारण का परिणाम नही है अपितु उसके अनेक कारण बताए जा सकते है। भारत में राष्ट्रवाद के उदय और विकास में समय–समय पर अनेक परिस्थितियों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहॉ की अर्थव्यवस्था का आधार युरोपीय देशों के पूँजीवाद से पूर्ववर्ती काल के समाजों से भिन्न था। भारत विभिन्न भाषाओं, धर्मों तथा घनी आबादी वाला देश है। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के पृष्ठभूमि की यह विशेषता है कि खास तौर पर हिन्दू समाज और सामान्यतया सारा भारतीय समाज खण्डित और विभाजित रहा। भारतीय राष्ट्रवाद का एक दिलचस्प पहलू यह भी है

कि इसका जन्म राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ। ब्रिटेन ने अपने हित में भारतीय समाज के आर्थिक ढ़ाचे में आमूलचूल परिवर्तन किया, केन्द्रीकृत प्रशासनीक और राजव्यवस्था की स्थापना की, आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव डाली, आवागमन और आधुनिक संचार के साधन विकसित किये और इसी प्रकार के अन्य अनेक संस्थाओं का निर्माण किया जिसके फलस्वरूप नये सामाजिक वर्गों का जन्म हुआ। ये नये सामाजिक तत्व अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टकराये जो भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की आधारशिला और प्रेरणा के स्रोत सिद्ध हुये। संक्षेप में, भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और विकास के निम्न प्रेरक तत्व बतलाए जा सकते है –

राजनीतिक एवं प्रशासनीक एकीकरण –

भारत में राष्ट्रवाद के उदय और विकास में सबसे बडी भूमिका राजनीतिक और प्रशासनीक एकीकरण ने निभाया। 1707 ई0 के बाद उत्तरोत्तर भारत में सुव्यवस्था व राजनीतिक एकता का लोप हो चुका था लेकिन ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत की पुरानी चली आ रही सांस्कृतिक एकता को तमाम अनेकताओं के बावजूद एक नवीन प्रकार की एकता के सूत्र में बॉध दिया। अंग्रेजी शासन ने भारत के सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र को एक ही शासन के अधीन ला दिया। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत एक सरकार के अधीन आ गया और पूरे देश में राजनीतिक एकता के साथ–साथ शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हुई। समस्त भारतीय क्षेत्र में एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था, एक प्रकार का न्यायिक ढ़ॉचा, संहिताबद्ध फौजदारी तथा दीवानी कानून, आदि लागू किये गये जिससे देश की एकता को बढ़ावा मिला। एकीकृत प्रशासनीक व्यवस्था से भारतीय लोगों में पारस्परिक सम्पर्क बढ़ा। एक ही प्रकार के अफसर पूरे देश में एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानांतरित होते रहते थे। स्पष्ट है भारत राजनीतिक एवं प्रशासनीक रूप से ब्रिटिश शासन काल में ही एक हुआ और इतनी एकता अतीत में पहले कभी नही हुई थी। यहॉ यह कहना उचित है कि ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी लेकिन इन विशेषताओं और तत्वों ने भारत में एकल नागरिकता व एक राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया।

ब्रिटिश द्वारा आर्थिक शोषण –

भारत में ब्रिटिश शासन का एक प्रबल लक्षण था– भारतीयों का आर्थिक शोषण। भारत का तमाम आर्थिक खजाना ब्रिटिशों से पूर्व आने वाले अनेक विदेशी आक्रान्ताओं ने लूट लिए थे और बाद में अंग्रेजों ने बचे–खुचे सारे संसाधन खाली कर दिये, वह भी बेहद जर्जर तरीके से। इंग्लैण्ड में घटित आद्यौगिक क्रान्ति से विदेशों में कच्चे माल की मॉग लगातार बढ़ती गई। बाहरी निर्माताओं, उत्पादकों के लिए एक विश्वव्यापी मंडी की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। दुर्भाग्य से अंग्रेजों के यह दोनों उद्देश्य भारत में पूरे होते गये जिसके अनेक दुष्परिणाम सामने आये। भारतीय हथकरधा और कुटीर उद्योग विनष्ट हो गया, कृषि पर बोझ बढ़ता गया और लोग दिन–प्रतिदिन निर्धन होते गये। भारत की कृषि को अंग्रेजों की राजस्व नीति ने नष्ट कर दिया और उनके मुक्त व्यापार की नीति से व्यापार सन्तुलन बेहद प्रतिकूल हो गया। दूसरी तरफ शिक्षित भारतीय वर्ग

उपयोगी रोजगार पाने में विफल रहे। परिणामस्वरूप भारतीय भविष्य में किसी भी राहत के मिलने की आशा छोड़ बैठे।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों के विचार से भारत पर ब्रिटिश शासन का मूल प्रभाव यह हुआ कि 19वीं शताब्दी के अन्त तक भारत उनके विशिष्ट उपनिवेश के रूप में परिवर्तित हो गया था जिससे यह देश ब्रिटिश उत्पादकों के लिए एक प्रमुख बाजार, कच्चे माल और खाद्य पदाथ्रें का एक बड़ा स्रोत और ब्रिटिश पूँजी निवेश के लिए एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गया। यह रूपान्तरण वस्तुतः तीन अनुवर्ती चरणों में सम्पन्न हुआ जिसमें अंग्रेजों ने हमारे देश का अत्यधिक शोषण किया : (क) 1757 से 1813 तक के प्रथम 'व्यापारिक' चरण में सीधी लूट–खसोट हुई और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार पर पूर्ण एकाधिकार हो गया। (ख) औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप 1813 से 1858 के बीच इसका रूप बदलकर "मुक्त व्यापारिक औद्योगिक पूँजीवादी" शोषण का हो गया; और (ग) 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से धनी और ब्रिटिश–नियंत्रित बैंकों, निर्यात–आयात फर्मों तथा प्रबंधन एजेन्सी केन्द्रों की विशाल श्रृंखला के द्वारा भारत में ब्रिटिश 'पूँजीवादी साम्राज्यवादी' अर्थव्यवस्था ने पाँव जमा लिए, जिसके कारण विदेशी एकाधिकार में आने वाली भारतीय अर्थव्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने अपना पूरा अधिकार जमा लिया।

भारत के व्यापार के विनष्ट होने के अतिरिक्त उसके हस्तशिल्पों, वाणिज्यिक शिल्पों और उद्योगों का अनौद्योगीकरण तथा अत्यधिक कराधान, और अंग्रेजों द्वारा भारत में अपनाई गई आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप भारत के संसाधनों का बड़े पैमाने पर दोहन किया गया। कृषि के वाणिज्यीकरण और भूमि बन्दोबस्त नीति ने लाखों लोगों को संकट में डाल दिया जिसके परिणामस्वरूप भूख से तड़प कर मर जाना एक सामान्य सी बात हो गई। समय–समय पर पड़ने वाले अकाल सामान्यतया भारतीय आर्थिक जीवन का स्थायी अंग बन गए थे। अकाल के वर्षों में भी खाद्यान्नों के निर्यात किए जाने को देखकर ब्रिटिश शासन के पूर्ण निष्ठावान समर्थक भी अलग–थलग पड़ गए थे। 19वीं शताब्दी के अन्त तक भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक राष्ट्रीय आय, 1899 में एकत्रित आँकड़ों के अनुसार सबसे कम, संभवतः अठारह रुपए थी। इस प्रकार उपरोक्त वर्णित परिस्थितियों में भारतीय जनमानस ने यह महसूस किया कि बगैर संगठित हुये अंग्रेजों का सामना करना संभव नही है। इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्ति के लिए भारतीय जनमानस में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई।

नवीन सामाजिक वर्गों का अभ्युदय –

अंग्रेजों ने अपने कृत्यों से भारत में विशेष प्रकार के सामाजिक वर्गो को पैदा किया। डा० ए० आर० देसाई ने अपनी सुविख्यात कृति "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि" में ब्रिटिश शासनकाल में विकसित निम्नलिखित वर्गो का उल्लेख किया है – ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान इन वर्गों में मुख्यत जमींदार, उच्च, मध्य व निम्न स्तर पर विभाजित कृषि स्वामित्वों का वर्ग, खेतीहर मजदूर, आधुनिक व्यापारी तथा आधुनिक सूदखोर आदि। शहरी क्षेत्रों में विद्यमान वर्गो में मुख्य रूप से – आद्यौगिक, व्यवसायिक और वित्तीय पूंजीपति, कल–कारखानों में काम करने वाले मजदूर, आधुनिक पूंजीवादी अर्थतन्त्र से जुडे छोटे व्यापारी तथा दुकानदार और कारीगर, डाक्टर, वकील, अध्यापक, मैनेजर, क्लर्क आदि बुद्धिजीवी और शिक्षित मध्यम वर्ग सम्मिलित थे। इस सभी वर्गो की यह

विशेषता थी कि वे राष्ट्रीय थे। प्रत्येक नये सामाजिक वर्ग के आर्थिक, राजनैतिक, और सामाजिक हितों का ''आखिल भारतीय एकीकरण'' हुआ। इस वर्ग के व्यक्ति और समुदाय जैसे–जैसे समान हित की बात समझने लगे, वैसे वैसे उसमे अखिल भारतीय संगठन बनाने और अपने सम्मिलित स्वार्थो के लिये संघर्ष करने की इच्छा तीव्र होती गयी। ये विभिन्न वर्ग अपने अलग–अलग आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ लेकर राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई में शामिल हुये थे लेकिन इन सबका लक्ष्य था– राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति।

सामाजिक व धर्मसुधार आंदोलनों की भूमिका

भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटेन और भारत के हितों के टकराव से उत्पन्न हुआ था। बढ़ते नस्लीय तनाव, धर्मांतरण के डर और बेन्थमवादी प्रशासकों के सुधारवादी उत्साह ने बुद्धिजीवी भारतीयों को विवश कर दिया कि वे रूककर अपनी स्वयं की संस्कृति पर भी गहरी नजर डालें। यह नयी सांस्कृतिक परियोजना 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण आन्दोलन से अभिव्यक्त हुई। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति को शुद्ध करना और इस तर्क की पुनर्खोज करना था कि वह बुद्धिवाद, एकेश्वरवाद और व्यक्तिवाद के युरोपीय आदर्शों से मेल खाये। इसका उद्देश्य यह दिखाना था कि भारतीय सभ्यता किसी भी तरह से अन्य सभ्यताओं से हीन नही है बल्कि एक अर्थ में यह अपनी आध्यात्मिक सिद्धियों में उनसे भी श्रेष्ठ है।

ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी जैसी संस्थाओं ने हिंदू धर्म में प्रचलित बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया तथा लोगों में धर्म, संस्कृति और मातृभूमि के प्रति निष्ठा स्थापित की। राजा राममोहन राय ने भारतीयों को स्वतंत्रता के नये विचार ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया तो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रीय अस्मिता को जगाकर राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। युवा सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने युरोप और अमेरिका में भारतीय संस्कृति और आध्यात्म का प्रचारकर भारतीयों में सांस्कृतिक चेतना जागृत किया। पश्चिम के भौतिकवादी संस्कृति के विपरित भारतीय सभ्यता के आध्यात्मिक मूल में गर्व की वैचारिक प्रेरणा ने सार्वजनिक कर्मक्षेत्र में औपनिवेशिक शासन का सामना करने के लिए प्रेरित किया। इसने आधुनिक राष्ट्रवाद का वैचारिक आधार भी प्रदान किया। व्यक्तिगत और सामाजिक समानता पर जोर देते हुये भारतवासियों को छुआछूत, बाल–विवाह, सती प्रथा जैसी समस्याओं के समाधान के लिए जनमत पैदा करने में इन सुधारकों और संस्थाओं ने सराहनीय कार्य किया। यहाँ यह जानना उचित होगा कि ये भावनाएँ आगे चलकर राष्ट्रीयता के रूप में प्रस्फुटित हुई या नहीं ?

ब्रह्म समाज, जिसकी स्थापना 20 अगस्त 1828 में राजा राममोहनराय ने की थी, मुख्य रूप से समाज सुधार के क्षेत्र में सक्रिय रहा। इसी तरह की कई और संस्थाएँ थीं, जैसे प्रार्थना समाज, सोशल रिफ़ॉर्म कॉन्फ़रेंस इत्यादि। उधर आर्य समाज जैसी संस्थाएँ थीं जिन्होंने अपने सुधार कार्य में धर्म की महत्ता पर बल दिया। "वेद शास्त्र सर्वोपरि व अकाट्य है", ऐसा उसका अटूट विश्वास था। इन संस्थाओं ने लोगों में विश्वास और गौरव पैदा करने की कोशिश की। भारतवासियों को भारत के सुनहरे अतीत की याद दिलाकर ललकारना और गौरवान्वित करना इनका उद्देश्य था। स्वामी दयानन्द सरस्वती पहले व्यक्ति थे जिन्होने पहली बार 'स्वराज्यय' शब्द को अपनाया और हिन्दी को भारत

की राष्ट्रभाषा घोषित किया। निश्चय ही इस उभरते हुए आत्मबल व विश्वास ने राष्ट्रीयता को जगाने में सहायता दी। हालाँकि कुछ लेखकों का यह दावा है कि चूँकि इन संस्थाओं या आंदोलनों ने हिंदू धर्म को ही अपना आधार माना था, इसलिए इसका उन लोगों पर बुरा असर पड़ा जो हिंदू नहीं थे। आगे चलकर भारतीय जातीयता आंदोलन में जो मोड़ आए, जैसे कि मुसलमानों द्वारा पाकिस्तान की माँग उनका एक कारण यह भी था।

ऐतिहासिक अन्वेषण एवं अनुसंधान –

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतवासियों को अपने प्राचीन इतिहास की बहुत कम जानकारी थी। इसका कारण भारत में इतिहास न लिखे जाने की परंपरा थी, किंतु विलियम जोंस (बंगाल एशियाटिक सोसाइटी), जेम्स प्रिंसेप, एलेक्जेंडर कनिंघम, मैक्समूलर, विल्सन, मोनियर विलियम्स, रोथ, सैसून तथा फग्यूसन जैसे यूरोपीय प्राच्य शिक्षाविदों के निरंतर प्रयासों तथा पुरातात्त्विक खुदाइयों ने भारत के प्राचीन महान् संस्कृति एवं इतिहास पर पड़े सदियों पुराने आवरण को उतार फेंका। जेम्स प्रिंसेप ने 1837 ई0 में सर्वप्रथम ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों को पढ़ने में सफलता प्राप्त की और सबसे पहले अभिलेखों और सिक्कों पर पियदस्सी (प्रियदर्शी) को पढ़ा था।

इतिहास की इन नई खोजों ने प्राचीन भारत की संस्कृति एवं महानता को पुनर्स्थापित किया। अनेक राष्ट्रवादी लेखकों, जैसे– आर0 जी0 भंडारकर, आर0 एल0 मित्रा एवं स्वामी विवेकानंद इत्यादि ने भारत की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत की पुनर्व्याख्या कर भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं को बल प्रदान किया। सर विलियम जोंस, मैक्समूलर, जेकोबी, कोलब्रुक, ए0बी0 कीथ, बुर्नूफ आदि ने भारत के संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन–विश्लेषण किया और उनका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। इन पश्चिमी विद्वानों ने अथक परिश्रम करके कला, साहित्य, वास्तुकला, संगीत, दर्शन, विज्ञान तथा गणित आदि विभिन्न क्षेत्रों में भारतीयों की उपलब्धियों को खोज निकाला और मानव सभ्यता के विकास में भारत योगदान को पुनः प्रकाशित किया। इन ऐतिहासिक अन्वेषणों और अनुसंधानों ने भारतीयों को अपनी सभ्यता और संस्कृति पर गर्व करना सिखाया।

इसी समय जेम्स मिल ने भारत में इतिहास लेखन के आधुनिक परंपरा की नींव डाली। उसने भारतीय इतिहास के तीन कालखंडों प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल को हिंदू काल, मुस्लिम काल तथा ब्रिटिश काल के रूप में विभाजित किया। जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास में प्राचीन भारत के गौरव को अत्यंत बढ़ा–चढ़ाकर बताया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उस काल के नवबुद्धिजीवियों का एक बहुत बड़ा तबका यह मानने लगा कि भारत के तत्कालीन दुर्दशा का कारण उनके धर्म में आई रुढिवादिता, कुरीतियाँ और धर्मांधता थीं, न क अंग्रेजी शासन। इन बुद्धिजीवियों ने भारतीय धर्म और समाज में फैले अंधविश्वासों, कुरीतियों और कर्मकांडों को दूर करने का प्रयास किया।

आंग्ल भाषा और पाश्चात्य शिक्षा –

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में पश्चिमी विचारधारा और शिक्षा के प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यद्यपि भारतीय जीवन पर आंग्ल भाषा और पाश्चात्य शिक्षा–सभ्यता के अधिक प्रचार–प्रसार का बुरा प्रभाव भी पड़ा क्योंकि इस शिक्षा का लक्ष्य पढ़े–लिखे

भारतीयों के मन का उपनिवेशीकरण करना और उनमें वफादारी की भावना भरना था परन्तु नये विचारों एवं राजनीतिक जागरुकता की दिशा में उस समय आंग्ल भाषा और अँग्रेजी शिक्षा बहुत–कुछ सहायक सिद्ध हुई। यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि अँग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीयों को वाल्तेयर, बेंथम, वर्क, जॉन स्टुअर्ट, मिल, ग्रीन, स्पेंसर, मैकाले आदि के स्वतंत्रता–संबंधी विचारों से अवगत होने का अवसर मिला। उक्त चिंतकों एवं शिक्षाविदों ने जनतंत्र के महत्त्व पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है और उनकी कृतियों के अध्ययन–अवलोकन से यूरोप के विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे भारतीय छात्रों एवं अन्य प्रबुद्ध लोगों को यह प्रेरणा मिली कि उन्हें भी अपने देश को स्वाधीन कराना है।

अंग्रेजों ने भारतीय भाषा को नष्ट करके अंग्रेजी भाषा को 1835 ई0 में शिक्षा का माध्यम बनाया। यह भाषा भारतीय शिक्षित लोगों की भाषा बन गयी। इस भाषा को लोगों ने आपसी समझ व विकास का माध्यम माना जो विभिन्न भाषा–भाषी लोगों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाई। शिक्षित भारतीय आंग्ल भाषा के माध्यम से पाश्चात्य विचारधारा व संस्कृति के सम्पर्क में आये। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, प्रजातंत्र, राष्ट्रीयता आदि जैसे विचार उनके मस्तिष्क में केवल इसलिये प्रस्फुटित होने लगे क्योंकि अंग्रेजी भाषा जैसा माध्यम उन्हे प्राप्त हो गया था। अनेक भारतीयों ने विदेश गमन किया और वहॉ की सभ्यता–संस्कृति तथा पाश्चात्य जगत के सम्पर्क में आये। यह आंग्लभाषी शिक्षित भारतीय ही थे जिन्होने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अंकुरित और विकसित किया। यह कहना पूरी तरह सही नही है कि भारतीय राष्ट्रीयता की भावना आंग्ल भाषा और पश्चिमी शिक्षा का पोष्य शिशु था। इतना अवश्य है कि पश्चिमी शिक्षा और विचारधारा के प्रचार के कारण भारतीयों ने एक बुद्धिसंगत, धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाया।

दूसरे शब्दों में, राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देने में अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का उल्लेखनीय योगदान रहा। इसी को संकेत करते हुए एडवर्ड डी क्रूज लिखते हैं – "अंग्रेजी भाषा के बिना देशव्यापी राष्ट्रवादी आन्दोलन का भारत में पैदा होना या सफल होना कभी भी सम्भव नहीं होता।" सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के अनुसार – "अंग्रेजी भाषा ने भारतीय बहुरूपी सभ्यता के विभिन्न जाति व धर्मों, लोगों व जटिलताओं को एक अविलय संघ की सुनहरी जंजीरों में एकत्रित करने का साधन प्रस्तुत किया। यह उत्तर, दक्षिण, पूर्व व पश्चिम में संचार का आम साधन बनी। अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से भारत की सूखी हड्डियों में जीवन अवतरित हुआ। एक नया उत्साह व प्रेरणा इस भूमि पर दिखाई दी।"

समाचार–पत्र और साहित्य –

राष्ट्रीय परिवेश को दिशा देने के मूल में समाचारपत्र और साहित्य ही रहते हैं। भारतीय राष्ट्रवाद के उदय, विकास और प्रसार के मूल में भी अंग्रेजी एवं भारतीय प्रेस की उल्लेखनीय भूमिका रही। समाचारपत्रों ने विदेश नीति के विवादों, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एवं ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति, प्रशासनिक खामियों की तरफ ध्यान आकर्षित किया। विभिन्न राजनीतिक संगठनों, नेताओं ने समाचारपत्रों के माध्यम से राष्ट्रवाद की भावना जाग्रत करने का प्रयास किया। भारतीय राष्ट्रवाद के कारकों के उत्थान में प्रेस की भूमिका को स्वीकार करते हुए कार्ल मार्क्स लिखते हैं– "एशियाई समाज में स्वतन्त्र प्रेस

पहली बार प्रस्तावित हुआ और हिन्दुओं व यूरोपीय लोगों द्वारा समान रूप से पुनर्निर्माण के लिए नवीन व शक्तिशाली एजेन्ट के रूप में व्यवस्थित किया गया।" इसी सन्दर्भ में मुनरो लिखते हैं – एक स्वतन्त्र प्रेस तथा विदेशी राज एक दूसरे के विरुद्ध हैं और दोनों एक साथ नहीं चल सकते। यह बात भारतीय इतिहास पर भी दृष्टिगत होती है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रेस सिर्फ अंग्रेजी समाचारपत्र निकालती थी, लेकिन कालांतर में विभिन्न भाषी समाचारपत्रों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की दमनीय नीति पर आलोचना की गई तो अंग्रेजी सरकार द्वारा बौखलाकर 1879 ई0 में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट पास कर भारतीय समाचारपत्रों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर रोक लगा दी गई। भारतीय राष्ट्रवाद में उल्लेखनीय भूमिका अदा करने वाले समाचारपत्र हिन्दू पेट्रियट, हिन्दी मिरर, अमृत बाजार पत्रिका, केसरी, नवशक्ति तथा सन्ध्या नामक पत्र प्रमुख थे। समाचार पत्रों के साथ साहित्य की भूमिका भी राष्ट्रवाद के उदय में कम नहीं रही। बंकिमचन्द चटर्जी के आनन्दमठ, उनके गीत 'वन्दे मातरम' रविन्द्रनाथ टैगोर के 'जन गण मन' एवं मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' नामक पुस्तक ने भारतीय राष्ट्रवाद को जाग्रत करने में समर्पित भूमिका का निर्वहन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'भारत दुर्दशा' ने भारतीयों की दयनीय दशा को प्रस्तुत किया। उर्दू में अल्ताफ हुसैन हाली, असममी में लक्ष्मीदार बेजबरूआ, गुजराती में नर्मद, तमिल में सुब्रमण्यम भारती आदि इस काल के प्रख्यात राष्ट्रवादी लेखक थे। इसी तरह दादा भाई नौरोजी, दीन बन्धु मित्रा, लोकमान्य तिलक के साहित्य ने लोगों को अपूर्व उत्साह एवं राष्ट्रवाद की भावना से पूर्ण कर दिया। इन राष्ट्रवादी लेखकों ने अपने उत्कृष्ट साहित्य के माध्यम से भारतीयों में स्वतंत्रता, समानता, एकता, भाईचारा और राष्ट्रीयता की भावना का बढ़ावा दिया।

संचार व यातायात के आधुनिक साधन –

संचार और यातायात के आधुनिक साधनों का भी भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माण में प्रबल योगदान रहा है। अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक हितों के विकास, भारत के प्रशासन पर अपना नियन्त्रण मजबूत करने एवं भारत से अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठाने के उद्देश्य से ब्रिटिश शासकों ने रेलमार्ग, सड़कें व आधुनिक संचार व्यवस्था का निर्माण किया। पर इनके बावजूद ये साधन विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को परस्पर निकट लाने में उपयुक्त यंत्र साबित हुए। दूरसंचार, ड़ाक सेवाएँ और रेलवे के विकास आदि से लोगों को परस्पर सम्पर्क की सुविधा मिलने लगी। इसके जरिये राष्ट्रवादी नेता देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में पहुँचकर अपनी बातों को लोगों तक पहुँचाने में सफल रहे और ब्रिटिश सरकार और शासन की कार्यवाहियों की दिन–प्रतिदिन आलोचना कर सके तथा लोगों को राजनैतिक समस्याओं की समझ और शिक्षा दे सके। रेलवे, ड़ाक–तार, सड़के, नहरों के निर्माण से लोग एक दूसरे के काफी निकट आने लगे जो सामाजिक स्तर पर भारतीय जनता को एक सूत्र में बॉधा। परिणामस्वरूप समस्त भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित करने में जुट गये। यातायात और संचार की व्यवस्था हो जाने के कारण अब भारतीयों को भी देश एवं विदेश की विभिन्न गतिविधियों से अवगत होने एवं एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा हुई, विचारों के आदान–प्रदान से जीवन के प्रति स्वस्थ धारणा के निर्माण की प्रेरणा मिली। व्यापक दृष्टि के प्राप्त होने से भारतीय पराधीन होकर रहना अपना अपमान समझने लगे। इस प्रकार लोगों का ध्यान स्वतंत्रता की ओर अधिक आकृष्ट हुआ।

प्रो0 ए0 आर0 देसाई के अनुसार – बिना रेलवे, मोटर, बसों और संचार के साधनों के राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन संभव नहीं था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय लोगों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन संगठित करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। यातायात के इन आधुनिक साधनों ने एक विशाल शक्ति के रूप में भारतीय लोगों को सामाजिक रूप से संगठित किया। रेल जो लम्बी दूरी तय कर सकती थी, ऐसी रेल व्यवस्था ने उस सामाजिक व्यवस्था को नजदीक करने में सहायता की जो विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों को अलग–अलग करती थी। इन साधनों के सुलभ होने पर एक जगह राष्ट्रवाद की फूटी लहरें सम्पूर्ण देश में फैल जाती थी।

लार्ड लिटन की दमनकारी नीति –

लार्ड लिटन की दमनकारी नीति ने भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय चेतना की आग को अत्यधिक प्रज्ज्वलित किया। उसका शासनकाल सन 1876–80 ई0 भारतीय राष्ट्रीयता के बीजारोपण का समय कहलाता है। अपने शासन काल में लार्ड लिटन ने अनेक गलतियॉ की। सन् 1876 से 1878 तक दक्षिण भारत में एक भयंकर अकाल पड़ा जिसमें लाखों लोगों के मारे जाने के बाद भी ब्रिटिश सरकार ने पीड़ितों की कुछ खास सहायता नहीं की, इससे भारतीयों में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध आक्रोश छा गया। इसी दौरान लार्ड लिटन ने महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी का पद धारण कराने के लिए राजाओं, नवाबों, महाराजाओं का एक बहुत बड़े दरबार का आयोजन किया जिस पर अत्यधिक धन का अपव्यय किया। जबकि एक तरफ अकाल से भारत के लोग मर रहे थे तो दूसरी तरफ इस आयोजन में अनाज की अत्यधिक बर्बादी हुई। इससे भारतीयों को क्षोभ और निराशा हुई एवं इस आयोजन की कड़ी आलोचना की गई। इसके अलावा लॉर्ड लिटन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए द्वितीय अफगान युद्ध में भारत का करोड़ों रुपया नष्ट कर दिया। अकाल और गरीबी से त्रस्त भारतीयों के लिए लार्ड लिटन के ये कार्य एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ और भारतीय जनमानस में राष्ट्रीयता की भावना का तीव्र गति से संचार हुआ। ब्रिटेन ने इसी दौरान शस्त्र विधेयक लागू किया जिसके अनुसार भारतीयों को शस्त्र रखने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया जबकि अंग्रेजों को नहीं। वर्नाकुलर प्रेस एक्ट भी लार्ड लिटन की ही देन थी, जिससे भारत के समाचारपत्र स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के लिए तरसते रहे। आपात कर का हटाना, भारतीय वस्त्रों पर चुंगी लगाना एवं अन्य इसी तरह के दमनकारी कानून राष्ट्रीयता की ज्वाला को प्रज्वलित करने में कामयाब हो सके और समस्त भारतीयों ने अंग्रेजों से छुटकारा पाने का दृढ़ निश्चय कर ही लिया।

अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति उपेक्षापूर्ण वर्ताव –

ब्रिटिश सरकार का भारतीयों के साथ भेदभावपूर्ण, पक्षपातपूर्ण व उपेक्षापूर्ण व्यवहार राष्ट्रवाद के उदय का एक प्रमुख कारण बना। 1857 की क्रान्ति के बाद अंग्रेजों और भारतीयों के बीच कड़वाहट फैल गई। लार्ड लिटन का प्रशासन, इलबर्ट बिल पर विवाद तथा लार्ड कर्जन के बंगाल विभाजन सम्बन्धी नीति से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज अपने उपेक्षापूर्ण व्यवहार से भारतीयों को हीन बनाये रखा। इलबर्ट बिल के अन्तर्गत यह प्राविधान किया गया कि सभी न्यायधीशों को, चाहे वे भारतीय हो या अग्रेज, समान

अधिकार प्राप्त होने चाहिए। इसके अनुसार भारतीय न्यायाधीश अंग्रेजों को दण्डित कर सकते थे। इस बिल को लेकर अंग्रेजों ने जिस प्रकार विरोध प्रदर्शित किया उससे भारतीय अचंभित और हतप्रभ रह गये। ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों के साथ अनेक प्रकार से दुर्व्यवहार किया जाता था। अंग्रेजों की कालोनियों, पार्कों, होटलों, क्लबों में भारतीयों को जाने तक की इजाजत नही थी। रेलवे कम्पार्टमेन्ट में भारतीय अंग्रेजों के साथ नहीं बैठ सकते थे, उनके साथ कुत्तों की तरह वर्ताव किया जाता था। भारतीयों का अपमान करना, भारतीय नौकरों और खेतीहरों को प्रताड़ित करना, भारतीय स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करना आम बात हो गयी थी जिसे भारतीय समाचार पत्र व्यापाक रूप से उठाते थे। इस जातीय कटुता और राष्ट्रीय अपमान के बोध के कारण भारतीयों का रोष बढ़ता गया और उनमें राष्ट्रीय चेतना विकसित होने लगी।

भारतीय किसानों की दुर्दशा को अभिव्यक्त करते हुए एक अंग्रेज सिपाही लिखता है – "भारतीय हमारे पैरों के नीचे पत्थर थे, यदि वो हमारे कहने के अनुसार या इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं करते थे तो हम उनकी पगड़ी सिरों से खींचकर नीचे गिरा देते थे। इसी सम्बन्ध में एक अन्य अंग्रेज जी0 ओ0 ट्रेवेलियन लिखते हैं – "हमारी जाति की गर्विता, धृष्टता, जो हमारे स्वभाव में गहरी जमी हुई है और जो कि केवल उच्च शिक्षा एवं ज्ञान से प्राप्त हुई है, इसका अध्ययन करना अत्यन्त पीड़ादायक है। जो व्यक्ति जितनी घटिया स्थिति से सम्बन्धित होगा, उसकी भावनाएँ भी उतनी ही निम्न स्तर की घृणास्पद होंगी। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ हुए अमानवीय व्यवहारों ने भारतीयों की गुलामी की कहानी को स्पष्ट कर दिया था। भारतीयों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियाँ नहीं मिलती थीं। न्यायिक प्रशासन के क्षेत्र में हालात इसी तरह के थे और कोई भी भारतीय अंग्रेजों के विरुद्ध न्याय प्राप्त नहीं कर सकते थे। भारतीयों को आमतौर पर न्यायाधीश नहीं बनाये जाते थे। यदि ऐसा हो भी जाता था तो उन्हें यूरोपीय जाति के लोगों पर केस लड़ने का अधिकार नहीं था। इससे शिक्षित भारतीयों में राष्ट्रवाद के अंकुर फूट पड़े।"

ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति –

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश सरकार शिक्षित भारतीयों के अधिकारों का हनन करने लगी थी। इसका आरंभ ईसाई धर्मांतरण के आसन्न खतरे से हुआ, जिसको 1850 ई0 में पारित 'लेक्स लोकी ऐक्ट' ने और बढ़ावा दिया, जिससे धर्म परिवर्तन करनेवाले को पुश्तैनी संपत्ति में हिस्सा लेने का अधिकार मिल गया। 1861 के इंडियन कौंसिल ऐक्ट ने गवर्नर जनरल की कौंसिल में गैर सरकारी भारतीय सदस्यों को सीमित संख्या में शामिल किये जाने की व्यवस्था दी, किंतु वे गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना कोई विधेयक पेश नहीं कर सकते थे। इससे बड़ी बात यह कि उसे 'वीटो' का अधिकार प्राप्त था। सरकार सेना पर होम चार्जेज पर और साम्राज्य की आवश्यकतानुसार लोक निर्माण के कार्यों पर अत्यधिक खर्च कर रही थी, किंतु 31 मार्च 1870 ई0 को जब सरकार ने एक प्रस्ताव द्वारा बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा के आवंटन में कटौती का फैसला किया, तो शिक्षित युवाओं को बड़ी निराशा हुई। 1870 के दशक में न्यायिक सुधार के अंतर्गत सीमित चुनाव के सिद्धांत को जगह तो दी गई थी, किंतु 1876 में सिविल सेवा में बैठने की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 साल करके इसकी भी काट निकाल ली गई, जबकि अभी पुरानी माँग कि परीक्षा लंदन के साथ–साथ भारत में भी कराई जाए, पूरी नहीं हुई थी। एक प्रयास

से भारतीयों को विशेषकर नागरिक सेवा से अलग रखने के लिए विधिवत प्रयास किये गये। उदाहरणार्थ – 1869 ई0 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने I.C.S. की परीक्षा पास कर ली, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने सेवा में प्रवेश करने के बाद मामूली सी गलती पर उन्हे नौकरी से निकाल दिया। इसी प्रकार 1877 ई0 में अरविन्द घोष ने इस परीक्षा को पास कर लिया परन्तु उनकी नियुक्ति इसलिए नहीं की गई क्योंकि वे घोड़े की सवारी में निपुण नही थे। वास्तविकता यह है कि ब्रिटिश अधिकारी भारतीयों को उच्च पदों पर वंचित रखने के लिए नित नये–नये बहाने ढूढ़ते रहते थे।

हद तो तब हो गयी जब प्रशासनीक सुविधा के नाम पर लार्ड कर्जन ने हिन्दू–मुस्लिम एकता को खण्डित करने के लिए 1905 ई0 में बंगाल विभाजन का फैसला लिया। बंगाल विभाजन के इस फैसले के प्रतिक्रियास्वरूप बंगाल की जनता ने स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन प्रारंभ कर जिस एकता और सामूहिकता का प्रदर्शन किया उससे सरकार की चूलें हिले गयी। इन समस्त प्रतिक्रियावादी कार्यो से भारत की जनता में असन्तोष का गुबार फूटा और वे राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत होकर ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेकने के लिए संकल्पबद्ध हुये।

इलबर्ट बिल विवाद –

राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में इलबर्ट बिल सम्बन्धी विवाद की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। उदारपंथी लाई रिपन ने जब न्याय व्यवस्था में जाति–विभेद खत्म करने के लिए इल्बर्ट बिल के द्वारा भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियनों के विरुद्ध अभियोग की सुनवाई करने और दंडित करने का अधिकार देने की व्यवस्था की, तो यूरोपियनों ने संपूर्ण भारत और इंग्लैंड में इस विधेयक के विरुद्ध संगठित रूप से आंदोलन चलाने के लिए 'यूरोपियन रक्षा संघ' की स्थापना की और लगभग 150,000 रुपये का चंदा एकत्र किया। इस विधेयक का भयानक विरोध केवल गैर–सरकारी आंग्ल–भारतीय लोगों ने ही नहीं, बल्कि ब्रिटिश अधिकारियों के एक बड़े भाग ने भी किया। इनमें बंगाल का ले0 गवर्नर रीवर्स टॉमसन भी शामिल था, जिसने कथित रूप से विधेयक की निंदा की कि कलम की एक जुंबिश से समता स्थापित करने के लिए इसमें नस्ली भेदों को अनदेखा किया गया था। सर हेनरी काटन की मानें तो कलकत्ते में कुछ अंग्रेजों ने सरकारी भवन के संतरियों के माध्यम से लार्ड रिपन को बाँधकर वापस इंग्लैंड भेजने का षड्यंत्र भी रचा था और यह सब बंगाल के गर्वनर तथा पुलिस कमिश्नर की जानकारी में हुआ था। अंततः जनवरी 1884 ई0 में अंग्रेजों के संगठित आंदोलन के सामने रिपन को झुकना पड़ा और इल्बर्ट बिल में संशोधन करना पड़ा।

इल्बर्ट बिल विवाद ने शिक्षित भारतवासियों को साम्राज्य की शक्ति संरचना में कष्टदायक ढंग से अपनी अधीनता की स्थिति का अनुभव कराया, जिससे भारतीयों को न केवल संगठित आंदोलन के महत्त्व और उसके मूल्य का ज्ञान हुआ, बल्कि उन्हें संगठित होने की प्रेरणा भी मिली। इस बिल के विरोध ने भारतीयों को एक ऐसे संगठन की आवश्यकता का अनुभव कराया, जो अखिल भारतीय हो और राजनीतिक उद्देश्य रखता हो। अंततः 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से यह आवश्यकता पूरी हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम का प्रभाव –

उन्नीसवीं सदी का युग राष्ट्रवाद, उदारवाद तथा साम्राज्यवाद जैसे आंदोलनों को जन्म देनेवाली शक्तियों के प्रभाव में था। 1830 एवं 1848 की फ्रांसीसी क्रांतियों से भारतीयों में बलिदान की भावना जागी। इटली तथा यूनान की स्वाधीनता ने उनके उत्साह में असाधारण वृद्धि की। मैत्सिनी और गैरीवाल्डी के नेतृत्व में इटली के एकीकरण का सफल आन्दोलन भारतीय बुद्धिजीवियों और युवााओं को काफी प्रभावित किया था। यूरोप के बाल्कन क्षेत्र में तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रवादी आंदोलनों का जन्म होने लगा था। आयरलैंड में भी अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त होने का आंदोलन चल रहा था, जिससे भारतीय जनता काफी प्रभावित हुई। इटली, जर्मनी, रुमानिया और सर्विया के राजनीतिक आंदोलन, इंग्लैंड के सुधार कानून एवं अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम ने भी भारतीयों में साहस पैदा किया और प्रोत्साहित किया कि वे स्वाधीनता प्राप्त करने के संघर्ष में जुट जायें। यद्यपि अंग्रेजों ने भारत को अन्य देशों के जनतांत्रिक और राष्ट्रवादी आन्दोलनों के प्रभाव से दूर रखने की भरपूर कोशिश की लेकिन फिर भी इसका कुछ–न– कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा और भारतीय राष्ट्रीयता की भावना तीव्र और जोर पकड़ने लगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद का उदय और विकास किसी एक कारण का परिणाम नहीं है। वस्तुतः भारत में राष्ट्रवाद का जन्म ब्रिटिश सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दो विरोधी दृष्टिकोण सामने आते हैं– विकासवादी और प्रतिक्रियावादी। किंतु इन दोनों ही स्वरूपों ने राष्ट्रवाद के जन्म में सहायता पहुँचाई। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई, पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार–प्रसार हुआ और यातायात एवं संचार के साधनों का विकास हुआ। इनसे जहाँ एक ओर ब्रिटिश शासन को लाभ हुआ, वहीं दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवाद के उदय और विकास में भी सहायता मिली। ब्रिटिश शासन के विकासशील स्वरूप ने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवाद के जन्म में योगदान दिया, किंतु उसके प्रतिक्रियावादी स्वरूप ने इस प्रक्रिया को तीव्र किया। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत का आर्थिक शोषण, भारतीयों के साथ भेदभाव, सरकारी नौकरियों में पक्षपात, प्रेस पर प्रतिबंध, साम्राज्यवादी खर्चीले युद्ध, आर्म्स ऐक्ट जैसे कानून से आधुनिक शिक्षाप्राप्त भारतीय नेताओं को स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश शासन भारत के हित में नहीं है।

कुछ लोगों का यह मानना है कि भारत में राष्ट्रीयता का विकास अंग्रेजों की देन है। यद्यपि इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है लेकिन वास्तव में भारत में राष्ट्रीय भावना इसलिए पैदा और विकसित हुई क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत को बुरी तरह लूट रहे थे। इस प्रकार 19वीं शताब्दी में विकसित हुये इस राष्ट्रीय और राजनीतिक जीवन को गति एवं संगठित रूप तभी प्राप्त हुआ जब 1885 ई0 में एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गयी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्था –

19वीं शताब्दी के मध्य तक जहॉ एक तरफ अंग्रेजी शासन सुदृढ़ होता गया वही दूसरी तरफ भारत में राष्ट्रीयता की भावना का अत्यधिक विकास हुआ। भारतीय जनता जहॉ एक ओर अपने गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा ग्रहण करने में लगी थी वही दूसरी ओर पश्चिम की राजनीतिक चेतना एवं ज्ञान–विज्ञान के आलोक में अपनी प्रगति के द्वार

खोलने के प्रति भी सतर्क–सचेष्ट हो रही थी। ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध तथा असंन्तोष की भावना ने भारतीयों को अंग्रेजों से संगठित मोर्चा लेने को बाध्य किया। इस प्रकार राष्ट्रीयता की इस भावना को व्यापक आयाम प्रदान करने के लिए छोटी–बड़ी अनेक संस्थाओं का निर्माण भी किया गया।

19वीं सदी के चौथे दशक से ही कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त आधुनिक बुद्धिजीवी राष्ट्रीय चेतना का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए बंगाल, बम्बई और मद्रास में अनेक राजनेतिक संस्थाओं की स्थापना करने लगे थे। यद्यपि इन संस्थाओं का स्वरूप स्थानीय था और इनके पास कोई ठोस कार्यक्रम नहीं था, फिर भी इन संस्थाओं ने न केवल अंग्रेजी शासन की भेदभावपूर्ण नीतियों, शोषण के प्रकारों और लोक के आधुनिक सिद्धांतों का प्रचार किया, बल्कि अपने प्रार्थना पत्रों, प्रत्यावेदनों आदि के माध्यम से भारत में प्रशासनिक सुधार करने, प्रशासन में भारतीयों को उचित भागीदारी देने और देश में शिक्षा का प्रसार करने जैसी माँगें भी अंग्रेजों के समक्ष रखी। इन प्रान्तीय संस्थाओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी चेतना को गति और शक्ति प्रदान की।

बंगाल में इस प्रकार स्थापित किए गए संगठनों में 1836 में सर्वप्रथम बंगभाषा प्रकाशिका सभा गठित की गई जिसके संस्थापक राजा राममोहन राय के सहयोगी एवं अनुयायी गौरीशंकर तरकाबागीश थे। अगले वर्ष कलकत्ता और उसके आसपास के ज़मींदारों ने लैन्ड होल्डर्स सोसाइटी अथवा जमींदारी एसोसिएशन की स्थापना की, जिसने सार्वजनिक संस्था के माध्यम से शिकायतों के निवारण हेतु एक संगठित संवैधानिक आन्दोलन शुरू करने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया। 19 मार्च 1938 को कलकत्ता के प्रसन्न कुमार ठाकुर, राधाकान्त देव, राजा कालीकृष्ण, राजकमल सेन, विलियम काब हैरी, विलियम थियोबाल्ट, जी0ए0 प्रिन्सेप जैसे लोगो ने मिलकर इस संस्था की स्थापना की। लैण्ड होल्डर्स सोसाइटी ने लन्दन में ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी के साथ सहयोग करने का निश्चय किया और उसे भारतीय शिकायतों और माँगों के बारे में नियमित जानकारी के उपलब्ध कराने के लिए एक समिति भी नियुक्ति की। द्वारकानाथ टैगोर इसके बहुत सक्रिय सदस्य थे और 1843 में बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी की स्थापना में इनकी मुख्य भूमिका रही।

1850 के दशक के प्रारम्भ में तीन प्रेसीडेन्सी संगठनों की स्थापना हुई – कलकत्ता की ब्रिटिश भारत परिषद अर्थात ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन (1851), बम्बई प्रेसीडेन्सी परिषद अर्थात बम्बई एसोसिएशन (1852) और मद्रास नेटिव परिषद। संभवतया यह आवश्यक हो गया था कि राजनीतिक आन्दोलनों का प्रारम्भ प्रेसीडेन्सी नगरों में किया जाए, जहाँ कम्पनी के वाणिज्य और प्रशासन ने भारतीय परम्परागत व्यवस्था को सर्वप्रथम छिन्न–भिन्न कर दिया था और अंग्रेजी शिक्षा के कारण राजनीतिक दृष्टि से जागरूक लोग पैदा हुए थे। ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन ने पहली बार भारतीयों के लिए राजनीतिक अधिकारों की मॉग करते हुये 1852 ई0 में एक स्मृति–पत्र भेजा।

1857 के विद्रोह के बाद के वर्षों में ब्रिटिश–भारतीय परिषद भारत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्था के रूप में उभरी। इसका दृष्टिकोण अखिल भारतीय था तथा इसके व्यापक कार्यक्रमों में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मुद्दे शामिल थे। इसका मुखपत्र हिन्दू पैट्रियॉट संभवतया देश का अत्यन्त प्रभावशाली समाचार–पत्र था। बंगाल के

मिदनापुर में 1866 ई0 में राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए ''जातीय गौरव सम्पादिनी सभा'' की स्थापना की गई। जातीय गौरव सम्पादिनी सभा की स्थापना के एक ही वर्ष बाद ''हिन्दू मेला'' अस्तित्व में आया। इस संस्था के प्रेरणास्रोत राजनारायण बोस थे। राष्ट्रीय भावना के विकास में हिन्दू मेला की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने हर क्षेत्र में स्वावलम्बन पर बहुत बल दिया। हिन्दू मेला का प्रमुख लक्ष्य था स्वदेशी वस्तुओं का विकास करना। साहित्य, संगीत, कला से लेकर आद्यौगिक क्षेत्र तक में यह संस्था भारतीय पद्धति पर बल देती थी। नवगोपाल मित्र के सहयोग से इस संस्था की गतिविधियों में अधिक तीव्रता आ गई।

राजनीतिक जागरूकता में बंगाल के बाद दूसरे स्थान पर आने वाली बम्बई प्रेसीडेन्सी परिषद का इतिहास उतार–चढ़ाव से भरा था। इसकी स्थापना 1852 में हुई थी लेकिन विद्रोह के परवर्ती वर्षों में यह क्षीण हो गई थी। 1867 में इसे पुनर्गठित किया गया पर वस्तुतः 1879 तक इसकी गतिविधियाँ समाप्त हो गई। जनवरी 1885 में नए राजनीतिक परिषद की स्थापना हुई। वस्तुतः बम्बई के पारसी, गुजराती और मुस्लिम नेताओं का प्रतिनिधि संघ था। फिरोज शाह मेहता, के0 टी0 तैलंग तथा बदरुद्दीन तैयबजी की त्रयी इसका मार्ग–निर्देशन करती थी। तथापि शीघ्र ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कारण इसका महत्त्व कम हो गया।

1852 में स्थापित दक्कन संघ और 1867 में स्थापित पूना संघ अधिक सक्रिय नहीं रहे। इनसे अधिक प्रभावशाली पूना सार्वजनिक सभा थी जिसकी स्थापना 1870 में एम0जी0 रानाडे ने तथा जी0वी0 जोशी द्वारा की गई थी। जी0वी0 जोशी को उनके त्यागपूर्ण कार्यों के लिए लोग इन्हे 'सार्वजनिक काका' कहते थे। रानाडे ने सभा को विलक्षण नेतृत्व प्रदान किया। इस सभा ने केवल स्थानीय समस्यायों, जैसे कि भारतीय दस्तकारियों एवं उद्योगों में पुनरुत्थान, किसानों की दशा में सुधार, अकाल–राहत, मध्यस्थता द्वारा विवादों के निपटारे आदि जैसे मामलों में ही अपनी रचनात्मक रुचि का प्रदर्शन ही नहीं किया बल्कि इसने सामान्य मुद्दों पर भी राजनीतिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया। 1875 में इसने ब्रिटिश संसद में भारतीयों के प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की माँग करते हुए हाउस ऑफ कामन्स के समक्ष याचिका प्रस्तुत की। शताब्दी के अन्त में इस सभा का नेतृत्व जब बाल गंगाधर तिलक ने किया, तो इसे सरकार के तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा जिसके कारण संस्था कमजोर पड़ गई।

दक्षिण में 1881 ई0 में मद्रास महाजन सभा एक प्रमुख संगठन था। 1885 में लगभग 56 संघ इससे सम्बद्ध थे। अन्य उल्लेखनीय संघों में 1866 में लन्दन में दादाभाई नौरोजी द्वारा स्थापित ईस्ट इण्डियन एसोशिएसन तथा अमृत बाजार पत्रिका के संस्थापक–संपादक शिशिर कुमार घोष द्वारा 1875 में स्थापित भारत लीग उल्लेखनीय है। 1876 में भारत लीग का स्थान सुरेन्द्र नाथ बनर्जी की प्रेरणा से इण्डियन एसोशिएसन नामक एक अन्य राजनीतिक संस्था ने ले लिया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसके संस्थापक थे; आनन्द मोहन बोस उनके मुख्य सहयोगी थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पूर्व इण्डियन एसोशिएसन प्रथम अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन था, जिसने भारतीय प्रशासनिक (सिविल) सेवा परीक्षा के लिए आयु सीमा बढ़ाने और इलबर्ट बिल विवाद जैसे विषयों पर आन्दोलनों का नेतृत्व किया।

1883 में अदालत की अवमानना के लिए सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को दो महीने की सजा होने पर राष्ट्रीय कोष की व्यवस्था करने का प्रस्ताव किया गया। इस निधि का उद्देश्य भारत और इंगलैण्ड में संवैधानिक आन्दोलनों के माध्यम से देश में राजनीतिक चेतना को बढ़ावा देना था। इसे अखिल भारतीय संगठन के अधिकार क्षेत्र में लाया गया। इन गतिविधियों एवं लक्ष्यों को दृष्टिगत करके इण्डियन एसोशिएशन ने दिसम्बर 1883 में कलकत्ता में नेशनल कॉन्फ्रेंस (राष्ट्रीय सम्मेलन) नामक एक अन्य अखिल भारतीय संगठन का सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन का उद्देश्य राष्ट्रवादी शक्तियों को एकजुट करना था और यदि संभव हो तो उन्हें सार्वजनिक हित को बढ़ावा देने वाले कतिपय समान मुद्दों पर संकेन्द्रित करना था। इस प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन के उपरान्त 1884 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने उत्तर भारत का व्यापक दौरा किया।

राष्ट्रीय सम्मेलन (नेशनल कॉन्फ्रेंस) का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में दिसम्बर 1885 में उसी समय आयोजित किया गया, जब बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन हो रहा था। इसके बाद राष्ट्रीय सम्मेलन के सदस्य इस नवस्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गये।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, 1885 ई0 –

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास सच पूछो तो उस लड़ाई का इतिहास है जो हिन्दुस्तान ने अपनी आजादी के लिए लड़ी है। कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर 1885 ई0 में एक अंग्रेज अफसर ए0 ओ0 ह्यूम द्वारा की गई थी। अखिल भारतीय स्तर पर यह भारतीय राष्ट्रवाद की पहली अभिव्यक्ति थी। वस्तुतः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कुछ और नही किया तो कम से कम इतना जरूर किया कि उसने अपना गनतब्य स्थान खोज लिया और राष्ट्र के विचारों और प्रवृतियों को एक ही बिन्दु पर लाकर ठहरा दिया। इसने भारत के करोड़ों निरीह और बेवस लोगों के दिलों में एक जागृति पैदा कर दी, उसके अन्दर एकता, आशा और आत्मविश्वास की संजीवनी डाल दी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारतवासियों के विचारों और आकांक्षाओं को एक स्पष्ट राष्ट्रीय स्वरूप दिया जिसके द्वारा उन्होनें अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य को, अपने सर्वसामान्य आकांक्षाओं और आदर्शों तक को खोज निकाला है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के उत्तरदायी कारकों में उन सभी तत्वों का सामूहिक योगदान है जिसके कारण भारत में राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद का उदय हुआ। भारतीय राष्ट्रीयता के उदय के प्रेरक कारकों का उल्लेख उपर किया जा चुका है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में भी इन तत्वों का कहीं न कहीं योगदान अवश्य है। इसके अतिरिक्त भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कुछ अन्य उत्तरदायी तत्व और कारक है लेकिन इस सम्बन्ध में सभी इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ एकमत नही है। इस सन्दर्भ में कई दृष्टिकोण प्रचलित है जिनमें से कुछ का उल्लेख करना यहॉ समीचीन होगा।

सुरक्षा बाल्ब का सिद्धान्त –

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ एक मिथक एक लम्बे अरसे से जुड़ा है जो अपने तार्किक आधार के कारण काफी दमदार है। 'सुरक्षा बाल्ब' या 'सेफ्टी बाल्ब' का यह मिथक पिछले कई वर्षो तक काफी प्रभावशाली माना जाता रहा है। लेकिन इतिहास को वृहद स्तर पर टटोलने से यह पता चलता है कि इस मिथक में उतना दम नही है

जितना कि आमतौर पर इसके बारे में माना जाता रहा है। चूँकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किसी भारतीय द्वारा नही बल्कि एक सेवानिवृत अंग्रेज अफसर ए0 ओ0 ह्यूम द्वारा की गई थी इसलिए यह परिकल्पना की गई की ह्यूम ने ब्रिटिश शासन के प्रति बढ़ते हुये असन्तोष को सुरक्षा बाल्ब प्रदान करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। यह भी माना जाता है कि मिस्टर ए0 ओ0 ह्यूम को तात्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन ने परिचर्चाओं के लिए शिक्षित भारतीयों का एक वार्षिक सम्मेलन बुलाने का विचार दिया था ताकि उस समय भारतीय जनमानस में पनपते और बढ़ते हुये असन्तोष को हिंसा के ज्वालामुखी के रूप में फूटने से रोका जा सके और असन्तोष रूपी वाष्प को बिना किसी खतरे के बाहर निकलने के लिए सुरक्षित और शान्तिपूर्ण 'सुरक्षा बाल्ब' उपलब्ध कराया जा सके। 1916 में प्रकाशित ''यंग इण्डिया'' के अपने लेख में लाला लाजपत राय ने 'सुरक्षा बाल्ब' की परिकल्पना पर लम्बी चर्चा करते हुये कहा था कि – ''कांग्रेस लार्ड डफरिन की दिमाग की उपज है।'' कालान्तर में रजनी पाम दत्त ने इस मिथक को जोरदार ढ़ंग से उठाते हुये लिखा कि – सरकार की सीधी पहल और मार्गदर्शन के द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अस्तित्व में आई। इसके लिए वायसराय के साथ मिलकर एक गुप्त योजना तैयार की गई जो एक आसन्न क्रान्ति को विफल करने की एक घेराबंदी थी। ठीक है कि समय रहते ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक राष्ट्रवादी संगठन के रूप में तब्दील हो गई और इसके निष्ठावान चरित्र पर राष्ट्रीय चरित्र हावी होने लगा लेकिन इसके जन्म के समय का कलंक इसकी राजनीति पर एक स्थायी दाग छोड़ गया। एक संगठन के रूप में इसका यह दोहरा चरित्र कि इसे ब्रिटिश सरकार ने बनाया और फिर यह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की अगुआ बनी– इसके समूचे इतिहास पर नजर आता है।

श्री रजनी पाम दत्त के अनुसार इस तरह कांग्रेस के दो रुख थे : "एक पक्ष तो जनांदोलन के 'ख़तरे' के खिलाफ साम्राज्यवाद से सहयोग का था और दूसरा पक्ष राष्ट्रीय संघर्ष में जनता की अगुआई का था। जी0 के0 गोखले से लेकर महात्मा गाँधी तक, कांग्रेस नेतृत्व का यह दोहरापन दरअसल भारतीय बुर्जुआ वर्ग के दोहरे और ढुलमुल चरित्र को ही प्रतिबिंबित करता है, जो ब्रिटिश बुर्जुआ के खिलाफ संघर्षरत रहते हुए और भारत के लोगों का नेतृत्व करने की इच्छा रखते हुए भी इसके प्रति आशंकित था कि 'बहुत तेज़ी से' आगे बढ़ने से, साम्राज्यवादियों द्वारा भोगी जा रही सुविधाओं के खात्मे के साथ, उसको हासिल सुविधाएँ भी ख़त्म हो सकती हैं।" इस तरह कांग्रेस वास्तविक क्रांति यानी हिंसक क्रांति के विरोध का हथियार बन गई। लेकिन कांग्रेस की यह भूमिका गाँधी के समय से नहीं शुरू हुई, बल्कि यह बात तो साम्राज्यवाद ने इसके जन्म के समय ही इसकी निर्दिष्ट सरकारी भूमिका के तौर पर इसे घुट्टी में पिलाई थी। इस दोहरी भूमिका की चरम परिणति माउंटबेटन समझौते के रूप में इसके अंतिम आत्मसमर्पण के तौर पर हुई।

1939 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संघचालक एम0 एस0 गोलवलकर ने भी कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता के कारण उसे गैर–राष्ट्रवादी ठहराने के लिए सुरक्षा वाल्व की इस परिकल्पना का इस्तेमाल किया था। उन्होंने अपने पैम्फलेट 'वी' (हम) में कहा था कि– ''हिंदू राष्ट्रीय चेतना को उन लोगों ने तबाह कर दिया जो राष्ट्रवादी होने का दावा करते हैं और जिन्होंने लोकतंत्र के सिद्धांतों को बढ़ावा दिया और यह विकृत धारणा फैलाई कि

हमारे पुराने दुश्मन और हमलावर मुसलमान भी कई मायनों में हिंदुओं के समान हैं। नतीजा यह हुआ कि हमने अपने दुश्मनों को अपना दोस्त मान लिया और इस तरह हमने सच्ची राष्ट्रीयता की जड़ें खुद अपने हाथों ही खोद डालीं।" सच तो यह है कि भारत में चल रहा संघर्ष केवल भारतीयों और अँग्रेज़ों के बीच नहीं है, बल्कि यह 'एक त्रिकोणीय संघर्ष' है। गोलवलकर के अनुसार, हिंदुओं को एक तरफ तो मुसलमानों से लड़ना पड़ रहा है और दूसरी तरफ अँग्रेज़ों से। हिंदुओं को 'विराष्ट्रीकरण' के रास्ते पर ले जाने के लिए ह्यूम, कॉटन और बेडरबर्न द्वारा 1885 में तय की गई नीतियां ही जिम्मेदार थीं। इन लोगों ने उस समय उबल रहे राष्ट्रवाद के खिलाफ 'सुरक्षा वाल्व' के तौर पर कांग्रेस की स्थापना की। उस समय जाग रहे एक विशाल देव को सुला देने के लिए यह एक खिलौना था, राष्ट्रीय चेतना को तबाह कर देने का हथियार था और जहाँ तक उन लोगों के उद्देश्य की बात है वे इसमें पूरी तरह सफल रहे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस समय भारत में एक हिंसक क्रान्ति जन्म ले रही थी, जो कांग्रेस की स्थापना से टल गई। यही कारण है कि कांग्रेस का उदारवादी नेता कांग्रेस की स्थापना को सही कदम मानते है और यह साबित करने का प्रयास करते है कि कांग्रेस का रूख साम्राज्यवाद के प्रति निष्ठावान नहीं तो कम से कम समझौतावादी अवश्य रहा है। जबकि दूसरी तरफ दक्षिणपंथी इस मिथक का इस्तेमाल यह सिद्ध करने के लिये करते है कि कांग्रेस शुरू से ही गैर–राष्ट्रवादी रही है। परन्तु ये दोनों पक्ष इस बात पर सहमत है कि कांग्रेस का जन्म जिस तरीके से हुआ है, उस तरीके ने इसके बुनियादी चरित्र और भविष्य में उसके कार्यों पर निर्णायक प्रभाव डाला है।

गोपनीय रिपोर्ट और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का मिथक –

सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि वह गोपनीय रिपोर्ट क्या थी और कैसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का मिथक इसके साथ जुडा है ? सुरक्षा बाल्ब की इस परिकल्पना को ऐतिहासिक साक्ष्य बना देने में सात खण्डो वाली एक गोपनीय रिपोर्ट की निर्णायक भूमिका रही है जिसकी चर्चा पहली बार 1913 में प्रकाशित विलियम वेडरबर्न द्वारा लिखित ए0ओ0 ह्यूम की जीवनी में की गई है। ह्यूम के पास भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के जो दस्तावेज थे, उन्ही में से वेडरबर्न को एक ऐसा दस्तावेज मिला था जिसपर कोई तिथि नही थी और इस दस्तावेज का ह्यूम की जीवनी में विस्तार से उल्लेख किया गया है। जैसा कि वेडरबर्न ने ह्यूम की जीवनी में लिखा है कि – वायसराय लार्ड लिटन के शासनकाल के अन्त में अर्थात 1878–79 के लगभग मिस्टर ए0 ओ0 ह्यूम को यह पक्का विश्वास हो गया कि बढती अशांति का मुकाबला करने के लिए कोई सुनिश्चित कार्यवाही जरूरी हो गयी है। देश के विभिन्न भागों के शुभचिन्तकों से इन्हे चेतावनी मिली थी कि भारतीय जनता के आर्थिक कष्ट और सरकार से बुद्धिजीवियों के अलगाव के कारण भारत के भावी कल्याण के लिए खतरा पैदा हो गया है।

इस दस्तावेज का सारांश यह था कि मौजूदा हालात में बढ़ती हुई निराशा के कारण भारत के कुछ लोग एकजुट हिंसक संघर्ष करना चाहते है। पढ़े–लिखे लोगों का एक छोटा वर्ग भी इन लोगों के साथ है। यह शिक्षित तबका तंग आकर अनुचित रूप से सरकार के विरूद्ध है और यह तबका भी आन्दोलन में शामिल होगा और उसे अपना

नेतृत्व प्रदान करेगा। भारतीयों का असन्तोष इस समय ऐसे चौराहे पर खड़ा था जहॉ वह राष्ट्रीय मुक्ति का वही रास्ता अपना सकता था जिसे अमरिका और इटली ने अपनाया था। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को इस रास्ते पर जाने से रोकने के लिए ब्रिटिश शासकों ने हस्तक्षेप करना जरूरी समझा और हस्तक्षेप करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया।

हालॉकि यह भी समझना भी जरूरी है कि भारत के कई राष्ट्रीय नेता और अनेक इतिहासकारों जैसे कि लाला लाजपत राय, आर0 सी0 मजूमदार, ताराचन्द आदि ने इस रिपोर्ट के उद्धरण को एक ऐतिहासिक साक्ष्य मान लिया। हालॉकि आज तक के शोधों के आधार पर यह दावा किया जाता है कि सात खण्डों की जिस रिपोर्ट का हवाला दिया जाता है, वह वेडरबर्न की किताब के ''भारतीय धार्मिक नेता'' शीर्षक से छपे अध्याय के है जो कि पुस्तक के पृष्ठ संख्या 80–83 के बीच छपे है और यह महात्माओं, गुरूओं और ह्यूम के दोस्तों ने तैयार किये थे। सारांश यह है कि 'सुरक्षा बाल्ब' की बात वास्तव में महात्माओं और गुरूओं की कारगुजारियों पर आधारित है।

भारतीय आभिजात्य वर्ग की प्रतिद्वन्द्वी आकांक्षाएँ –

मुख्यतः कैम्ब्रिज में केन्द्रित इतिहास की नव–साम्राज्यवादी विचारधारा से सम्बद्ध कुछ इतिहासकारों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस वस्तुतः बिल्कुल भी राष्ट्रवादी नहीं थी, बल्कि यह तो नौकरी के भूखे, कुण्ठित और निराश मध्यम वर्ग या सत्ता लोभी स्वार्थी व्यक्तियों का एक आन्दोलन मात्र था और उन्होंने अपनी प्रतिद्वन्द्विताओं के लिए एक साधन के रूप में कांग्रेस का उपयोग किया। किसी विशेष मामले में यह बात पर्याप्त सही सिद्ध हो सकती है लेकिन विचारधारा एवं देशभक्तिपूर्ण प्रयोजनों के महत्त्व का इस प्रकार सामान्यीकरण करना, न केवल गलत होगा बल्कि उस विचार की भी उपेक्षा होगी, जिसने लाखों, करोड़ों लोगों में राष्ट्रीय चेतना का संचार करके उन्हें प्रभावित किया। बल्कि सही अर्थ में कहें तो कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उन आर्थिक एवं जातीय उपलक्ष्यों पर ही पानी फेर दिया जिनकी कल्पना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय अंग्रेजों ने भी नहीं की थी और न उन्हें कांग्रेस की कार्य–सूची में प्राथमिकता दी गई थी। ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि भारत उस समय एक निर्माणाधीन देश था जिसकी अपेक्षाओं तथा शिकायतों को पहले वकीलों तथा पत्रकारों जैसे शिक्षित मध्यम वर्गों के छोटे से समूह द्वारा ही अभिव्यक्ति एवं प्रस्तुति मिल पाती थी क्योंकि उन्हें ही आधुनिक घटनाक्रम को समझने एवं उजागर करने के बेहतर अवसर उपलब्ध थे।

एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता–

सिर्फ यह कहना कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सुरक्षा बाल्ब के रूप में की गई थी, एक गलत और अधूरा सत्य होगा। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। इस समय जो भारतीय लोग एक नये सामाजिक और राजनीतिक तत्वों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और अंग्रेजों के द्वारा भारत में किये जा रहे शोषण के विरूद्ध थे। 1860 और 1870 के दशक से ही भारतीयों में राजनीतिक चेतना पनपने लगी थी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भारत के विभिन्न हिस्सों में अनेक संगठनों की स्थापना होने लगी थी और भारतीय जनता

राजनीतिक तौर पर काफ़ी जागरूक हो चुकी थी। भारतीय राजनीति में सक्रिय बुद्धिजीवी, संकीर्ण हितों के लिए आवाज़ उठाने के बजाय राष्ट्रीय हितों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष करने को छटपटाने लगे थे। 1885 तक आते–आते एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन का जन्म एक ऐतिहासिक जरूरत और अवश्यंभावी हो गया। देश के सभी राष्ट्रवादियों ने इस जरूरत को बड़ी शिद्दत से महसूस किया। उनके इस प्रयास को सफलता मिली और एक 'राष्ट्रीय दल' का गठन हुआ जो राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था। एक प्लेटफार्म, एक संगठन, एक मुख्यालय के रूप में 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इस बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी।

इस 'राष्ट्रीय दल' के गठन के लिए जो राजनीतिक गतिविधियाँ हो रही थीं, अँग्रेज़ सरकार उससे बखूबी परिचित थी। उसे पूर्वाभास हो गया था कि क्या होने वाला है। राजनीति में सक्रिय भारतीयों को संदेह की नज़र से देखा जाने लगा। ब्रिटिश हुकूमत को लगने लगा कि यह असहयोग कहीं देशद्रोह और आयरलैंड की तरह के आंदोलनों का दौर न शुरू कर दे। उनका यह संदेह तात्कालिक नहीं था बल्कि इसका ठोस ऐतिहासिक आधार था। उस् समय की कई राष्ट्रीय माँगो – आयातित सूती वस्त्रों पर आयात शुल्क में कमी न करना, हथियार रखने का अधिकार देना, प्रेस की आज़ादी, सेना पर खर्च में कटौती, प्रशासनिक सेवा का भारतीयकरण, भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपीय नागरिकों पर आपराधिक मुकद्दमे की सुनवाई का अधिकार, आदि के सन्दर्भ में यह स्पष्ट था ब्रिटिश हुकूमत इन माँगों को भी आसानी से मानने वाली नहीं थी क्योंकि उसे लगता था कि यदि ये माँगें मान ली गईं तो भारतीय जनता पर अँग्रेजी हुकूमत का शिकंजा ढीला हो जाएगा।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस की स्थापना, 1885 से पहले के कुछ वर्षों से देश में चल रहे राजनीतिक कार्यकलाप और गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थी। उस समय तक देश की राजनीतिक परिणति ऐसी बन गई थी कि यह ज़रूरी हो गया था कि कुछ बुनियादी काम और लक्ष्य तय किए जाएँ और उनके लिए संघर्ष शुरू किया जाए। इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए यह ज़रूरी था कि देश के राजनीतिक कार्यकर्ता एक अखिल भारतीय आधार पर गठित मंच पर आएँ। ये सभी लक्ष्य एक–दूसरे से जुड़े थे और एक–दूसरे पर आधारित थे और इन्हें तभी हासिल किया जा सकता था, जब राष्ट्रीय स्तर पर कोई कोशिश शुरू की जाती। 28 दिसंबर 1885 को बंबई में हुए सम्मेलन में जिन लोगों ने हिस्सा लिया था, उनके लिए ये बुनियादी लक्ष्य ही सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थे और वे यह आशा लेकर ही वहाँ गए थे कि इन लक्ष्यों को हासिल करने की प्रक्रिया की शुरुआत बंबई से हो सकेगी।

ए0 ओ0 ह्यूम की भूमिका –

अब इस देशव्यापी राष्ट्रीय संगठन की स्थापना में क्या थी ह्यूम की भूमिका? अगर कांग्रेस की स्थापना करने वाले लोगों में इतनी ही क्षमता, योग्यता और देशभक्ति थी, तो उन्हें क्या ज़रूरत थी कि वे ह्यूम को कांग्रेस का मुख्य संगठनकर्ता बनाते। उस समय की परिस्थितियों पर गौर किया जाय तो शायद इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ा जा सकता है। भारतीय उपमहाद्वीप के विस्तृत आकार की तुलना में, 1880 के दशक की शुरुआत में

राजनीतिक सोच रखने वाले लोग बहुत कम थे और ब्रिटिश शासकों का खुले विरोध करना इतना आसान नही होता।

दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानाडे, फिरोजशाह मेहता, जी0 सुब्रह्मण्यम अय्यर और एक साल बाद आए सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे उत्साही और प्रतिबद्ध नेताओं ने इसलिए ह्यूम से सहयोग लिया क्योंकि वे बिलकुल शुरू–शुरू में ही सरकार से दुश्मनी नहीं मोल लेना चाहते थे। उन्होने ह्यूम का साथ इसलिए दिया कि वे अपनी प्रारंभिक राजनीतिक गतिविधियों के लिए सरकार के संदेह का पात्र नही बनना चाहते थे। उनका सोचना था कि अगर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे सरकार–विरोधी संगठन का मुख्य संगठनकर्ता ऐसा आदमी हो जो अवकाश प्राप्त ब्रिटिश अधिकारी हो तो इस संगठन के प्रति सरकार को शक–शुबहा कम होगा और इस कारण कांग्रेस पर सरकारी हमले की गुंजाइश भी कम होगी।

दूसरे शब्दों में, अगर ह्यूम और दूसरे अँग्रेज़ अधिकारियों ने कांग्रेस का इस्तेमाल 'सुरक्षा वाल्व' के तौर पर करना भी चाहा हो, तो कांग्रेस के नेताओं ने उनका साथ इस आशा से पकड़ा था कि ये लोग कांग्रेस के लिए 'तड़ित चालक' (Lightening Conductor) जैसा काम करेंगे और आंदोलन पर गिरनेवाली सरकारी दमन की बिजली से उसे बचा सकेंगे। जैसा कि बाद के हालात गवाह हैं, इस मामले में कांग्रेस के नेताओं का अंदाज़ा और उम्मीदें ही सही निकलीं। 1913 ई0 में गोपाल कृष्ण गोखले ने भी कहा था–

कोई भी भारतीय कांग्रेस की स्थापना नही कर सकता था ..... यदि कोई भारतीय इस प्रकार का अखिल भारतीय आन्दोलन प्रारंभ करने के लिए आगे आता भी तो सरकारी अधिकारी उसे अस्तित्व में ही नही आने देते। यदि कांग्रेस का संस्थापक एक भूतपूर्व अंग्रेज अधिकारी नही होता तो उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलनों के संदेहास्पद वातावरण में अधिकारी इस आन्दोलन को कुचलने का कोई–न–कोई रास्ता निकाल ही लेते।

इस प्रकार 1885 ई0 में बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ भारत का स्वतंत्रता आन्दोलन लघु पैमाने पर तथा मंद गति से – लेकिन एक संगठित रूप में – शुरू हुआ तथा साल दर साल शक्ति ग्रहण करता गया। धीरे–धीरे उसने सभी भारतवासियों को विदेशी सत्ता के विरूद्ध संघर्ष करने के लिए अपने दायरे में ले लिया।

राष्ट्रवाद के सिद्धान्त : गॉधी और टैगोर के विचार
Theories of Nationalism: Views of Gandhi and Tagore

आधुनिक विश्व के इतिहास में ऐसी कई प्रभावशाली विचारधाराएं एवं सिद्धांत हुए हैं जिनमें विश्व इतिहास की दिशा बदलने की क्षमता रही है। फ्रांसीसी क्रांति के दौरान अवतरित हुए तथा कई विद्वान राजनीतिक विचारकों के अनुसार सम्पूर्ण बीसवी सदी की अधिकांश उथल–पुथल हेतु उत्तरदायी, ऐसे ही एक शक्तिशाली एंव आकर्षक राजनीतिक सिद्धांत का नाम है 'राष्ट्रवाद'। विद्वानों का मानना है कि राष्ट्रवाद ने आधुनिक इतिहास को आगे बढ़ाने में कई तरह से ईंधन का कार्य किया है तथा लगभग प्रत्येक आधुनिक राष्ट्र इससे प्रभावित हुआ। हालांकि राष्ट्रवाद की प्रकृति प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न–भिन्न रही है।

सही मायने में देखा जाय तो राष्ट्रवाद एक ऐसी सशक्त भावना है जो किसी राष्ट्र के प्रति उसके नागरिकों की निष्ठा, प्रेम और समर्पण का प्रतीक होती है। यह राष्ट्रवाद की भावना ही है जो किसी देश के नागरिकों को एकता बनाये रखने के लिए प्रेरित करती है, उन्हे अपने सांस्कृतिक मूल्यों से प्यार करना सिखाती है और खुद से पहले राष्ट्र को अहमियत देने की प्रेरणा देती है। राष्ट्रवाद को एक राजनीतिक–सांस्कृतिक सिद्धांत के रूप में भी देखा जाता है और इसे एक जनभावना भी बताया गया है तथा कुछ विचारकों ने इसे एक आंदोलन भी माना है तो बहुतों ने इसे एक विशेष प्रकार की विचारधारा भी कहा है। लेकिन 'राष्ट्रवाद' के प्रयोग, उपयोग एवं परिणाम को देखते हुए सामान्यतः 'राष्ट्रवाद' को एक 'दोधारी तलवार' के रूप में विश्लेषित किया जाता है जो कि एक तरफ किसी राष्ट्र के लोगों के लिए एक वरदान साबित हो सकती है जो उन्हें आपसी विभिन्नताओं एंव विविधताओं के वाबजूद तथा मतभेदों को दरकिनार कर एक प्रकार की 'जोड़ने वाली शक्ति (Binding force) की तरह कार्य करे। वहीं दूसरी तरफ एक विनाशकारी शक्ति का भी यह रूप ले सकती है यदि राष्ट्रवाद का सहारा लेकर किसी राष्ट्र में एक धर्म अथवा प्रजाति के लोगों की श्रेष्ठता स्थापित करते का प्रयास किया जाए या जब राष्ट्रवाद के नाम पर युद्ध को न्यायोचित बताया जाए। राष्ट्रवाद के दोनों ही स्वरुपों को पूरा विश्व पिछले दो–ढाई सदी में देख चुका है। राष्ट्रवाद ने जहाँ एक तरफ यूरोप में राजतांत्रिक तानाशाही की समाप्ति हेतु लोकतांत्रिक क्रांतियों द्वारा यूरोप के लोकतंत्रीकरण में योगदान दिया तो वहीं दूसरी ओर इसने देशों के मध्य कटुता, युद्धों एंव अस्त्र–शस्त्र की स्पर्धा को भी बढावा दिया जिसके परिणामस्वरूप अंततः विश्वयुद्ध छिड़ गया। इसके साथ ही राष्ट्रवादी भावनाओं ने जहां एक तरफ उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद को ध्वस्त कर बहुत से देशों को आजादी तथा लोकतांत्रिक शासन प्रणाली प्रदान की तथा शोषण से मुक्ति दिलाई तो वहीं दूसरी ओर हिटलर, मुसोलिनी, स्टॉलिन एंव माओत्सेतुंग जैसे नेताओं के हाथों में आकर यही राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद व तबाही का वाहक भी बना है, इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद ने जहां संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्र को दुनिया के सामने खड़ा किया तो वहीं इसी तरह की राष्ट्रवादी भावनाओं ने ही कई शक्तिशाली राष्ट्रों को टुकड़ों में विभाजित भी किया है।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि राष्ट्रवाद का स्वरूप समय, परिस्थिति, उद्देश्य एंव नेताओं–राजनीतिज्ञों के विचारों के

अनुसार परिवर्तित होता रहता है, यही कारण है कि राष्ट्रवाद जैसे गतिशील व जीवंत सिद्धांत की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकी है तथा विभिन्न विचारकों ने राष्ट्रवाद के भिन्न–भिन्न प्रकार एंव भेद बताये हैं किन्तु फिर भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता कि राष्ट्रवाद वर्तमान समय में भी एक बहुत ही आकर्षक एवं प्रभावशाली सिद्धांत है जो कि आज भी विभिन्न राष्ट्रों की आंतरिक राजनीति एंव विदेश नीति को विभिन्न तरह से प्रभावित कर रहा है।

जहाँ तक भारतीय राष्ट्र एंव राष्ट्रवाद का प्रश्न है तो इस संबंध में विभिन्न विचारकों के विचार भिन्न–भिन्न हैं। भारतीय राष्ट्र के संबंध में विभिन्न राजनीतिक विद्वानों के विचारों को प्रमुख रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. पहले वग में जॉन स्ट्रैची, एंडरसन जैसे पश्चिमी इतिहासकार है जिनका मानना है कि भारतीय प्रायद्वीप में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व कोई राष्ट्र नही था या भारत एक राष्ट्र बना भी तो ब्रिटिश शासन की वजह से।
2. दूसरे वर्ग में महात्मा गांधी, नेहरू, तिलक जैसे स्वतंत्रता आन्दोलन से जुडे राष्ट्रवादी इतिहासकार है जिनका मानना है कि भारत एक प्राचीन राष्ट्र है जिसमें कहीं न कहीं भौगोलिक–सांस्कृतिक एकता की चेतना थी जिसे एक न एक दिन आधुनिक राष्ट्र बनना ही था।
3. तीसरा वर्ग सावरकर जैसे हिन्दू राष्ट्रवादी एवं तथाकथित सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहासकारों का है जिनका मानना है कि भारत एक प्राचीन हिन्दू राष्ट्र है तथा इसे हिन्दू राष्ट्र ही बनाया जाना चाहिए।

इन तीनों ही विचार वर्ग के विद्वानों के पास एक–दूसरे के तर्कों के स्वभाविक उत्तर एवं स्वयं के विचारों की पुष्टि हेतु स्वघोषित प्रमाण हैं।

अतः कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद लोगो के किसी समूह की उस आस्था का नाम है जिसके तहत वे खुद को साझा इतिहास, परम्परा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर एकजुट मानते हैं। इन्हीं बंधनो के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि उन्हें आत्म निर्णय के आधार पर अपने संप्रभु राजनीतिक समुदाय अर्थात् राष्ट्र की स्थापना करने का आधार है। कुल मिलाकर यह स्वीकार किया जा सकता हैं कि राष्ट्रवाद एक मानसिकता है जो किन्ही विशेष प्रकार के लोगो को एकताबद्ध करके उनके समूह को राष्ट्र बना देती है। ऐसी मानसिकता का कोई प्रेरक तत्व हो सकता है जैसे– धन, समान मूलवंश या नस्ल, समान जाति, समान इतिहास, समान भाषा, समान सभ्यता और संस्कृति आदि राष्ट्रवाद की भावना कहीं भी अंकुरित हो सकती है।

भारतीय राष्ट्रवाद के संबंध में यह बात लगभग निर्विवाद रूप से सत्य है कि भारत में राष्ट्रवाद एवं आधुनिक प्रकृति की राष्ट्रीयता की चेतना का विकास ब्रिटिशों की अप्रत्यक्ष देन है। भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति औपनिवेशिक शोषण–विरोधी थी। भारत में राष्ट्रवाद का विकास ब्रिटिशों द्वारा किये जा रहे औपनिवेशिक शोषण तथा उससे प्रस्फुटित

भारतीय जनमानस में अंग्रेजों के विरुद्ध घृणाभाव तथा भारतीय अभिजन वर्ग में आयी आत्म–सुधार की चेतना के परिणामस्वरूप हुआ। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में आरंभ हुए सामाजिक एवं धर्मिक सुधार आंदोलन, अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई देश में राजनीतिक एकता, पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव, अंग्रेजी नीतियों के आलोचक समाचार पत्र–पत्रिकाएं, राष्ट्रवादी–देशभक्ति साहित्य, यातायात तथा संचार साधनों का विकास, पश्चिम में घटित क्रांतियों का प्रभाव आदि–इत्यादि सभी घटनाक्रमों ने भारतीय राष्ट्रवाद को विकसित करने में योगदान दिया। इसके अतिरिक्त तिलक, गांधी, नेहरू इत्यादि आंदोलनकारी नेताओं की असाधारण नेतृत्व कला एवं क्षमता ने भी इस कार्य में निर्णायक भूमिका निभाई।

विभिन्न् विचारकों का मानना है कि ब्रिटिश शासन द्वारा अपने हितों की पूर्ति हेतु अपनाये गए विकासवादी स्वरूप ने यदि भारतीय राष्ट्रवाद के जन्म के लिए पृष्ठभूमि तैयार की तथा अप्रत्यक्ष रूप से योगदान किया तो वहीं उसके प्रतिक्रियावादी एवं दमनकारी स्वरूप ने इस प्रक्रिया में 'आग में घी' का कार्य किया।

भारतीय राष्ट्रवाद का अध्ययन करने पर अखिल भारतीय स्तर पर इसके मुख्यतः दो भिन्न दृष्टिकोण अथवा स्वरूप सामने आते हैं–

1. धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद (भारतीय राष्ट्रवाद) 2. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (हिन्दु राष्ट्रवाद)

एक तरफ जहां धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादियों यथा– गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा अम्बेडकर इत्यादि आंदोलनकारी नेताओ का राष्ट्रवाद आधुनिकतावादी, विविधता में एकता को स्वीकार करने वाला तथा उदार संवैधानिक मूल्यों से प्रभावित राष्ट्रवाद है, तो वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है, जो मुख्यतः हिन्दू राष्ट्रवाद का द्योतक है। हम यहॉ महात्मा गॉधी और रविन्द्र नाथ टैगोर के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का ही विश्लेषण करेंगे। गॉधीजी के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारधारा का अध्ययन करने से पूर्व हमें उनके कुछ महत्वपूर्ण दर्शन को समझना होगा।

गांधीजी का अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग सम्बन्धी विचार :

भारत को स्वतंत्रता दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले महात्मा गॉधी एक महान राजनीतिज्ञ व स्वतंत्रता सेनानी ही नही अपितु वह एक सामाजिक व धार्मिक चिन्तक भी थे और भारतीय समाज में धर्म तथा परम्परा के नाम पर प्रचलित दोषों को समाप्त करने के लिए सतत आजीवन प्रयत्नशील रहे। उनकी धर्म में विशेष आस्था थी। गंभीर चिन्तक होने के कारण उन्होंने एक दार्शनिक दृष्टिकोण अपना लिया था और उसी दृष्टिकोण से उनका बैयक्तिक, सामाजिक, और राजनीतिक जीवन संचालित हुआ। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण तात्कालीन मार्क्सवादी हिंसात्मक क्रान्ति के विपरित अहिंसात्मक था।

गांधीजी की अवधारणा थी कि भारत में एक आदर्श समाज की स्थापना की जाय। अपनी इस अवधारणा को कार्यरूप देने के लिये जिस सम्प्रभुत्व समाज व राज्य का स्वरूप उनके मानस पटल पर था उसका आधार नैतिकता थी। आदर्श राज्य की कल्पना तो सहज हो सकती है परन्तु उनकी वास्तविक अनुभूति अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि ऐसे समाज या राज्य तभी अस्तित्व में आ सकते है जब उस समाज या राज्य का रहनेवाला

प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हो। सत्य, अहिंसा एवं त्याग के मार्ग पर मननशील व्यक्ति ही ऐसी दशा को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

गाँधीजी के अहिंसा पर विचार–

गांधीजी ने कहा कि अहिंसा का अर्थ पृथ्वी पर किसी वस्तु को विचार, शब्द या कर्म के द्वारा हानि न पहुंचाना है। अतः अहिंसा का अर्थ केवल भौतिक चोट पहुँचाना नही, जो आदमी मन में भी दूसरों की बुराई सोचता है वह भी हिंसक है। अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि गाजर, मूली न खाई जाय क्योंकि वह जीवित है। अहिंसा का अर्थ यह भी नहीं है कि नरभक्षी पशु को न मारा जाय। गांधीजी का तो यहाँ तक कहना है कि अगर कोई व्यक्ति ऐसी बीमारी से ग्रस्त है, जो लाइलाज है और उसके जीवित रहने की संभावना कम ही है तथा वह स्वयं भी मृत्यु चाहता है तो उसे जहर देकर मारने में बुंराई नही है। उन्होंने स्वयं अपने बछडे को जहर देकर मार डाला क्योंकि वह लाइलाज था और असहनीय पीडा से युक्त था। परन्तु ऐसा करते समय निम्न बाते ध्यान में रखी जाय –

1. बीमारी लाइलाज हो।
2. सभी संबंधित लोगो को उसके बचने की कोई आशा न हो।
3. उसको किसी प्रकार नहीं बचाया जा सकता हो।
4. रोगी स्वयं अपनी इच्छा नही बता सकता या वह स्वयं यह समझता हो कि वह बच नही सकता है।

गांधीजी के सत्याग्रह सम्बन्धी सिद्धान्त –

गांधीजी सत्याग्रह को आत्मा की शक्ति मानते थे। साहित्यिक दृष्टि से सत्याग्रह का अर्थ सत्य पर आग्रह करना या उस पर डटे रहना है परन्तु यह काम आसान नही है। सर्वप्रथम तो व्यक्ति को सत्य की खोज करनी होती है, जो आत्मा के अन्तःकरण से होता है। उसके बाद उस सत्य पर अटल रहना होता है। जो व्यक्ति हर परिस्थिति में सत्य पर डटे रहता है, वही सत्याग्रही होता है। कुछ लोग सत्याग्रह को दुर्बलो का साधन मानते है परन्तु यह गलत है। सत्याग्रही वही हो सकता है जिसमे आत्मा का बल हो। सत्याग्रही निडर होना चाहिये। इसके लिये मोटा–तगड़ा होना भी जरूरी नही है, इसके लिये तो नैतिक बल जरूरी है।

गाँधीजी का कहना था कि अगर कोई व्यक्ति अन्यायपूर्ण दमन को शान्ति से देखता रहता है तो वह असत्य को सत्य पर हावी होने का अवसर देता है, ऐसी दशा में वह सत्याग्रही नहीं हो सकता है। सत्याग्रह का अर्थ अन्याय को शान्ति से सहन करना नही है, अतः सत्याग्रह का लिए व्यक्ति का निडर होना आवश्यक है। क्योंकि उसके लिए बगैर मौत मरने के लिये तैयार रहना पडेगा। बगैर किसी को मारे स्वयं मर जाना ही बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु यदि किसी में इतनी निडरता भी नही है तो उसे डर–डर कर भागने के बजाय मरना या मार देना चाहिए।

सत्याग्रह और अहिंसा में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अहिंसा भौतिक कार्यवाही या दबाव में विश्वास करती है और सत्याग्रह नैतिक शक्ति में। ऐतिहासिक दृष्टि से सत्याग्रह का व्यक्तिगत रूप से पहले भी प्रयोग किया जा चुका है परन्तु गाँधीजी ने उसका सामाजिक तथा राजनीतिक शस्त्र के रूप में प्रयोग किया है।

गांधीजी के असहयोग सम्बन्धी विचार –

गाँधीजी का मत है कि समस्त बुराइयों को दूर करने के लिये असहयोग ही सबसे उपयुक्त साधन है। अगर कोई पिता अपने बच्चो के प्रति अन्याय करता है तो बच्चों को घर छोड़ देना चाहिये, यदि कोई विद्यालय अनैतिक शिक्षा देता है तो विद्यार्थी को वह स्कूल छोड़ देना चाहिए। इसी तरह कोई शासक अगर अन्याय करता है तो उसके साथ सहयोग बन्द कर देना चाहिये। मुट्ठी भर अंग्रेज भारत में इतने दिन तक इसलिए बने रहे क्योंकि भारतीय उनके साथ सहयोग करते रहे थे इसलिये गांधीजी ने 1920 ई0 में अपना असहयोग आन्दोलन प्रारंभ किया। परन्तु यह असहयोग शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक होना चाहिये। हिंसात्मक असहयोग से अराजकता उत्पन्न होती है। सरकार की अवज्ञा शान्तिपूर्ण भक्ति और आदर के साथ की जानी चाहिये। गाँधीजी का कहना था कि असहयोग पूरी तरह एक लोकतांत्रिक साधन है। हालॉकि लोकतांत्रीक शासन में प्रायः इसकी आवश्यकता नही होती है परन्तु अगर शासक जनता की उपेक्षा करने लगे तो असहयोग द्वारा जैसे– कर न देना, शासन का बहिष्कार करना आदि शस्त्र से उसका विरोध किया जा सकता है।

गांधीजी का राम राज्य–

गाँधीजी ने जिस राज्य व्यवस्था की संकल्पना प्रस्तुत की थी उसे रामराज्य के नाम से जाना जाता है। गांधीजी के अनुसार– धार्मिक दृष्टि से रामराज्य का तात्पर्य है पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य। राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातन्त्र है जिसमे गरीबी एवं अमीरी तथा रंगभेद के आधार पर स्थापित असमानताओ का सदा सदा के लिये अन्त हो जाता है। रामराज्य में भूमि तथा राज्य पर जनता का स्वामित्व होता है, न्याय शीघ्रता से मिलता है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अभिरूचि, इच्छा एवं आवश्यकतानुसार पूजा–पाठ, विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लेखन, व्यवसाय, जीवन यापन की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। नैतिक प्रतिबंध की स्वेच्छया आरोपित के राज्य के कारण ही यह सब संभव हो पाता है।

गाँधीजी के शब्दो में– ''मेरा स्वराज्य राजनीतिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नही है। मैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्मराज के सत्य और अहिंसा के शासन को स्थापित हुआ देखना चाहता हूँ। दासता की जंजीरो में जकड़े रहना मनुष्य के गौरव के विरुद्ध है––– मेरे लिये देशभक्ति वही है जो कि मानवता के कल्याण में समर्थ है। मेरी जीवन योजना में साम्राज्यवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। मैं मानव की ही नही समस्त जीवित प्राणियों की एकता में विश्वास रखता हूँ। मेरा ऐसा विश्वास है कि अगर व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से उॅचा उठता है तो समस्त संसार को इससे लाभ पहुंचता है। मै तो एक ऐसे भारत के निर्माण के लिये कार्यरत रहूंगा जिसमे गरीब से गरीब व्यक्ति भी यह अनुभव करे कि इस देश के निर्माण में उसकी प्रभावशाली आवाज है..... एक ऐसा भारत जिसमें सब जातियाँ पारस्परिक एकता और सदभावना के स्नेह सूत्र में बँधी हुयी मिल जुलकर रहेगी। ऐसे

सुन्दर भारत में अश्पृश्यता, मद्यपान, नशीली वस्तुओं के सेवन के लिये कोई स्थान नही हो सकता है। महिलाओं को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो पुरुषो को। मेरे स्वप्नों के भारत का यही रूप है।"

विद्वानों ने गांधी के रामराज्य को अहिंसक प्रकृति का नहीं माना है क्योंकि पूर्ण अहिंसक राज्य वास्तव में राज्य नही रह जाता। अहिंसक राज्य का आधार सत्याग्रह हो सकता है। स्वयं गाँधीजी ने भविष्य के अहिंसक राज्य की कोई रूपरेखा प्रस्तुत नही की है। बहुत सामान्य बात है कि साधक की शक्ति सम्पन्नता से साधन अहिंसक होना असंभव है।

गाँधीजी का आदर्श लोकतन्त्र सत्याग्रही ग्रामीण समाज के संघो पर स्थित है। यह ऐसा समाज होगा जो आत्मनिग्रह, संयम, त्याग और अहिंसा का पूर्णतः परिपालन करेगा। वे सामाजिक समानता, अपरिग्रह तथा श्रम द्वारा निरर्थक सामाजिक विद्वेष एवं प्रतिद्वन्दिता को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। उन्होंने समाज में आर्थिक तथा सामाजिक समता लाने के लिये श्रम पर आधारित आजीविका, वर्णव्यवस्था पर अपरिग्रह की अवधारणा को अत्यन्त युक्तियुक्त तथा समीचीन बताया था।

शोषण, सामन्तवाद, जमींदार, जागीरदार तथा पूँजीवाद पर आधारित समाज गाँधीजी के विचार से सकल मानवता के लिये कुष्ठ रोग तुल्य था और यही कारण है कि वे कुटीर उद्योग के पक्षधर थे। उनकी मान्यता थी कि कारखानो तथा बडे–बडे आद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना से वर्गसंघर्ष उत्पन्न होगा तथा श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के बीच खाई चौड़ी होगी तथा अहिंसा पर आधारित समाज का अवचिन्तन व्यर्थ होगा। महात्मा गाँधी ऐसे समाज के समर्थक रहे जिसमें लोकतांत्रिक समाज हो तथा ऐसा समाज स्वाबलम्बी तथा आत्मनिर्भर गाँवो में विर्निमित होगा।

गाँधीजी का आदर्श समाज भारी वाहनों, वकीलों, न्यायालयों आधुनिक चिकित्सकों तथा उनकी चिकित्सा पद्धति से रहित होगा। देशीय उपकरणों, वस्तुओं, यातायात साधनों का पूर्ण उपयोग होगा तथा नैतिकता पर जीवन यापन करना, व्यक्ति रोगादि के निवारण के लिये प्राकृतिक चिकित्सा यौगिक क्रिया आदि से तन–मन को स्वस्थ रखकर आत्मनियन्त्रण तथा आत्मसंयम का आचरण करना मानव हित में कार्य करेगा।

वैसे गाँधीजी का स्वयं विश्वास था कि उनका आदर्श समाज या रामराज्य सम्भव नही फिर भी हमारा प्रयास अवश्य उस दिशा मे होना चाहिये। अतः गाँधीजी का रामराज्य वह है जिसमे राजा–रंक के बीच कोई असमानता न हो तथा समाज में अहिंसा तथा सत्याग्रह का पूर्ण स्थान हो। मनुष्य अपना जीवन नैतिकता पर आधारित मूल्यों के परिपालन द्वारा बिताये। किसी भी मनुष्य को अपनी साध्य की प्राप्ति हेतु ऐसे साधनों का प्रयोग करना चाहिये जो औचित्यपूर्ण, शुभ और नैतिक हो। सूक्ष्म रूप से गाँधीजी के रामराज्य की विशेषता 'Greatest Good of the Greatest number' कहा जा सकता है।

वास्तव मे गांधीजी किसी राष्ट्र या जाति या व्यवस्था विशेष की सीमाओं से परे होकर महामानव थे, इसलिये उनका दर्शन–विचार भले ही किसी राष्ट्र के लिये पूर्णतया हितकारी न हो परन्तु जब पूरा विश्व एक होगा एवं सम्पूर्ण मानव की केवल एक ही जाति होगी तो उनका दर्शन एवं विचार ही एकमात्र समाज का निर्धारक होगा।

गॉधीजी के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार –

महात्मा गॉधी वैचारिक और संघर्ष के स्तर पर न केवल भारत के लिए बल्कि पूरे विश्व के लिए एक अनुकरणीय व्यक्ति है। गॉधीजी की भूमिका देश के राष्ट्रीय आंदोलन में एक अभूतपूर्व सेनानी के रूप में रही है। अतः भारतीय जनता ने अधिकांशतः उन्हें राजनीतिक नेता और देशभक्त राष्ट्रवादी के रूप में ही अधिक स्वीकार किया है। निःसंदेह गांधीजी राष्ट्रवादी थे लेकिन जो राष्ट्रवाद आज दुनिया के लिए घातक हो रहा है और जिसने विश्व की शांति के लिए भारी खतरा उत्पन्न कर दिया है, उस राष्ट्रवाद के समर्थक कभी भी गांधीजी नहीं रहे। गांधीजी के जीवन में राजनीति की अपेक्षा नैतिकता का महत्व अधिक था इसलिए उनका राष्ट्वाद नैतिक साम्राज्य, जीवन की सहिष्णुता और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित था। उनका राष्ट्रवाद वस्तुतः उनके विश्व प्रेम का शाश्वत सत्य था। गांधीजी सकारात्मक राष्ट्रवाद के समर्थक थे जो देश के विभिन्न धार्मिक, भाषाई, जातिगत और सामुदायिक विभेदों को एक सूत्र में जोड़ता है और कभी भी अपने को समूची मानवता से अलग नहीं समझता। उन्होंने राष्ट्रवाद को हमारे सामने अत्यन्त शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि मनुष्य का लक्ष्य विश्व मैत्री का होना चाहिए और हमें विश्व भ्रातृत्व के लिए जीना मरना चाहिए। गाँधीजी केवल सच्चे राष्ट्रवादी ही नहीं वरन् अंतर्राष्ट्रवादी भी थे। उनकी दृष्टि में मानव को अपने राष्ट्र से आगे जाकर संपूर्ण मानव जाति के साथ परस्पर स्नेह के साथ रहना चाहिए। हम कह सकते है कि गाँधीजी के राष्ट्रवाद की अवधारणा वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को परिलखित करती है।

वस्तुतः गांधीजी अपनी पराधीनता के प्रति सजग थे। दूसरों की पराधीन करना गांधीजी की प्रकृति के विरुद्ध था। गांधीजी ने ऐसे राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया जिसने भारत को एक संपूर्ण इकाई के रूप में सूत्रबद्ध किया। ए0 आर0 देसाई के शब्दो में– "उन्होंने भारत को तरह–तरह के विभाजनों में देखा था। ढेर सारे राजनीतिक दल थे, रियासतों के अन्तर्गत और ब्रिटिश शासन के तहत धार्मिक समूह थे, जैसे कि हिन्दू और मुसलमान और हजारों जातियां थी। इसके साथ–साथ इनमें वर्गीय विभाजन भी थे। गांधीजी से पहले अनेक नेताओं ने ऐसी शक्ति खड़ी करने की कोशिश की थी जो ब्रिटिश हुकूमत से लोहा ले सके पर उनकी दिलचस्पी विभाजन की शक्तियों को घटाने और एक समरस राष्ट्र बनाने में ज्यादा नहीं थी। ऐसे समय जब भारत का जनसाधारण राजनीतिक स्वाधीनता के प्रति उदासीनता था. गांधी ने उनमें एक राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न किया।"

गांधीजी : राष्ट्रवाद के सशक्त प्रतीक –

गांधीजी का राष्ट्रवाद भारत की आजादी के लिए संघर्षों में निहित था। उनके हृदय में राष्ट्रवाद का जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हो गया था। ट्रांसवाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर गांधीजी ने अपने अद्भूत राजनीतिक कौशल, दर्शन एवं तकनीक का विकास किया। गांधीजी ने राष्ट्रीय चेतना को व्यापक क्षितिज प्रदान किया। उनके राष्ट्रवादी चिंतन में धर्म, समाज एवं संस्कृति सभी का समावेश था। सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता का निर्वाह उनके राष्ट्रवाद के अभिन्न अंग थे। अहिंसा द्वारा हृदय परिवर्तन के सम्बन्ध में उनकी दृढ आस्था थी। सत्याग्रह पर उनका अटल विश्वास था. जिसकी उत्पत्ति सत्य के

सर्वोच्च आदर्श से हुई है। अतः गांधीजी का राष्ट्रवाद सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक खाइयों को पाटने का सशक्त हथियार है।

भारतीय राष्ट्रवाद आजादी के लिए संघर्ष का परिणाम था। औपनिवेशिक दासता के मकड़जाल से निकलने के लिए अपनाए जाने वाले तौर–तरीकों ने भारतीय राष्ट्रवाद को प्रभावित किया। यादव के शब्दो में – "गांधीजी ने राष्ट्रवाद को अलग ढंग से प्रस्तुत किया। गांधी जी ने राष्ट्र को प्रजा से जोडा। गांधीजी के राष्ट्रवाद को उनके चिंतन से अलग नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दो में गांधीजी ने राष्ट्रवाद पर अलग से अपना कोई विचार प्रस्तुत नहीं किए। इस लिए गांधी जी के विचारों में राष्ट्रवाद को समझने के लिए उनकी विचारधारा और संपूर्ण दर्शन का अध्ययन करना जरूरी है।" गांधीजी का मानना है कि – "राष्ट्रवाद एक राजनीतिक विचार है जो आधुनिक विचारो के साथ आधुनिक समाज की स्थापना करता है। यह बहुसंख्यक लोगो की असीम श्रद्धा, विश्वास और राष्ट्र के प्रति भक्ति है। यह राज्य को केवल राजनीतिक संगठन के रूप भी प्रदान करता है।"

गांधीजी के राष्ट्रवादी चिंतन में अपने राष्ट्र को किसी अन्य राष्ट्र को हेय दृष्टि से देखना अनुचित था। उनका मत था कि राष्ट्र, व्यक्ति से बढ़कर है क्योंकि व्यक्ति की पहचान राष्ट्र से होती है। उनका यह भी मानना था कि कोई अन्य राष्ट्र भी उनके देश के प्रति द्वेष दृष्टि न रखे। वे राष्ट्र को अपना सबकुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार थे। उनका राष्ट्रवाद, अंतर्राष्ट्रीयतावाद से प्रभावित था। गांधीजी कहा करते थे कि जो व्यक्ति राष्ट्रवादी नहीं है वह अंतर्राष्ट्रीयतावादी नहीं हो सकता। अंतर्राष्ट्रीयतावाद तभी संभव है जब राष्ट्रवाद अस्तित्व में आ जाए अर्थात् जब भिन्न–भिन्न देशो के लोग संगठित हो चुके और वे एक व्यक्ति की तरह काम करने के योग्य बन जाए। राष्ट्रवाद बुरी चीज नहीं है, बुरी है संकुचित वृत्ति, स्वार्थपरता और एकांतिकता जो आधुनिक राष्ट्रो के विनाश के लिए उत्तरदायी है।

गांधीजी का मानना था कि हिन्दुस्तान में विविध धर्मो के लोग रहते हैं। जब बाहर से आने वाले व्यक्ति विद्यमान निवासियों के साथ आसानी से घुलमिल जाते है तभी कोई देश एक राष्ट्र माना जाता है। उसमें उदार प्रवृति होनी चाहिए। दूसरे लोगो की विविधताओं को समावेश करने की शक्ति ही राष्ट्रवाद का प्रमुख गुण है। गांधीजी ने कहा था – "मेरा लक्ष्य केवल भारतीयों के बीच भाईचारे की स्थापना नहीं है। मेरा लक्ष्य केवल भारत की स्वतंत्रता नहीं, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि आज मेरा लगभग पूरा जीवन और पूरा समय इसी में लगा है। मेरी राष्ट्रभक्ति कोई एकांतिक वस्तु नहीं हैं। यह सर्वसमावेशी है और मैं उस राष्ट्रभक्ति को नकार दूंगा जो अन्य राष्ट्रीयताओं के दुख और शोषण पर सवार होने का प्रयास करेगी।"

गांधीजी के राष्ट्रवाद में अंतराष्ट्रीयवाद की झलक थी। उनका मानना था कि दोनों का सह–अस्तित्व मुमकीन है। इसका कारण है कि वे राज्य और राष्ट्र को एक–दूसरे से पृथक मानते थे। उनके अनुसार राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का अर्थपूर्ण सम्मिलित स्वरूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी अन्तःशक्तियों से परिचालित होकर एक साझे लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है किन्तु राज्य एक मशीनी व्यवस्था है, जो राष्ट्र पर थोप दी जाती है। गांधीजी की नजर में राष्ट्र रचनात्मक और जीवंतता का रूप है तो राज्य

रूढ़ियों और परम्पराओं का आदर्श रूप। उनका विचार है कि अंतराष्ट्रीयवाद तभी संभव है जब राष्ट्रवाद को महसूस किया जाए। राष्ट्रवाद को संकीर्णता, स्वार्थपरता और विशिष्टता के रूप में देखना गलत है और आधुनिक राष्ट्रवाद की अवधारणा पर यह कलंक है। आधुनिकता के इस चकाचौंध में प्रत्येक व्यक्ति एक–दूसरे को गिराकर आगे बढ़ना चाहता है। भारतीय राष्ट्रवाद इन सबसे अलग और भिन्न मार्ग प्रशस्त करता है। यह अपने आपको इस ढंग से परिपूर्ण करना चाहता है जो संपूर्ण मानवता के पक्ष में खड़ा हो सके। इसके अलावा गांधीजी स्वावलम्बी और स्वाधीन इकाइयों के समर्थक होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आत्म निर्भरता को परम आवश्यक मानते थे और चाहते थे कि विश्व के राष्ट्र आत्मनिर्भता की आत्मघातक नीति छोड़कर अंतर्निर्भर रहते हुए विश्व संघ की स्थापना करे। गांधीजी की कल्पना का विश्व अंतर्राष्ट्रीय शांति, सहयोग और मित्रता का विश्व था। उन्होंने अपने देश के लिए स्वराज पर बल दिया लेकिन यह भी अंतराष्ट्रीयता के हित में था। उन्होंने कभी भी उन भौगोलिक सीमाओं को महत्व नहीं दिया जो कि राज्य द्वारा निर्मित थी। वे स्थानीय, वर्गीय, जातीय, प्रांतीय और देश भक्ति के भावों से ऊपर थे। उनके राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों में विश्व प्रेम बंधुत्व और अंतराष्ट्रीयता के तत्व देखे जा सकते हैं। गांधीजी का राष्ट्रवाद समाज के सभी तबको के साथ बिना किसी भेदभाव के सामूहिक सोच और लक्ष्य की अभिव्यक्ति था। वे जाति या वर्ग के आधार पर पृथकतावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध थे। उन्होने जातीय ऊंच–नीच के विरूद्ध हमेशा आवाज उठायी और भारत से छुआछूत मिटाने के अथक प्रयास किए। गांधीजी के शब्दों में – "मैं सनातनी हिन्दू होने के साथ यह दावा करता हूँ कि मुझे शास्त्रों का काफी ज्ञान हैं और यह सुझाव भी देने का साहस करता हूँ कि अस्पृश्यता का आज जो व्यवहार किया जाता है उनका हिन्दू शास्त्रों में न तो कोई विधान है और न ही हिन्दू धर्म के अनुकूल है। हिन्दू धर्म का मूल नियम है कि सत्य और अहिंसा के अतिरिक्त सब कुछ क्षणभंगुर है। इसलिए मेरे विचार में छुआछूत मानवता पर एक कलंक है।"

गांधीजी का राष्ट्रवाद अहिंसात्मक सजीव और सक्रिय शक्ति उत्पन्न करने वाला था। वे अपने स्वभाव, विचार और कर्म से पूर्णतः राष्ट्रवादी थे। गांधीजी के अनुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के लिए हुई है न कि व्यक्ति की उत्पत्ति राज्य के लिए हुई है। गांधीजी राज्य को सामाजिक उत्थान और जनकल्याण का एक साधन मात्र मानते थे। गांधीजी राज्य का सभी क्षेत्रों में विरोध करते थे। गांधीजी ने कहा था– "राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास में बाधक है, व्यक्ति का नैतिक विकास उसकी आंतरिक इच्छाओं पर निर्भर है लेकिन राज्य का गठन शक्ति पर आधारित होने के कारण बाह्य कार्य को भी प्रभावित कर सकता हैं।" राज्य को अनैतिक इसलिए कहा कि वह हमें सब कार्य अपनी इच्छा से नहीं वरन् दण्ड के भय और कानून की शक्ति से करने के लिए बाध्य करता है। गांधीजी मूलतः राज्य विरोधी होते हुए भी यह स्वीकार करते है कि राज्य का उन्मूलन तत्काल संभव नहीं हैं। स्पष्ट है कि वे व्यवहारिक आदर्शवादी थे। उनका मानना था कि वर्तमान परिवेश में राज्य का उन्मूलन संभव नहीं है। लेकिन राज्य के कार्यक्षेत्र को न्यूनतम किया जा सकता है जिसमें सत्ता का विकेन्द्रकरण अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

गांधीजी का राष्ट्रवाद औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति से प्रेरित था तथापि वह पश्चिम की राष्ट्रवाद की अवधारणा से कई मायने में भिन्न था। वह अपने उद्देश्य प्राप्ति हेतु किसी भी

प्रकार के हिंसक और आक्रमक तरीको के खिलाफ था। गांधीजी ऐसे राष्ट्रवाद को स्वीकार नहीं करते जिसकी बुनियाद हिंसा पर आधारित हो। वे इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु अहिंसा के सिद्धान्तो के उपयोग के पक्षधर थे क्योंकि उनका मानना था कि प्रेम या आत्मा की ताकत के सामने हथियारों की ताकत निरीड और निष्प्रभावी हैं। वे यह भी मानते थे कि हिंसा न केवल हिंसक प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है वरन् यह संवाद के रास्ते को भी समाप्त करती है।

गांधीजी के राष्ट्रवाद में राजनीति के आध्यात्मीकरण का सिद्धान्त परिलक्षित होता है। गांधीजी का कहना था कि– "मेरी दृष्टि में धर्म के बिना कोई राजनीति का कोई मोल नहीं, धर्म के बिना राजनीति मौत का जाल है जो आत्मा की हत्या कर देता है।" इसी कारण उन्होंने नास्तिकवाद की नीति पर आधारित सभी समकालीन दर्शनों की निंदा की हैं। परन्तु इस दिशा में गांधीजी के आशय को सूक्ष्म तरीके से समझना चाहिए। उनका मानना था कि राजनीति गुटबंदी नहीं है इसका सत्य और न्याय से जोड़ जरूरी हैं। धर्म एक रचनात्मक पथ है जिस पर लोग अपने विश्वासों और प्रयोगों के आधार पर दैवी पथ का अनुकरण कर सकते हैं। इसी आधार पर सर्वोदयी समाज संभव हैं। सर्वोदयी समाज लोकमत पर आधारित होता है जो राष्ट्र की अंतर्निहित शक्ति को अभिव्यक्त करती है और राजनीतिक शक्ति के स्थान पर लोकशक्ति का वर्चस्व स्थापित हो जाएगा।

गांधीजी ने शक्ति आधारित राज्य की जगह एक आदर्श राज्य का स्वरूप प्रस्तुत किया जिसे उन्होने 'राम राज्य' शब्द से सम्बोधित किया है। गांधीजी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि धार्मिक दृष्टि से आदर्श राज्य या रामराज्य का अर्थ है – पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य। राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें गरीबी और अमीरी, रंग और मतान्तर के आधार पर स्थापित असमानताओं की सर्वथा अंत हो जाता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त होगी और प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरीके से उपासना, स्वतंत्र लेखन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होगी। गांधीजी के अनुसार मैं तो ऐसे भारत निर्माण के लिए कार्यरत रहूँगा जिसमें गरीब से गरीब व्यक्ति भी यह अनुभव करें कि यह उसका अपना देश है जिसके निर्माण में उसकी प्रभावशाली भूमिका है।

सत्य और अहिंसा गांधीजी के मिशन के मूल में थे और यही उनके राष्ट्रवाद के आधार भी थे। भारत उनकी व्यवहार भूमि थी और वे इस बात पर विश्वास करते थे कि अगर इंसानियत को बने रहना है और सौहार्द के साथ जीना है तो राष्ट्रवाद की जिस परिकल्पना में वे पले–बढ़े उसे अनवरत विस्तृत होते जाना है और अंततः विश्वबंधुत्व में परिणत हो जाना है।

गांधीजी समझते थे कि ब्रिटिश हुकूमत के तहत भारत के एक राजनीतिक इकाई बनने से पहले देश में एक होने की भावना थी और वह हमारी सांस्कृतिक विरासत की देन थी। गांधीजी की शख्सियत जल्दी ही भारत की सांस्कृतिक विरासत की एक प्रतीक बन गई। गांधीजी का राष्ट्रवाद भारत की सांस्कृतिक विरासत पर आधारित था, जिसकी गहरी जड़े भारत के मानव संसाधन और इसकी ऊर्जा में थीं। गांधीजी उन नेताओं में थे जिन्होंने सबसे पहले यह पहचाना और इस बात पर बल दिया कि भारत अपने गावों में रहता है। ऐसा करके उन्होंने मुट्ठी भर शिक्षित लोगों और करोड़ो अशिक्षितों के बीच विभाजक रेखा

मिटा दी। इसने देश की संपूर्णता में एकत्व का बोध दिया जो कि स्वस्थ राष्टवाद का आधार था।

निष्कर्ष –

गांधीजी द्वारा वर्णित राष्ट्रवादी विचारधारा मानवतावाद के साथ अभीष्ट रूप से जुड़ा है। उन्होनें साम्यवादी और साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद को कभी स्वीकार नहीं किया। वह लोक मानवतावाद के पक्षधर थे। चूँकि भारतीय राष्ट्रवाद औपनिवेशिक शासन का विरोध और उसके विरूद्ध संघर्ष से बहुत कुछ प्रभावित है। इसलिए गांधीजी ने राष्ट्रवाद की इस अनुभूति को जन आंदोलन का रूप प्रदान किया। व्यापक और विशाल जनमानस को लाभबंद करने के लिए उन्होंने अहिंसक आंदोलनों को चलाया तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को अक्षुण्ण रखने के लिए रचनात्मक कार्यक्रमों को देश की जनता के सम्मुख रखा। गांधीजी ने भारत की विविधतापूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक ताने–बाने के प्रति एक समन्वित दृष्टिकोण दिया। व्यक्ति एवं समाज के नव–अस्मिता निर्धारण को प्रस्तुत कर गांधीजी ने निश्चय ही राष्ट्रवाद के असीमित क्षितिज को व्यावहारिकता से संयोजित करने का संकल्प किया। विशाल जनमानस को एक मंच पर लाने के लिए अहिंसक आंदोलन को न केवल चलाया बल्कि 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त को भी आगे बढाया। उन्होने राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को कायम रखने के लिए अनेक रचनात्मक कार्यक्रम को लोगों के सम्मुख रखा। वे अपने राष्ट्रवाद के द्वारा न सिर्फ भारत की स्वतंत्रता चाहते थे बल्कि एकता और अखण्डता अक्षुण्ण रखना चाहते थे। अतः गाँधीजी राष्ट्रवादी होने के साथ–साथ अंतराष्ट्रीयवादी भी है जो "वसुधैव कुटम्बकम की सशक्त अवधारणा को आधार बनाते है। उनके विचार में दूसरों को क्षति पहुँचाकर राष्ट्र कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि गॉधीजी ने राष्ट्रवाद का रास्ता इस देश के लोगों को दिखाया, उस रास्ते पर चलने को आज कितने लोग राजी है, यह कहना तो मुश्किल है परन्तु यह भी सच है कि वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में गॉधी के राष्ट्रवाद का कोई विकल्प भी नही है।

रविन्द्र नाथ टैगोर और उनका राष्ट्रवाद –

जीवन परिचय –

भारत के इतिहास में रवीन्द्रनाथ टैगोर को 'गुरुदेव', 'कविगुरु' और 'बिस्वाकाबी' के नाम से भी जाना जाता है। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई, 1861 को कलकत्ता में हुआ था। वे अपने माता–पिता की तेरहवीं संतान थे। मात्र आठ वर्ष की उम्र में ही उन्होने अपनी पहली कविता लिखी और सोलह साल की उम्र में कहानियॉ और नाटक लिखना प्रारंभ कर दिया था। वह एक कवि, उपन्यासकार, नाटककार और दार्शनिक थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर एशिया के पहले व्यक्ति थे जिन्हे 'गीजांजलि' नामक पुस्तक के लिए वर्ष 1913 ई0 में साहित्य के क्षेत्र मे नोबेल पुरस्कार दिया गया। अपनी सभी साहित्यिक उपलब्धियों के अलावा, वह एक दार्शनिक और शिक्षा के पैरोकार थे। उन्होंने न केवल बांग्लादेश और भारत के लिए राष्ट्रगान प्रदान किया बल्कि अपने सीलोन के छात्रों में से एक को श्रीलंका के गान को लिखने के लिए प्रेरित किया।

गुरुदेव रविन्द्र नाथ टैगोर ने बांग्ला साहित्य के ज़रिये भारतीय सांस्कृतिक चेतना में नई जान डाली। वे एकमात्र कवि हैं जिनकी दो रचनाएं दो देशों का राष्ट्रगान बनीं। भारत का राष्ट्रगान जन–गण–मन और बांग्लादेश का राष्ट्रगान आमार सोनार बांग्ला गुरुदेव की ही रचनाएं हैं। ईश्वर और इंसान के बीच मौजूद आदि संबंध उनकी रचनाओं में विभिन्न रूपों में उभर कर आता है। साहित्य की शायद ही ऐसी कोई विधा है, जिनमें उनकी रचना न हो – गान, कविता, उपन्यास, कथा, नाटक, प्रबंध, शिल्पकला, सभी विधाओं में उनकी रचनाएं विश्वविख्यात हैं। उनकी रचनाओं में गीतांजली, गीताली, गीतिमाल्य, कथा ओ कहानी, शिशु, शिशु भोलानाथ, कणिका, क्षणिका, खेया आदि प्रमुख हैं। उन्होंने कई किताबों का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया। अंग्रेज़ी अनुवाद के बाद उनकी रचनाएं पूरी दुनिया में फैली और मशहूर हुईं।

गुरुदेव 1901 में सियालदह छोड़कर शांतिनिकेतन आ गए। प्रकृति की गोद में पेड़ों, बगीचों और एक लाइब्रेरी के साथ टैगोर ने शांतिनिकेतन की स्थापना की जो आगे चलकर 1921 ई0 में विश्व भारती विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक ऐसा स्कूल था जिसने पारंपरिक शिक्षा की दिशा बदल दी। शांतिनिकेतन में टैगोर ने अपनी कई साहित्यिक कृतियां लिखीं थीं और यहां मौजूद उनका घर ऐतिहासिक महत्व का है।

रविंद्रनाथ टैगोर ने करीब 2,230 गीतों की रचना की। रविंद्र संगीत बांग्ला संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। टैगोर के संगीत को उनके साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता। उनकी ज़्यादातर रचनाएं तो अब उनके गीतों में शामिल हो चुकी हैं। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की ठुमरी शैली से प्रभावित ये गीत मानवीय भावनाओं के कई रंग पेश करते हैं। अलग–अलग रागों में गुरुदेव के गीत यह आभास कराते हैं मानो उनकी रचना उस राग विशेष के लिए ही की गई थी।

राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार –

रवींद्रनाथ टैगोर की राष्ट्रवाद की समझ प्राचीन भारतीय दर्शन पर आधारित है, जिसके अनुसार पूरी दुनिया एक घोंसला है। उनकी राय में, राष्ट्रवाद एक माया या मृगतृष्णा की अवधारणा थी और इसे लगातार आगे नहीं बढ़ाया जाना चाहिए। टैगोर ने राष्ट्रवाद में सामान्य विश्वास से खुद को दूर करने के प्रयास में राष्ट्रवाद को शांति, सद्भाव और कल्याण जैसी अवधारणाओं के साथ जोड़ने का प्रयास किया। वह आगे कहते हैं कि अगर भारत किसी भी तरह से दुनिया की मदद करने का फैसला करता है, तो वह मानवता के रूप में ही होना चाहिए।

टैगोर की राय में, राजनीतिक स्वतंत्रता की तुलना में मन की स्वतंत्रता अधिक महत्वपूर्ण है। उनका तर्क है कि जब सामूहिक संगठन की आवश्यकता मनुष्य में जन्मजात होती है, राष्ट्र अंततः ऐसी शक्ति में विकसित हो जाते हैं कि व्यक्ति राष्ट्र के लिए एक उपकरण के अलावा और कुछ नहीं बन जाता है। उनका मत था कि एक ऐसा देश जिसका अपने बारे में संकीर्ण दृष्टिकोण है, वह अधिक उन्नत राष्ट्रों के साथ शांतिपूर्वक सह–अस्तित्व में नहीं रह सकता है और वह पिछड़ जाएगा।

टैगोर का समकालीन परिदृश्य –

टैगोर का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारत औपनिवेशिक पराधीनता का शिकार था। 20वीं सदी के पहले दशक के दौरान देश के भीतर एवं बाहर भारतीय राष्ट्रवाद ने भी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उभार को देखा जिसका स्वरुप हिंसक था और जिसने कितने निर्दोषों की सिर्फ इसलिए बलि ली क्योंकि वे अँग्रेज थे। इस स्थिति ने टैगोर को भी विचलित किया। उन्होंने महसूस किया कि राष्ट्र, राष्ट्र–राज्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा के मूल में घृणा है जो बुनियादी मानवीय मूल्यों के प्रतिकूल है।

उस समय का वैश्विक परिदृश्य तो और भी विचलित करने वाला था। उन्होंने देखा कि 17वीं शताब्दी से 19 शताब्दी के दौरान वाणिज्यवाद एवं औद्योगिक क्रांति की पृष्ठभूमि में पश्चिमी देशों में राष्ट्रवाद ने किस प्रकार उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का रूप ले लिया और इसकी पृष्ठभूमि में इसने अफ्रीकी एवं एशियाई देशों को गुलामी की ओर धकेलते हुए मानव एवं मानवता के इतिहास को कलंकित किया। इतना ही नहीं, इसने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय देशों को जिस राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा की ओर धकेला, उसकी परिणति प्रथम विश्वयुद्ध के रूप में हुई। लेकिन, राष्ट्रवाद का यह ज्वार यहीं पर नहीं थमा। यह इसके बाद भी जारी रहा और 1920 के दशक एवं इसके बाद इसने जर्मनी में नाजीवाद, इटली में फासीवाद एवं जापान में सैन्यवाद के रूप में राजनीतिक सर्वसत्तावादी निरंकुशता को जन्म देते हुए हिटलर एवं मुसोलिनी के राजनीतिक उभार को संभव बनाया। अंततः इसकी परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में हुई।

वैचारिक धरातल पर देखें, तो पश्चिमी राष्ट्रवाद की सीमाओं ने भी टैगोर को राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद के प्रश्न पर पुनर्विचार के लिए उत्प्रेरित किया। ध्यातव्य है कि इटली के छोटे–छोटे नगर–राज्यों (City States) की पृष्ठभूमि में विकसित पश्चिमी राष्ट्रवाद की संकल्पना 'एक भाषा, एक जाति एवं एक राष्ट्र' की संकल्पना पर आधारित है। यह संकल्पना भारतीय परिस्थितियों के लिए बहुत उपयुक्त नहीं थी क्योंकि भारत एक बहुभाषा–भाषी देश था जहाँ विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते आये हैं और जहाँ पर्याप्त सांस्कृतिक विविधता है। ऐसी स्थिति में पश्चिमी राष्ट्रवाद की संकल्पना भारत के लिए बहुत प्रासंगिक नहीं रह जाती है। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें टैगोर की राष्ट्र–विषयक् धारणा ने आकार ग्रहण किया।

राष्ट्रवाद और देशभक्ति का फ़र्क :

दरअसल राष्ट्रवाद एक सापेक्षिक राजनीतिक धारणा है जिसे साबित करने के लिए उनके साथ खड़े होने और उनकी विचारधारा को स्वीकार करने की ज़रुरत होती है जो खुद को राष्ट्रवाद के प्रवक्ता एवं राष्ट्रीय हितों के संरक्षक के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए 1920 के दशक में जर्मनी में हिटलर ने और इटली में मुसोलिनी ने खुद को, अपने दल को और अपने समर्थकों को राष्ट्रवादी घोषित करते हुए उन लोगों के खिलाफ मोर्चा खोला जो उनसे असहमत थे और उनकी नीतियों की आलोचना करते थे। इसीलिए राष्ट्रवाद की धारणा उसके विरोधियों के उत्पीड़न के साधन में तब्दील हो गयी और इन्होंने अपने विरोधियों को देशद्रोही घोषित किया।

लेकिन, देशभक्ति साबित करने के लिए न तो किसी राजनीतिक दल की सदस्यता लेनी पड़ती है और न ही प्रमाण–पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है। यह राष्ट्रवाद की तरह सापेक्ष अवधारणा भी नहीं है। दरअसल देशभक्ति एक प्रकार से उस भूमि के प्रति आत्मीयता से भरे लगाव एवं कृतज्ञताबोध का परिणाम है जिसमें हमारा जन्म हुआ है, पालन–पोषण हुआ है, और जिसके साथ हमारा भविष्य सम्बद्ध है। यह स्वतःस्फूर्त भाव है जो हमारे भीतर छुपा हुआ है और जिसके प्रदर्शन की ज़रुरत नहीं पड़ती है। यह सकारात्मक अवधारणा है जिसका स्वरुप अधिक–से–अधिक रक्षात्मक होता है। यह न तो आक्रामक होती है और न ही इसका स्वरुप उत्पीड़क होता है। इसमें दूसरे देश पर हावी होने या उसे नीचा दिखने का भाव भी नहीं होता है। दोनों में सबसे महत्वपूर्ण फर्क यह है कि राष्ट्रवाद इस देश के सभी नागरिकों को देशभक्त नहीं मानता है।

राष्ट्रवाद और टैगोर :

राष्ट्रवाद की संकल्पना एक सांस्कृतिक संकल्पना है। इसके अनुसार समान भौगोलिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से आने वाले लोगों के उस समूह को राष्ट्र कहते हैं जो समान सांस्कृतिक विरासत धारण करते हैं और इसके कारण एक–दूसरे के साथ भावनात्मक रूप से जुड़ाव महसूस करते हैं; जिन्हें लगता है कि वे एक ही नियति से बँधे हैं, जो एकसमान सामूहिक लक्ष्यों से प्रेरित होते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। लेकिन, टैगोर ने राष्ट्रवाद को देशभक्ति से भिन्न माना।

टैगोर ने राष्ट्रवाद की संकल्पना को यूरोपीय देन मानते हुए इसे सांस्कृतिक अवधारणा की जगह एक राजनीतिक–आर्थिक संकल्पना के रूप में देखा। 1913 ई0 में नोबल पुरस्कार मिलने के बाद टैगोर को विश्व–भ्रमण का अवसर मिला और इसी क्रम में 1917 ई0 में राष्ट्रवाद के बुखार में तड़प रहे जापान की यात्रा के दौरान उन्होंने राष्ट्रवाद की तीखी आलोचना की थी जिसके कारण उन्हें जापान से बगैर भाषण दिए वापस आना पड़ा। इस यात्रा के दौरान जारी वक्तव्यों और भाषणों को 2003 में संकलित करते हुए 'नेशनलिज्म' (Nationalism) के नाम से प्रकाशित किया गया। 1917 की जापान यात्रा के दौरान 'नेशनलिज्म इन इंडिया' (Nationalism in India) नामक निबंध में टैगोर ने राष्ट्र–राज्य (Nation-State) की आलोचना करते हुए लिखा कि "राष्ट्रवाद का राजनीतिक एवं आर्थिक संगठनात्मक आधार सिर्फ उत्पादन में वृद्धि तथा मानवीय श्रम की बचत कर अधिक संपन्नता हासिल प्राप्त करने का प्रयास है। राष्ट्रवाद की धारणा मूलतः राष्ट्र की समृद्धि एवं राजनीतिक शक्ति में अभिवृद्धि करने में प्रयुक्त हुई हैं। शक्ति की वृद्धि की इस संकल्पना ने देशों में पारस्परिक द्वेष, घृणा तथा भय का वातावरण उत्पन्न कर मानव जीवन को अस्थिर एवं असुरक्षित बना दिया है। यह सीधे–सीधे जीवन के साथ खिलवाड़ है, क्योंकि राष्ट्रवाद की इस शक्ति का प्रयोग बाह्य संबंधों के साथ–साथ राष्ट्र की आंतरिक स्थिति को नियंत्रित करने में भी होता है। ऐसी परिस्थिति में समाज पर नियंत्रण बढ़ना स्वाभाविक है। फलस्वरूप, समाज तथा व्यक्ति के निजी जीवन पर राष्ट्र छा जाता है और एक भयावह नियंत्रणकारी स्वरूप प्राप्त कर लेता है। दुर्बल और असंगठित पड़ोसी राज्यों पर अधिकार करने की कोशिश राष्ट्रवाद का ही स्वाभाविक प्रतिफल है। इससे पैदा हुआ साम्राज्यवाद अंततः मानवता का संहारक बनता है।"

राष्ट्रवाद का विध्वंसक रूप : फॉसीवाद –

फॉसीवाद तथा साम्यवाद की तुलना करते हुए रवीन्द्र नाथ टैगोर ने फॉसीवाद को साम्यवाद से कहीं अधिक खतरनाक माना और उसे 'असह्य निरंकुशवाद' की संज्ञा दी क्योंकि उस व्यवस्था में हर चीज नियंत्रित होती है। उन्होंने फॉसीवादियों को राष्ट्रवाद के पागलपन का प्रतीक मानते हुए वे कहते हैं कि फॉसीवाद के प्रवर्तन से पहले राष्ट्रवाद आर्थिक विस्तारवाद तथा उपनिवेशवाद से जुड़ा हुआ था। पर बाद में मशीनीकरण के साथ यांत्रिक सभ्यता के विकास ने राजनीतिक सर्वसत्तावाद के उदय के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित की। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसा वातावरण तैयार हुआ जिसमें बहुत हद तक न तो मानवीय मूल्यों के लिए जगह रह गयी और न ही मानवीय संवेदनाओं के लिए। इस संदर्भ में देखें तो टैगोर बेनिटो मुसोलिनी की इस बात से बहुत हद तक सहमत प्रतीत होते हैं कि "राष्ट्र राज्य का निर्माण नहीं करता, अपितु राज्य द्वारा राष्ट्र का निर्माण होता है।" उन्होंने देखा कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद किस प्रकार राष्ट्रवाद ने राज्य की शक्ति को बढ़ाया और तदनुरूप राज्य के द्वारा राष्ट्रवाद को काफी सराहा गया। इस बात की पुष्टि आज के परिप्रेक्ष्य से भी होती है। आज भी राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद शासन में मौजूद लोगों के हाथों को मजबूती प्रदान करने का साधन है और उनके द्वारा अक्सर इसका इस्तेमाल अपने संकीर्ण राजनीतिक हितों को साधने के लिए किया जाता है।

समाज को राज्य से अधिक महत्व –

आधुनिक उदारवादी चिन्तक टैगोर व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रबल हिमायती हैं और शायद इसलिए भी उन्होंने राष्ट्रवाद को व्यक्ति की स्वतंत्रता के रास्ते में बाधक मानते हुए उसकी आलोचना की है। वे समाज को मानवीय विकास के लिए आवश्यक बतलाते हुए उसे राष्ट्र की तुलना में कहीं अधिक प्रमुखता देते हैं। उनका मानना है कि जहाँ राष्ट्र व्यक्ति की रचनात्मकता को बाधित करता है, वहीं समाज इसे प्रोत्साहित करता है।

मानवता पर देशभक्ति को तरजीह –

टैगोर राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति को मानवता एवं विश्वबंधुत्व की संकल्पना के प्रतिकूल मानते थे। उनका मानना था कि– "देशभक्ति चहारदिवारी से बाहर के विचारों से जुड़ने की आजादी से हमें रोकती है। साथ ही, दूसरे देशों की जनता के दुख–दर्द को समझने की स्वतंत्रता भी सीमित कर देती है।" उन्होंने इसके लिए अपनी आलोचना का जवाब देते हुए कहा था कि "देशभक्ति हमारा आखिरी आध्यात्मिक सहारा नहीं बन सकता, मेरा आश्रय मानवता है।" टैगोर मानवता को राष्ट्रीयता से ऊपर रखते थे और उनका कहना था कि "जब तक मैं जिंदा हूँ, मानवता के ऊपर देशभक्ति की जीत नहीं होने दूँगा। "

यही कारण है कि उन्होंने एशिया की आजादी की हिमायत तो की पर आज़ादी उनकी प्राथमिकता में शीर्ष पर नहीं थी। उन्होंने नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के प्रश्न को कहीं अधिक महत्व दिया और राजनीतिक आज़ादी के प्रश्न को उन्होंने उसकी तुलना में कहीं कम महत्व दिया। उस समय चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर भी वे बहुत उत्साहित नहीं थे, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि भारत राजनीतिक आजादी से शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। उनका मानना था कि आर्थिक रूप से भारत भले ही पिछड़ा हो, पर उसे मानवीय मूल्यों की दृष्टि से पिछड़ा नहीं होना चाहिए। उन्होंने राष्ट्र की धारणा को भारत के साथ–साथ वैश्विक स्तर पर खारिज करने की आवश्यकता पर

बल दिया और भारत से यह अपेक्षा की कि वह पश्चिमी राष्ट्रवाद से दूर रहते हुए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में अपनी महती भूमिका का निर्वाह करे और पूर्व की तरह मानवीय एकता के आदर्शों को हासिल करने के लिए समस्त विश्व का मार्गदर्शन करे।

राष्ट्रवाद और भारत –

रवींद्रनाथ टैगोर राष्ट्रवाद के खिलाफ थे और उन्होंने राष्ट्रवाद को बहुत बड़ा खतरा मानते हुए कहा कि यह भारत की कई समस्याओं की जड़ है। उन्होंने भारत में राष्ट्रवाद की संभावनाओं को खारिज करते हुए इसे राष्ट्र–रहित देश माना और यूरोप से भारतीय परिस्थितियों की भिन्नता की ओर इशारा करते हुए कहा कि भारत विभिन्न प्रजातियों का देश था और इसके सामने इन प्रजातियों में समन्वय बनाए रखने की चुनौती थी, जबकि यूरोपीय देशों के सामने प्रजातियों के समन्वय की ऐसी कोई चुनौती नहीं थी। इस भिन्नता के कारण ही टैगोर ने राष्ट्रवाद को भारतीय परिस्थितियों के प्रतिकूल माना। उन्होंने यूरोपीय राष्ट्रों के लिए भविष्य के खतरों के रूप में इसकी पहचान करते हुए कहा कि इस भिन्नता के बावजूद यूरोपीय राष्ट्र राष्ट्रवाद रूपी मदिरा का सेवन कर अपनी आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक एकता को खतरे में डाल रहे हैं और भविष्य में उन्हें भी प्रजातीय समन्वय की उन चुनौतियों का सामना करना होगा जिसका सामना सामाजिक एवं सांस्कृतिक विविधता के मद्देनज़र भारत को करना पड़ रहा था। उस स्थिति में उन्हें या तो अन्य प्रजातियों के लिए अपने दरवाज़े बंद करने होंगे, या फिर उन्हें कुचलते हुए अधीनस्थ प्रजाति का रूप देना होगा। इससे भिन्न भारतीय समाज में मौजूद आत्मसातीकरण की प्रक्रिया की ओर इशारा करते हुए टैगोर ने बंग–भंग आन्दोलन (1905) के समय लिखे गए निबंध 'स्वदेशी समाज' में यह कहा कि "आर्यों ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब किस तरह यहाँ की स्थानीय जातियों ने उन्हें अपने भीतर समा लिया। बाद में फिर मुसलमान आएँ, उन्हें भी इसी तरह अपना लिया गया।"

रवीन्द्र नाथ टैगोर ने एक राष्ट्र के रूप में भारत में अन्तर्निहित संभावनाओं को खारिज करते हुए कहा कि "भारत की समस्या राजनीतिक नहीं, सामाजिक है। यहाँ राष्ट्रवाद नहीं के बराबर है।" उन्होंने भारत की सामाजिक रूढ़ियों को राष्ट्रवाद के विकास में बाधक मानते हुए कहा कि "भारत में पश्चिमी देशों जैसा राष्ट्रवाद पनप ही नहीं सकता, क्योंकि सामाजिक कार्यो में अपनी रूढ़िवादिता का हवाला देने वाले लोग जब राष्ट्रवाद की बात करें, तो वह कैसे प्रसारित होगा?" इस सन्दर्भ में अपनी बातों को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि "भारत में कभी सही मायने में देशभक्ति की भावना नहीं रही। बचपन से ही मुझे सिखाया गया था कि देश का सम्मान करना ईश्वर की पूजा और मानवता का आदर करने से ज्यादा जरूरी है। मैंने अब उस सबक को छोड़ दिया है और मेरा मानना है कि मेरे देशवासी अपने भारत को सही मायने में तभी आगे ला पायेंगे, जब वे अपने शिक्षकों की उस शिक्षा का विरोध करेंगे कि देश मानवता के आदर्शों से ज्यादा बड़ा है।"

राष्ट्रवाद की आलोचना के प्रमुख आधारः

राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में रवीन्द्र नाथ टैगोर की धारणा भी अल्बर्ट आइंस्टाइन से मिलती–जुलती है। अल्बर्ट आइंस्टाइन के अनुसार, "राष्ट्रवाद एक बचकाना बीमारी है और यह मानव जाति का चेचक है।" टैगोर विश्व–बंधुत्व के प्रबल हिमायती थे और इसीलिए उन्होंने राष्ट्रवाद की बजाय अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की वकालत की। उन्होंने राष्ट्रवाद

को इसके रास्ते में मौजूद महत्वपूर्ण अवरोध के रूप में देखा और इसे मानव एवं मानवता के लिए खतरा बतलाया। उन्होंने तीन आधारों पर राष्ट्रवाद की आलोचना की –

1. राष्ट्र–राज्य की आक्रामक नीति,
2. प्रतिस्पर्धी वाणिज्यवाद की अवधारणा, और
3. प्रजातिवाद ।

उन्होंने राष्ट्र के विचार को जनता के स्वार्थ का ऐसा संगठित रूप माना है, जिसमें मानवीयता और आत्मत्व लेशमात्र भी नहीं रह पाता है। उनकी दृष्टि में न तो राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि पर कोई नियंत्रण संभव है और न ही इसके विस्तार की कोई सीमा है। उसकी इस अनियंत्रित शक्ति में ही मानवता के विनाश के बीज उपस्थित हैं। इसीलिए यह निर्माण का मार्ग नहीं, बल्कि विनाश का मार्ग है जो विभिन्न मानव–समुदायों के बीच घृणा, वैमनस्य और टकराव को उत्पन्न करता है। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रवाद के खतरों की दिशा में संकेत करते हुए कहा कि "मानव की सहिष्णुता तथा उसमें स्थित नैतिकताजन्य परमार्थ की भावना राष्ट्र की स्वार्थपरायण नीति के चलते समाप्त हो जायेंगे।" उन्होंने शोषण के अमानवीय उपकरण के रूप में राष्ट्रवाद के इसी रूप की आलोचना की, जिसमें नृशंसता, रुग्णता तथा पृथकता दिखाई देती है। चूँकि राष्ट्रवाद के नाम पर राज्य शक्ति का अनियंत्रित प्रयोग अनेक अपराधों को जन्म देता है, इसीलिए युद्धोन्माद को बढ़ाता हुआ राष्ट्रवाद अपने समाज–विरोधी रूप में उपस्थित होता है। लेकिन, यह समाज का ही नहीं, व्यक्ति का भी विरोधी है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के समर्थक टैगोर को राष्ट्र के समक्ष व्यक्ति एवं उसकी स्वतंत्रता का समर्पण स्वीकार्य नहीं था। इसीलिए वे संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध करते हुए इसे मानव की प्राकृतिक स्वच्छंदता एवं आध्यात्मिक विकास के मार्ग में बाधा मानते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन में टैगोर की भूमिका –

रवीन्द्र नाथ टैगोर राष्ट्र, राष्ट्र–राज्य और राष्ट्रवाद की संकल्पना के मुखर विरोधी थे, इसीलिए राष्ट्रीय आन्दोलन से उनकी दूरी स्वाभाविक थी। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति वे उदासीन रहे। उन्होंने वैचारिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर विमर्श को आगे बढ़ाते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व को प्रभावित करते हुए उसके वैचारिक आधार को निर्मित करने में महत्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका निभायी। दिसंबर, 1911 ई0 में कलकत्ता में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने भाग लिया था और इसी अधिवेशन के दौरान उन्होंने पहली बार राष्ट्रगान गाया था। इससे पूर्व सन् 1905 ई0 में बंग–भंग आन्दोलन का विरोध करते हुए उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन में भाग लिया और इसके विरोध में रक्षा–बंधन दिवस मनाते हुए विरोध–प्रदर्शन का आह्वान किया। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के दौरान सन् 1905 ई0 में ही 'आमार सोनार बांग्ला' लिखकर जन्मभूमि के प्रति अपने प्रेम का इज़हार किया और बांग्ला एकता का आह्वान किया। जब रौलट एक्ट के विरोध में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, तो उन्होंने अपने भाषणों और लेखों के माध्यम से ब्रिटिश शासन और उसकी दमनकारी नीतियों की घोर निंदा की। आगे चलकर उन्होंने जलियाँवाला बाग़ हत्याकांड, 1919 की प्रतिक्रिया में 'नाईटहुड' का सम्मान त्यागते हुए इस घटना के प्रति अपना विरोध–प्रदर्शन किया और

'सर' की उपाधि अंग्रेज़ी सरकार को लौटा दी। लेकिन 1920 ई0 में जब असहयोग आन्दोलन के दौरान स्वदेशी पर जोर देते हुए विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आह्वान किया गया, तो उन्होंने विदेशी वस्त्रों को जलाये जाने की घटना की खुलकर आलोचना

करते हुए कहा कि यह संसाधनों की निष्ठुर बर्बादी है। 1930 ई0 में जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आह्वान किया गया, तो उन्होंने उसका समर्थन किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन को सशर्त समर्थन –

राष्ट्रीय आन्दोलन से उनकी दूरी निर्विवाद थी और इसके पीछे उनकी यह मान्यता थी कि –

1. अति–राष्ट्रवाद और स्वदेशी का प्रबल आग्रह पश्चिम एवं विदेशी के पूरी तरह से नकार का आधार तैयार करेगा और ऐसी स्थिति में भारत खुद तक सीमित होकर रह जाएगा।
2. यह चाह सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं से भरे भारत जैसे देश में ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम धर्म के प्रति भी असहिष्णुता का माहौल सृजित करेगा, जबकि इन्होंने अलग–अलग समय पर भारतीय समाज एवं संस्कृति पर अपनी ऐसी छाप छोड़ी है जो इनके अस्तित्व से अभिन्न हो चुकी है।

स्पष्ट है कि रवीन्द्र नाथ टैगोर आज़ाद भारत की कल्पना करते थे और इसीलिए उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया, लेकिन आज़ादी से जुड़े आंदोलनों को टैगोर का समर्थन बिना शर्त नहीं था। उन्होंने मानवतावाद को हमेशा देशभक्ति एवं राष्ट्रवाद से ऊपर रखा, इसीलिए उन्होंने सशस्त्र विद्रोह एवं क्रांति सहित किसी भी प्रकार के हिंसक आन्दोलन का खुलकर विरोध किया। यहाँ तक कि उन्होंने उग्र राष्ट्रवादी रुख की लगातार आलोचना की और राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्र राष्ट्रवाद के आग्रह ने उन्हें समकालीन राजनीति से दूर रहने के लिए विवश किया। लेकिन सक्रिय राजनीति से दूर रहते हुए भी उन्होंने आजादी के आन्दोलन के वैचारिक आधार को तैयार करने और ज़रुरत पड़ने पर उसके एजेंडे के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जब अछूतों के मसले पर गाँधी और अम्बेडकर के बीच मतभेद उभरकर सामने आये और ऐसा लगा कि उपनिवेशवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा खतरे में है, तो उन्होंने दोनों के बीच के मतभेद को कम करते हुए संकट के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। दूसरे शब्दों में कहें, तो जब–जब राष्ट्रीय आंदोलन पर संकट के बदल मँडराये, बतौर अभिभावक उन्होंने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उस संकट के समाधान में अपनी भूमिका का निर्वाह किया।

गॉधीजी और टैगोर के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों में अन्तर –

उपर हमने महात्मा गॉधी और रवीन्द्र नाथ टैगोर के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया। उपरोक्त अध्ययन के पश्चात हम इनके राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों में अन्तर को निम्न रूपों में स्पष्ट कर सकते है –

1. महात्मा गॉधी एक भारतीय केन्द्रित राष्ट्रवाद को बढ़ावा देना चाहते थे जो भारतीय परम्पराओं और संस्कृतियों में अधिक नीहित हो और पश्चिम से कम प्रभावित हो जबकि प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले रवीन्द्र नाथ टैगोर एक कट्टर राष्ट्रवादी थे।

2. अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में महात्मा गॉधी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नरमपंथी और उग्रपंथी दोनो राष्ट्रवादियों की आलोचना की क्योंकि उनका मानना था कि उनके दोनों दृष्टिकोण राष्ट्रवाद को एक विशिष्ट पहचान देने से चूक गये जो विशेष रूप से भारतीय था। दूसरी तरफ टैगोर के अनुसार राष्ट्रवाद मानवता के मूल सिद्धान्तों के खिलाफ जायेगा क्योंकि यह अन्य राष्ट्रों के संसाधनों और क्षेत्र के विनियोग के अलावा और कुछ नही था।

3. महात्मा गॉधी सत्य और अनाक्रमण के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि लोगों की हत्या बर्दाश्त नही की जानी चाहिए क्योंकि राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने के लिए स्वतंत्रता सेनानियों द्धारा की गई कार्यवाही बहुत हिंसक थी जबकि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने इसे अपने राष्ट्रों के लिए धन और सम्पत्ति एकत्र करने के लिए मानवता को खत्म करने के साधन के रूप में देखा।

4. महात्मा गॉधी ने सोचा कि भारत के लोगों की विभिन्न भाषाओं को आम भाषा, जिसे लिंगुआ फ्रेंका कहा जाता है, द्वारा एकजुट किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ रवीन्द्र नाथ टैगोर ने सोचा कि आधुनिक राष्ट्रवाद भाषा की अवधारणा को आगे बढ़ाने में मदद नहीं कर सकता क्योंकि यह केवल सभ्यता को नुकसान पहुॅचा सकता है और नष्ट कर सकता है।

5. महात्मा गॉधी का मानना था कि राष्ट्रवाद समाज के सभी स्तरों पर आत्मनिर्भरता पर आधारित होना चाहिए जबकि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने दावा किया कि राष्ट्रवाद की यांत्रिक धारणा को उनकी 'स्वदेशी समाज' की अवधारणा से बदल दिया गया था जो सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित थी जो यांत्रिक और अवैयक्तिक नही थे, बल्कि प्रेम और सहयोग पर आधारित थे। अन्तर्राष्ट्रीयता में उनका विश्वास इस प्रकार एक समाजवादी घटक प्राप्त करता है।

6. महात्मा गॉधी ने तर्क दिया कि दुनिया भर के स्वतंत्रता सेनानियों ने जिस राष्ट्रवाद के ब्रांड का समर्थन किया है, वह प्रकृति और पद्धति दोनों में अधिक हिंसक था और इसके परिणामस्वरूप भविष्य में और अधिक संघर्ष होंगे। दूसरी तरफ रवीन्द्र नाथ टैगोर के अनुसार हिसंक राष्ट्रवाद सभ्यता को समाप्त कर देगा। इसके अतिरिक्त वह अहिंसक राष्ट्रवाद के खिलाफ थे क्योंकि यह भारत में अलगाववादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देता है।

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते है कि जहॉ गॉधीजी ने पाश्चात्य सभ्यता एवं सशस्त्र राष्ट्रवाद की तीखी आलोचना की, वहीं टैगोर ने भारतीय सभ्यता के समन्वयकारी तत्वों की महत्ता को उद्धरित किया। गॉधीजी और टैगोर समकालीन जगत में पूर्व बनाम पश्चिम, परम्परा बनाम आधुनिकता और विगत बनाम वर्तमान के बहस की अलग–अलग व्याख्या प्रस्तुत करते है। रवीन्द्र नाथ टैगोर की मान्यता थी कि 'उच्च–भू–संस्कृति' अर्थात संस्कृत प्रधान शास्त्रीय परम्परा के दायरे में इन अन्तर्विरोधों को सुलझाया जा

सकता है लेकिन गॉधीजी के लिए इन अन्तर्विरोधों का हल मुख्यतः भारत और पश्चिम की लधु जन–परम्पराओं के जरिये ही भारत में शास्त्रीय परम्परा के दायरे में लोक संस्कृति का रवीन्द्र नाथ टैगोर जैसा सृजनशील इस्तेमाल बहुत कम लोग कर पाये है। दूसरे शब्दों में गैर–शास्त्रीय दायरे में शास्त्रीय परम्परा का गॉधीजी जैसा प्रभावी इस्तेमाल

किसी ने नहीं किया। आधुनिकतावादी होने के बावजूद रवीन्द्र नाथ टैगोर के लिए आधुनिक दुनिया का महत्व कम होता चला गया। उधर प्रति–आधुनिक होने के बावजूद गॉधीजी आधुनिकता के ऐसे प्रमुख आलोचक बन कर उभरे जो परम्परा के पक्ष में खड़ा होकर उत्तर आधुनिकता को दावत देता प्रतीत होता था।

उदारवादी चरण (1885-1905) : विचारधारा, कार्यक्रम और नीतियॉ

Early Phase : The Ideology, Programme and policies

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास है और देश की आजादी की लड़ाई मे कांग्रेस ने ही अग्रणी संस्था के रूप में कार्य किया। अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय राष्ट्रवाद की पहली सुनियोजित अभिव्यक्ति के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर 1885 में एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी ए0 ओ0 ह्यूम ने तात्कालीक वायसराय लार्ड डफरिन के सहयोग से की थी। क्रमिक विकास की पृष्ठभूमि में दिसम्बर 1884 ई0 में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक संस्था ने यह निश्चय किया था कि 1885 ई0 के बडे दिन की छुट्टियों में पूना में एक सभा का आयोजन किया जाय जिसमें भारत के सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधि हो। इस उद्देश्य से कई मुख्य बातों का उल्लेख करते हुये 1885 ई0 में ह्यूम और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के हस्ताक्षर से एक घोषणा–पत्र जारी किया गया। यह सभा 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 1885 तक पूना में होने वाली थी। लेकिन पूना में हैजा फैल जाने के कारण सभा का स्थान पूना से बदलकर बम्बई कर दिया गया। इस प्रकार बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत पाठशाला के विशाल भवन में 28 दिसम्बर 1885 ई0 को इस सभा का आयोजन किया गया जिसमें देश के 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दुर्भाग्यवश किन्ही कारणों से इस सम्मेलन में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी शामिल नहीं हो सके। काफी विचार–विमर्श के बाद इस संस्था का नाम 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' (Indian National Congress) रखा गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इस प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता व्योमेश चन्द्र बनर्जी ने की और मिस्टर ए0 ओ0 ह्यूम इसके सचिव थे। इस प्रकार भारत की उस महान राजनीतिक संस्था का जन्म हुआ जिसके नेतृत्व में भारत का स्वाधीनता संघर्ष लडते हुये 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त की।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का लक्ष्य –

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के सन्दर्भ में विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख उपर किया जा चुका है जिसके अन्तर्गत सुरक्षा बाल्ब की विचारधारा और अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता प्रमुख उद्देश्य था। वर्तमान समय में यह मत सर्वमान्य है कि कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य एक अखिल भारतीय संस्था का निर्माण करना था क्योंकि उस समय भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में था। भारतीय राष्ट्रीय नेताओं के सामने पहला लक्ष्य यही था कि भारतीयों को एक राष्ट्र के रूप में जोडने और भारतीय जनता के रूप में उनकी पहचान बनाने की प्रक्रिया आगे बढ़ाई जा सके। अंग्रेज प्रशासक अक्सर यह कहा करते थे कि भारत एक राष्ट्र नही है बल्कि यह सैकडों अलग–अलग धर्मों और जातियों का भौगोलिक समूह है। राष्ट्रीय नेताओं को इसका एहसास था कि देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियॉ देश के लोगों को नजदीक जरूर ला

रही है लेकिन इसके बारे में लोगों में राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक चेतना पैदा करनी पड़ेगी तभी भारतीय राष्ट्र का लक्ष्य पाया जा सकता है।

भारत का एक राष्ट्र बनना एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। इसका अंदाज़ इसी से लगाया जा सकता है कि 1885 ई0 में कांग्रेस की स्थापना के बीस साल बाद 1905 ई0 में भी गोपाल कृष्ण गोखले ने इसी बात पर फिर जोर दिया कि – "जहाँ तक हो सके, हमें ज्यादा–से–ज्यादा लोगों में राष्ट्रीय चेतना पैदा करनी चाहिए ताकि धर्म, जाति और वर्ग की विभिन्नताओं को परे उठकर वे एकजुट हो सकें।" कांग्रेस के नेताओं को इस बात का भी एहसास था कि भारत में जिस तरह की भिन्नताएँ हैं, वैसी स्थिति दुनिया में कहीं नहीं है, इसलिए उन्हें एक अलग किस्म की कोशिश करनी होगी और बड़ी सावधानी के साथ राष्ट्रीय एकता को पोषित करना होगा। इसलिए सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय भावना को पहुँचाने के उद्देश्य से यह तय किया गया कि कांग्रेस के अधिवेशन बारी–बारी से देश के विभिन्न हिस्सों में आयोजित किए जाएँ और अध्यक्ष उस क्षेत्र का न हो, जहाँ अधिवेशन हो रहा हो।

सभी धर्मों के लोगों के बीच पहुँचने और अल्पसंख्यकों के मन में छाए डर को दूर करने के लिए 1888 के अधिवेशन में यह तय किया गया कि अगर किसी प्रस्ताव पर हिंदू या मुस्लिम प्रतिनिधियों के बहुत बड़े हिस्से को आपत्ति हो, तो वह प्रस्ताव पारित नहीं होगा। शुरुआती दौर के राष्ट्रीय नेता एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र का निर्माण करने पर दृढ़ प्रतिज्ञ थे और कांग्रेस स्वयं पूर्णतः धर्म निरपेक्ष संस्था थी।

राष्ट्रीय कार्यक्रम

शुरुआती दौर में कांग्रेस का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यह था कि एक ऐसा राष्ट्रीय कार्यक्रम बनाया जाए जिसके तहत देश के विभिन्न भागों में काम कर रहे राजनीतिक कार्यकर्ता इकट्ठे होकर अखिल भारतीय स्तर पर अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ चला सकें और लोगों को शिक्षित व संगठित कर सकें। इसके लिए उन अधिकारों की लड़ाई और उन समस्याओं को हाथ में लेना जरूरी था जो हरेक भारतीय की अपनी लड़ाई और उसकी अपनी समस्या थी। यही कारण है कि प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस ने सामाजिक सुधार का मुद्दा नही उठाया।

कांग्रेसी नेताओं के सामने सबसे बड़ा और पहला काम था जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित करना, प्रशिक्षित करना, संगठित करना और जनमत तैयार करना। राजनीतिक चेतना जगाने और जनमत तैयार करने का काम सबसे पहले शिक्षित तबके से शुरू किया गया। वे जनता की तात्कालीन कठिनाईयों को दूर करने के लिए किसी संघर्ष में फॅसना नही चाहते थे। दरअसल अपने समय की सबसे सशक्त सत्ता के खिलाफ एक संगठित राजनीतिक विरोध को जन्म देने के लिए उन्हे अपने अन्दर आत्मविश्वास और दृढ़ता पैदा करनी थी।

तलाश नेतृत्व की –

राष्ट्रीय आंदोलन चलाने के लिए पहली ज़रूरत थी एक सशक्त राष्ट्रीय राजनीतिक नेतृत्व की। लेकिन किसी भी देश में कोई राजनीतिक आंदोलन तभी सफल हो सकता है, जब वहाँ की जनता संगठित हो और पूरा देश एक हो। राष्ट्रवादी आंदोलन का प्रथम चरण

तब शुरू होता है, जब राष्ट्रीय भावनाओं और राष्ट्रीय अस्मिता के कारण जनता को संगठित करने का काम शुरू किया जाता हैं। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि पहले राष्ट्रीय भावनाओं के वाहक, भावी नेता खुद एक मंच पर आएँ, एकताबद्ध हों, एक–दूसरे को अच्छी तरह समझें, सर्वमान्य दृष्टिकोण अपनाएँ और एक निश्चित लक्ष्य के लिए निश्चित कार्यक्रम तय करें। दूसरे शब्दों में कांग्रेस के संस्थापक समझ गए थे कि राष्ट्रीय आंदोलन शुरू करने के लिए राष्ट्रीय नेतृत्व को जन्म देने की ज़रूरत है।

शुरू में राष्ट्रीय नेताओं का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक लोकतंत्र का अंतर्राष्ट्रीयकरण व स्वदेशीकरण था। यह 'जनता की प्रभुसत्ता' (Soverignty of the People) पर आधारित था। दादाभाई नौरोजी ने इसी सिद्धांत को इन शब्दों में कहा थाः "राजा जनता के लिए बने हैं, जनता राजा के लिए नहीं। " भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन संसद की तरह हुआ था। वास्तव में कांग्रेस शब्द उत्तरी अमरीका के इतिहास से लिया गया शब्द है जिसका अर्थ है 'लोगों का समूह'। कांग्रेस सत्र की कार्यवाही बड़े ही लोकतांत्रिक ढंग से चली। मुद्दों पर निर्णय से पहले पूरी बहस होती और कभी ज़रूरत पड़ती, तो वोट भी डाले जाते। इस तरह यह कांग्रेस ही थी, जिसने लोकतंत्र को लोकप्रिय बनाया और उसके स्वदेशीकरण की प्रक्रिया की नींव डाली।

राष्ट्रवादी विचारधारा का निर्माण –

उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष के लिए यह ज़रूरी था कि पहले तो उपनिवेशवाद को ठीक तरह से समझा जाए और फिर इस समझ के आधार पर एक राष्ट्रवादी विचारधारा विकसित की जाए। शुरुआती दौर के राष्ट्रवादी नेता इस मामले में छात्र भी थे और शिक्षक भी। अपने अनुभवों और अपने समय के यथार्थ को ठीक–ठीक परखते–तौलते हुए इन नेताओं को खुद ही ऐसी एक विचारधारा विकसित करनी थी। जाहिर है कि किसी वैचारिक संघर्ष के बिना कोई राष्ट्रीय संघर्ष छेड़ा ही नहीं जा सकता था। इन नेताओं को, लोगों को यह समझाना था कि हम एक राष्ट्र हैं और उपनिवेशवाद हमारा दुश्मन और इसी दुश्मन के खिलाफ़ हमारा यह संघर्ष है।

यह ठीक है कि उस समय के राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ कोई जनांदोलन नहीं चलाया। लेकिन उन्होंने उसके ख़लिाफ़ वैचारिक संघर्ष ज़रूर शुरू किया और चलाया। शुरू से कांग्रेस ने अपने–आपको एक पार्टी के रूप में नहीं, बल्कि एक आंदोलन के रूप में लिया। केवल उन बुनियादी और व्यापक लक्ष्यों पर सहमति के अलावा कांग्रेस में शामिल होने के लिए किसी और विशेष प्रकार की राजनीतिक या सैद्धांतिक प्रतिबद्धता जरूरी नहीं थी। एक आंदोलन के रूप में इसने लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद के प्रति प्रतिबद्ध अपने समय की सभी राजनीतिक प्रवृत्तियों, विचारधाराओं और सामाजिक वर्गों व समूहों के साथ अपने को जोड़कर रखा।

सारांश यह है कि उस दौर के राष्ट्रवादी नेताओं के बुनियादी लक्ष्य ये थे कि सबसे पहले एक धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक राष्ट्रीय आंदोलन की नींव रखी जाए, जनता में राजनीतिक चेतना पैदा की जाए और उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित किया जाए, आंदोलन का एक 'मुख्यालय' बनाया जाए और उपनिवेशवाद के खिलाफ एक राष्ट्रवादी विचारधारा का विकास किया जाए और उसका प्रचार–प्रसार किया जाए।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए हम तीन चरणों में विभक्त कर सकते है –

1. प्रथम चरण – उदारवादी युग (1885 ई0 से 1905 ई0 तक)
2. द्वितीय चरण – गरमपंथी युग (1906 ई0 से 1918 ई0 तक)
3. तृतीय चरण – गॉधीवादी युग (1919 ई0 – 1947 ई0 तक)

उदारवादी युग (1885 ई0 से 1905 ई0 तक) –

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम चरण उदारवादी युग के नाम से जाना जाता है। इसे कांग्रेस का शैशव काल भी कहा जा सकता है। 1885 ई0 से 1905 ई0 तक जिन उदारवादी बुद्धिजीवियों का प्रभुत्व था वे भारतीय राष्ट्रवाद के प्रथम चरण के नेता थे। इनमें बंगाल के डब्ल्यू० सी० बनर्जी, आनन्द मोहन बोस, लालमोहन घोष, ए० सी० मजूमदार, रासबिहारी घोष, सुरेद्रनाथ बनर्जी, आर० सी० दत्त, बंबई के दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयबजी, आप्टे, आगरकर, तेलंग, राणाडे, गोपाल कृष्ण गोखले, डी० ई० वाचा और चंद्रावरकर, मद्रास के पी० आर० नायडू, सुब्रह्मण्यम अय्यर, आनंद चालू और केशव पिल्ले तथा उत्तर प्रदेश के पंडित मदनमोहन मालवीय और पंडित धर जैसे लोग थे। कांग्रेस और इसके क्रियाकलाप के विकास में ह्यूम, वेडरबर्न और हेनरी कॉटन जैसे ब्रिटिश उदारवादी लोगों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

कांग्रेस के पहले अधिवेशन के सभापति डब्ल्यू० सी० बनर्जी के अनुसार कांग्रेस के प्रमुख उद्देश्य थे :

1. देश के हितों की रक्षा करने वाले भारतीयों के बीच संपर्क और मित्रता बढ़ाना।
2. देश प्रेमियों के बीच जाति, संप्रदाय तथा प्रांतीय पक्षपातों की भावना को दूर करके उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना।
3. शिक्षित वर्ग की पूर्ण सम्मति से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक विषयों पर विचार प्रकट करना।
4. यह निर्धारित करना कि आगामी वर्षों में भारतीय लोकहित के लिए किस दिशा में और किस आधार पर कार्य करें।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उपर्युक्त उद्देश्यों से पता चलता है कि इसका प्रारंभिक लक्ष्य सामाजिक ही था। यह देश–हित के दृष्टिकोण से भारत में सामाजिक और राष्ट्रीय एकता लाना चाहती थी तथा देश हित में प्रयत्नशील होना चाहती थी। स्पष्ट है इसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करना नहीं था। कालान्तर में भले ही धीरे–धीरे इसका उद्देश्य राजनीतिक हो गया तथा इसका अन्तिम लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्ति हो गया।

उदारवादियों की विचारधारा –

कांग्रेस ने पहली बार राष्ट्रीय मांगों के समर्थन में प्रस्ताव पेश किए। इनमें कुछ मांगे थीं– इंडियन काउंसिल को समाप्त करना, आई० सी० एस० का एक साथ इम्तहान लेना और

उम्मीदवारों की न्यूनतम आयु को बढ़ाना, विधायिका सभाओं के लिए सदस्य चुनना और उत्तर–पश्चिम सीमाप्रांत (नाथं वेस्टर्न फ्रंटियर प्राविस) और अवध एवं पंजाब में ऐसी विधायिका सभाएँ बनाना।

इस तरह उदारवादी राजनीतिज्ञों द्वारा स्थापित और संचालित कांग्रेस के पहले अधिवेशन की मांगें काफ़ी संतुलित थीं। कांग्रेस के पहले अधिवेशन में बम्बई में सिर्फ 72 सदस्य थे और उस समय न हो कांग्रेस का कोई अपना संविधान था और न ही नियम थे लेकिन आने वाले वर्षों में इस दिशा में विकास हुआ। प्रतिवर्ष देश के अलग–अलग भागों में जो वार्षिक सम्मेलन किए जाते थे उनमें सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या किस प्रकार बढ़ती गई, यह नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जाता है –

वर्ष	स्थान	सदस्य संख्या	अध्यक्ष
1885	बम्बई	72	व्योमेश चन्द्र बनर्जी
1886	कलकत्ता	434	दादा भाई नौरोजी
1887	मद्रास	607	बदरूद्दीन तैयबजी
1888	इलाहाबाद	1248	जार्ज यूल
1889	बम्बई	1889	विलियम वेडरबर्न
1890	कलकत्ता	702	फिरोजशाह मेहता
1891	नागपुर	812	पी0 आनन्द चार्लू
1892	इलाहाबाद	625	व्योमेश चन्द्र बनर्जी
1893	लाहौर	867	दादा भाई नौरोजी
1894	मद्रास	1163	अलफ्रेड वेब

तालिका से स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत में राजनैतिक जागृति को नया मोड़ दिया। इस संगठन के मंच से देश के सभी प्रतिभाशाली बुद्धिजीवियों ने अपनी न्यायोचित माँगों पर आपस में विचार–विमर्श किया तथा देश में नवचेतना जागृत की। प्रारंभ में यह आंदोलन उदारवादी और सांवैधानिक आंदोलन था। इस समय कांग्रेस के लक्ष्य सीमित थे। कांग्रेस के उदारवादी नेताओं को ब्रिटिश राजतंत्र में निस्सीम आस्था थी। वे सोचते थे कि बड़े संयोग से भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित हुआ है और यह देश को स्वतंत्र, प्रगतिशील, लोकतांत्रिक राष्ट्रीय अस्तित्व प्रदान करेगा।

भारतीय उदारवादियों को ब्रिटेन से यह उम्मीद थी कि सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को दूर करने और प्रतिनिधि सरकार के कार्य में जनता को प्रशिक्षित करने में वह पथ–प्रदर्शन करेगी। भारतीय उदारवादियों ने भारत और ब्रिटेन के हितों को विरोधी

के बदले सहयोगी माना जब कि वास्तव में दोनों पक्षों के हित एक दूसरे के विरोधी थे। इन नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समझने में मूल की। इसीलिए वे राजभक्त थे और ब्रिटेन से संबंध बनाए रखने की आवश्यकता पर जोर देते थे ।

इन उदारवादियों ने यह भी माना कि कांग्रेस जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी, केवल उनकी शिकायतों की व्याख्या कर रही थी। कांग्रेस वस्तुतः जनसाधारण की आवाज नहीं बुलन्द कर रही लेकिन शिक्षित भारतीयों का यह कर्तव्य था कि वे जनसाधारण की तकलीफों की व्याख्या करें और उनको समाप्त करने के लिए राय दे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप –

जन्म से ही भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में स्थापित हुई। विगत वर्षों की अन्य संस्थाओं की भांति यह किसी विशेष जाति, धर्म, वर्ग या स्थान के लागों के प्रयास के फलस्वरूप पैदा नहीं हुई, बल्कि इन सब संकीर्ण दायरों से जन्म से ही यह अप्रभावित रही। अपनी स्थापना के समय से ही यह सभी वर्गों, जातियों, धर्मों तथा स्थानों का प्रतिनिधित्व करती रही है। इसके प्रथम अधिवेशन में ही देश के विभिन्न भागों से 72 प्रतिनिधि सम्मिलित थे जो विभिन्न धर्मों तथा वर्गों के थे। इसके प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष उमेश चन्द्र बनर्जी थे जो भारतीय ईसाई थे; दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी थे, जो पारसी थे; तीसरे अधिवेशन के अध्यक्ष बदरुद्दीन तैय्यब थे, जो मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवे अधिवेशन के अध्यक्ष जार्ज यूल और सर लिलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे। इस प्रकार प्रारम्भ से ही कॉंग्रेस का स्वरूप राष्ट्रीय रहा है।

शुरू में कॉंग्रेस शिक्षित वर्गों की एक संस्था थी। देशहित का ख्याल रखने वाले शिक्षित भारतीय इसमें रुचि लेते थे और अंग्रेज शासकों का भी इसे समर्थन प्राप्त था। धीरे–धीरे यह संस्था लोकप्रिय होने लगी। इसके द्वारा राजनीतिक अधिकारों की मांग की जाने के कारण जनसाधारण का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट होने लगा। फिर भी इस युग में शहरों में रहनेवाले मध्यमवर्गीय शिक्षित वर्ग के लोग भी कॉंग्रेस से सम्बन्धित रहे। खेतिहर वर्ग तथा ग्रामीण जनता का कॉंग्रेस से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कॉंग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था बन तो गयी थी, लेकिन देशी रियासतों पर इसका प्रभाव नहीं के बराबर था। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि प्रारम्भ से ही इसका प्रचार इंगलैंड में होने लगा था। 1885 ई० में ह्यूम ने इंगलैंड जाकर अपने विचारों से कुछ प्रमुख व्यक्तियों को अवगत कराया। कॉंग्रेस की ओर से एक प्रतिनिधि–मण्डल इंग्लैण्ड भेजा गया, जिसका उद्देश्य इंग्लैण्ड के निवासियों में कॉंग्रेस सम्बन्धी कार्यों का प्रचार करना तथा उन्हें कौंसिल सुधार योजना के सम्बन्ध में अपने विचारों और कार्यक्रमों से अवगत कराना था। इसी उद्देश्य से एक समिति का भी निर्माण किया गया, जिसके सदस्य जार्ज यूल, ए0ओ0 ह्यूम, जे० ऐडम, आर्डले नाटइन तथा जे० ई० हार्बर्ड थे। इन लोगों ने इंग्लैंड जाकर बड़े उत्साह से कार्य किया। इंग्लैंड की लोकसभा के सदस्यों की एक समिति बनाई गयी जिसका उद्देश्य भारतीय प्रश्नों पर विचार–विमर्श करना था। जनमत को आकृष्ट करने के लिए उन्होंने 'इण्डिया' (India) नामक एक समाचार–पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त कॉंग्रेस की विचाराधारा के प्रचार कार्यों के फलस्वरूप इंगलैंड निवासी भी कॉंग्रेस के कार्यों में विशेष दिलचस्पी लेने लगे तथा

कॉंग्रेस के सुधार–प्रस्तावों का समर्थन करने लगे। इस प्रकार कॉंग्रेस भारत में ही नहीं बल्कि इंगलैंड में भी लोकप्रिय बन गयी।

उदारवादियों की नीति और कार्यक्रम –

उदारवादियों की नीतियों और कार्यक्रमों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है –

1. सांवैधानिक विकास के पक्षधर – उदारवादियों को नियमबद्ध व क्रमिक प्रगति में आस्था थी। वे विकास की धीमी गति में विश्वास करते थे और क्रांतिकारी परिवर्तन के विरुद्ध थे। ब्रिटिश राष्ट्र के सहयोग और सहायता से भारत के क्रमिक विकास में विश्वास करने वाले इन उदारवादियों ने क्रांतिकारी आकस्मिक परिवर्तन और उसकी कार्य प्रणाली को स्वीकार नहीं किया और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन्होंने वैधानिक आंदोलन का रास्ता अपनाया। इनका ख्याल था कि इसके ज़रिए वे एक तरफ़ तो जनजागरण और जनशिक्षा का विकास कर सकेंगे और दूसरी तरफ अंग्रेज़ों को यह समझा सकेंगे कि भारतीय जनता की माँगें न्यायसंगत हैं और इनकी पूर्ति प्रशासन का जनतांत्रिक कर्तव्य है। संवैधानिक सत्ता जिनके हाथों में है उनके कार्य और सहयोग द्वारा वांछित परिवर्तन लाने के लिए वैधानिक संघर्ष करने का उन्हें अधिकार था। केवल तीन बातों की मनाही थी– विद्रोह, विदेशी आक्रमण को सहायता या उसे प्रश्रय, तथा अपराध का रास्ता। राजनीति के बारे में अपनी अनेक गलत धारणाओं के बावजूद भारतीय उदारवादी भारत में आधुनिक बुर्जुआ समाज के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इस तरह उनकी भूमिका प्रगतिशील थी।

उदारवादी मूलतः प्रार्थनाओं, प्रार्थना–पत्रों, प्रदर्शनों, स्मरण–पत्रों और प्रतिनिधिमण्डलों द्वारा सरकार से अपनी न्याययुक्त मॉगों को मानने का आग्रह करते थे। वे क्रान्तिकारी मार्ग से सफलता प्राप्ति को सदिग्घ समझते थे तथा अपने अधिकारों की याचना सरकार से बडे विनम्र शब्दों में करते थे। इतिहासकार और गरमपंथीय नेता इसे 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' की संज्ञा देते थे। मदास में होनेवाले तीसरे अधिवेशन में श्री मदनःोहन मालवीय ने कहा था कि – ''यद्यपि अबतक हमें कोई सफलता नहीं मिली है, हमें ब्रिटिश सरकार तक पहुँचकर बार–बार अपनी मांगों की सुनवाई के लिए प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमारी मॉगों को पूरा कर दे।" डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने उदारवादियों की वैधानिक पद्धति का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे अधिकारियों के समक्ष देश और जनता के दुःखों और कष्टों का अकाट्य तथ्य के रूप में रखते थे और उसके पक्ष में अकाट्य तर्क पेश करते थे तथा वे शासन से इस बात की प्रार्थना करते थे कि वह उनकी मांगों को शीघ्रताशीघ्र पूर्ण करने का आश्वासन दे। दादा भाई नौरोजी ने भी 1906 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुये कहा था कि – 'शान्तिप्रिय विधि ही इंगलैंड की राजीनतिक, सामाजिक और औद्योगिक इतिहास का जीवन और आत्मा है। इसलिये हमें भी उस सभ्य, शान्तिप्रिय नैतिक शक्ति रूपी अस्त्र को प्रयोग में लाना चाहिये।"

2. राष्ट्रीय एकता में विश्वास – भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के लिए एकता का होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण था और इस बात को समझते हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं ने भारत में एकता की भावना को विकसित करने के हर संभव उपाय किए। राष्ट्रीय नेता इसे अपना पहला कर्तव्य मानते थे। वे जानते थे कि

अलग–अलग धर्मों के मानने वालों को मिलाकर ही एक सूत्र में बाँधा जा सकता था। इसी से कांग्रेस के नेताओं ने कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहा जिसके लिए सभी वर्ग और संप्रदाय तैयार न हों। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने इटली की एकता का उदाहरण देते हुए कहा कि 'जब समूचा भारत प्रेम, सद्भाव और सम्मान के तीन बंधकों में जुड़ जाएगा तो भारतीय महत्ता का दिन दूर नहीं है। दादा भाई नौरोजी ने भी विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच की दूरी को ख़त्म करने पर जोर दिया। इस प्रचार के परिणामस्वरूप पढ़े–लिखे भारतीयों में एकता की भावना पैदा हुई। देश के हर भाग में समय–समय पर कांग्रेस के अधिवेशन किए जाते थे ताकि संपूर्ण देश के लोग इस आंदोलन के माध्यम से राष्ट्रीय एकता के प्रति जागृत हों।

3. लोकतांत्रिक तरीकों पर विश्वास – कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं की एक महत्वपूर्ण देन यह थी कि उन्होने आधुनिक यूरोप की समृद्ध लोकतांत्रिक एवं वैज्ञानिक संस्कृति का भारत में प्रसार का समर्थन किया। उन्होंने ब्रिटिश काल से पहले की मध्यकालीन, पुरानी एवं निरंकुश सामाजिक रचना के खिलाफ़ जमकर संघर्ष किया। इन्होंने सामाजिक समानता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अधिक ज़ोर दिया तथा किसी भी वर्ग के विशेषाधिकारों का विरोध किया। इन नेताओं ने अतीत को जीवित करने के स्थान पर भविष्य पर बल दिया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि गोखले ने न सिर्फ़ सिविल मैरिज जैसे सामाजिक सुधारों का स्वागत किया बल्कि उन्होंने इस दिशा में सरकार की भूमिका पर भी जोर दिया। 1897 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक जलसे में भाषण देते हुए इसके अध्यक्ष सी० शंकरन ने उदारवादियों के विचारों को व्यक्त करते हुए कहा कि संक्षेप में हम अपनी व्यवस्था में से वह सभी चीजें हटा देना चाहते हैं जो कि प्रगति के रास्ते में बाधक हैं।

4. आर्थिक चेतना जागृत करने का प्रयास – उदारवादियों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह रहा कि इन्होंने साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलू की कड़ी आलोचना करके लोगों में आर्थिक चेतना जागृत की। भारत की आर्थिक समस्याओं की तरफ़ इनकी वैज्ञानिक दृष्टि थी। वे आद्योगीकरण और सामाजिक संबंधों के लोकतंत्रीकरण द्वारा भारत की आर्थिक प्रगति के समर्थक थे। इन उदारवादियों के आर्थिक प्रवक्ता दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले और रमेशचंद्र दत्त थे। इन्होंने अँग्रेज़ों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को भारत की बढ़ती हुई ग़रीबी का कारण माना। भारतीय नेता यह शिकायत करने लगे कि निर्धनता देश में जड़ पकड़ती जा रही है। सरकारी राजस्व–अधिकारियों द्वारा किसान को लूटा जा रहा है। स्वदेशी उद्योगों को नष्ट कर दिया गया है और आधुनिक उद्योगों को जान–बूझकर निरुत्साहित किया जा रहा है अथवा पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है। देश के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थों का निर्यात किया जा रहा है। भारतीय उद्योग और कृषि हितों के विरुद्ध मुद्रा–नीति अपनाई जा रही है। विदेशी स्वामित्व वाले बाग़ान उद्योगों में भारतीय श्रमिकों को दास बनाया जा रहा है। भारतीय राजस्व और कृषि विकास की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके रेलों का विस्तार किया जा रहा है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत से संपत्ति और पूंजी की निकासी की जा रही है। उन्होंने जनता के सम्मुख यह सच्चाई प्रकट की और बताया कि भौतिक दृष्टि से ब्रिटिश शासन भारत के लिए हानिकारक रहा है।

इन उदारवादियों ने निर्धनता को हटाने के कई सुझाव भी दिए। जिन आर्थिक प्रश्नों पर इनका ध्यान केंद्रित था, वे इस प्रकार थे – उद्योगीकरण, देश में आर्थिक विकास में राज्य का हिस्सा, भारतीय उद्योगों की रक्षा के लिए टेरिफ की दीवार खड़ी करना और उन नियमों को निश्चित करना जिनपर टैक्स तथा आर्थिक प्रशासन निर्भर करते थे।

देश के उद्योगीकरण में कांग्रेस पार्टी की विशेष रुचि थी जैसा कि हमें 1902 में इसकी एक कमेटी की रिपोर्ट से पता चलता है। इस कमेटी में विभिन्न जिलों से आने वाले प्रतिनिधियों से पूछा गया था कि उनके जिले में किन वस्तुओं का उत्पादन होता है? सूत कहाँ से प्राप्त किया जाता है ? क्या कपड़ा रंगने के लिए देशी रंगों का इस्तेमाल करते हैं ? वे कौन से तरीक़े हैं जिनसे भारतीय कलाएँ तथा उद्योग विदेशी चीजों का मुक़ाबला कर सकें ? इन्होंने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के विचार से स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल में लोगों की रुचि जगाने की कोशिश की जिसके लिए कई स्वदेशी स्टोर खोले गए। 1896 में महाराष्ट्र में एक शक्तिशाली स्वदेशी अभियान शुरू किया गया जिसमें विद्यार्थियों ने खुले रूप में विदेशी कपड़ों को जलाया।

औद्योगिक प्रर्दशनियाँ लगाना तो कांग्रेस के वार्षिक कार्यक्रम का एक हिस्सा ही बन गया था। महादेव गोविंद रानाडे ने तो 19वीं सदी में ही एक माँग की थी कि सरकार को देश के आर्थिक विकास में सहायता करनी चाहिए तथा स्वदेशी उद्योगों की विदेशी वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता से रक्षा करनी चाहिए। बाद में यह माँग अन्य नेताओं ने भी रखी। दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एंड ऑन ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में यह वर्णन किया है कि किस प्रकार इंग्लैंड ने भारत का धन अपने देश में पहुँचाया और यही भारत की ग़रीबी तथा मुसीबतों का मुख्य कारण था।

भारतीय नेताओं द्वारा सुझाए गए उपाय अथवा उनकी आर्थिक नीतियों का स्वरूप साम्राज्यवाद–विरोधी था। वे ब्रिटेन और भारत के मध्य चालू संबंधों में मौलिक परिवर्तन चाहते थे। उनकी राजनैतिक माँगें तो उदार थीं, किंतु उनकी आर्थिक माँगे क्रांतिकारी थीं। उनकी सभी आर्थिक माँगों में मूल आधार यह इच्छा थी कि वास्तविक राष्ट्रीय आर्थिक नीति का निर्धारण इंग्लैंड के नहीं वरन् भारत के हितों के संदर्भ में किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे इंग्लैंड की अधीनता को खत्म करने की वकालत करते थे।

उदारवादियों की बहुत सी ग़लत धारणाओं की वजह यह थी कि ब्रिटेन और भारत के संबंधों की वास्तविक प्रगति को वे ठीक तरह से नहीं समझ सके। वे यह नहीं समझ सके कि भारत ब्रिटिश पूँजीवाद का उपनिवेश था और इसलिए ब्रिटेन इस देश का मुक्त आर्थिक विकास नहीं होने देगा और भारत के आर्थिक विकास को ब्रिटिश पूँजी की आवश्यकताओं पर निर्भर रहना पड़ेगा। ब्रिटिश और भारतीय स्वार्थों के बीच इस वास्तविक संघर्ष को उदारवादी लोग समझ नहीं पाए। फिर चूँकि भारत पर ब्रिटेन की राजनैतिक सत्ता ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा कर रही थी, इसलिए ब्रिटेन से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वह भारत को सत्ता हस्तांतरित कर देगा या यहाँ मूलभूत प्रशानिक सुधार लाएगा।

5. क्रमिक और प्रशासनिक सुधार में विश्वास – 1885 से 1905 तक भारतीय उदारवादी चाहते थे कि राजनीतिक प्रशासकीय क्षेत्र में धीरे–धीरे व क्रमिक सुधार लाया जाय।

उनका मुख्य उद्देश्य प्रशासन अर्थात परिषदों, नौकरियों, स्थानीय संस्थाओं, रक्षा सेवाओं आदि में सुधार करवाना था। यह भी स्वीकार किया गया कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लम्बी अवधि तक भारतीयों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है। उदारवादियों के नेतृत्व में कांग्रेस ने प्रशासनिक सुधार के लिए संघर्ष किया और कई सुझाव सामने रखे–जैसे कार्यकारिणी और न्याय–व्यवस्था का पार्थक्य, जन सेवाओं में बराबरी की शर्तों पर भारतीयों की नियुक्ति और बाद में इन सेवाओं का भारतीयकरण, आर्म्स ऐक्ट को हटाना, भारत से बाहर धन जाने की प्रक्रिया पर रोक लगाना क्योंकि इससे लोग बडी संख्या में गरीब हो रहे थे, सेना सम्बन्धी खर्चों में कमी इत्यादि। उदारवादी नेतृत्व प्रतिनिधि संस्थाओं और चुनाव के सिद्धान्त का समर्थक था। इसने जनता द्वारा निर्धारित विधायिका सभाओं और कार्यकारिणी पर विधायिका सभाओं के नियंत्रण की मॉग की। कुल मिलाकर उदारवादी व्यवहारिक सुधारक थे तथा आजादी क्रमशः कदम–कदम बढ़ाकर हासिल करना चाहते थे।

6. पाश्चात्य सभ्यता और विचारों के पोषक – उदारवादी राष्ट्रवादी पाश्चात्य सभ्यता तथा विचार के पोषक थे। उन्होने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय जैसे उदारवादी पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाने पर जोर दिया। उनके दृष्टिकोण में ब्रिटेन से भारत का सम्बन्ध भारतीयों के लिये वरदान स्वरूप है। ब्रिटेन के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही भारत में प्रगतिशील सभ्यता का उदय हुआ है। अंग्रेजी साहित्य, शिक्षा–पद्धति, आवागमन के साधन, न्याय–प्रणाली, स्थानीय स्वशासन आदि भारत के लिये अमूल्य वरदान हैं। उनका मत था कि आंग्ल विचार और दर्शन लोगों में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के प्रति आदर उत्पन्न करता है। अतः भारत के हक में यह श्रेयष्कर है कि ब्रिटेन से उनका अटूट सम्बन्ध बना रहे।

इस संदर्भ में कतिपय उदारवादी नेताओं के शब्द उल्लेखनीय हैं। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा था कि – 'इस काल के नेता अपने को ब्रिटिश प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे। गोपाल कृष्ण गोखले ने कॉंग्रेस के अध्यक्ष–पद से 1905 में कहा था कि – हमारा भाग्य अंग्रेजों के साथ जुड़ा हुआ है, चाहे वह अच्छे के लिए हो या बुरे के लिये। फिरोज शाह मेहता ने कॉंग्रेस के छठवें अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा था कि इंगलैंड और भारत का संबंध इन दोनों और समस्त विश्व की आनेवाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा। दादा भाई नौरोजी ने भी कहा था कि कॉंग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली संस्था नहीं है; वह तो ब्रिटिश सरकार की नींव को दृढ़ करना चाहती है।

7. अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास – उदारवादी युग के अधिकांश कॉंग्रेसी नेताओं को अंग्रेजों की सत्यता एवं न्याय–प्रियता में अटूट विश्वास था। उनके विचार में अंग्रेज स्वतन्त्रता प्रेमी हैं और यदि उन्हें भारतीयों की योग्यता पर विश्वास हो जाय तो वे उन्हें स्वशासन बिना हिचक दे देंगे। यही कारण था कि कॉंग्रेस शुरू से ही अंग्रेजी सरकार की सहानुभूति तथा ब्रिटिश जनमत के समर्थन को जीतने के लिये प्रयास करती रही।

कई उदारवादी नेताओं की विचार–अभिव्यक्ति से इस तथ्य का समर्थन होता है। सर फिरोज शाह मेहता ने 1890 में कहा था कि – 'मुझे इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अन्त में जाकर हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देंगे।" सर टी०

राधव राव ने कॉग्रेस के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर कहा था कि– 'कॉग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च शिखर और ब्रिटिश– जाति का कीर्ति–मुकुट है।" सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के शब्द इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके शब्दों में– ''हमें अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा उदारता में पूर्ण विश्वास है। संसार की महानतम प्रतिनिधि–सभा– ब्रिटिश लोकसभा के स्वतंत्रता प्रेम में हमारा असीम विश्वास है। जहॉ कहीं अंग्रेजों ने अपना आधिपत्य जमाया है तथा अपनी सरकार का निर्माण किया है, उन्होने उनका निर्माण प्रतिनिधियात्मक आदर्श पर ही किया है।'' इन उदारवादी नेताओं की युक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि उन्हे किस हद तक अंग्रेजों की स्वतंत्रता और न्यायप्रियता में विश्वास था।

8. राजीनतिक स्वशासन की प्राप्ति – उदारवादी नेता केवल कतिपय प्रशासनिक सुधार ही नहीं चाहते थे, बल्कि उनका लक्ष्य भारतीयों के लिए स्वशासन की प्राप्ति भी थी। वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन की स्थापना चाहते थे। उनके विचार में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीयों को स्वशासन का पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त हो चुका था और भारत स्वशासन के लिए पूर्ण तैयार था। स्वशासन के महत्व के सम्बन्ध में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने कहा था कि स्वतंत्र संस्थाएं मानसिक और नैतिक अनुशासन की सर्वोत्तम शिक्षण संस्थाऍ हैं। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि स्वशासन 'ईश्वर की व्यवस्था और इच्छा है। प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का स्वयं निर्णायक होना चाहिए।"

उदारवादियों का सामाजिक आधार :

भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में राष्ट्रीय आंदोलन का बदलता हुआ सामाजिक आधार एक बहुत बड़ी विशेषता थी। प्रारंभ में राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार बहुत संकुचित था क्योंकि यह केवल शहरी शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। इस सामाजिक आधार में औद्योगिक, व्यापारिक, पूँजीपतिवर्ग, ज़मींदार आदि शामिल नहीं थे। विशेषतया इसका नेतृत्व व्यावसायिक वर्ग तक सीमित रहा, जैसे वकील, डॉक्टर, पत्रकार, अध्यापक, कुछ व्यापारी तथा कुछ भूमिपति। इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन का कार्य उच्च मध्य वर्ग अथवा शिक्षित अभिजात वर्ग के हाथ में था जिनका आम जनता की राजनीतिक समझ में बहुत कम विश्वास था। उनका मत था कि भारतीय जनता में आधुनिक राजनीति में सफलतापूर्वक संघर्ष करने की शक्ति व चरित्र की कमी है। इस एकांगी दृष्टि के फलस्वरूप प्रारंभिक राष्ट्रवादियों की कार्यप्रणाली बहुत सुस्त रही। जनता को संगठित करने में इनका योगदान बहुत कम रहा क्योंकि इनके मतानुसार अभी वह समय नहीं आया था जब भारतीय जनता विदेशी शासन को चुनौती दे सके।

परंतु राष्ट्रवादियों के इस एकांगीपन का अभिप्राय यह नहीं कि वे केवल उन वर्गों के संकुचित हितों के लिए लड़ें जो इसमें सम्मिलित हुए थे। इनकी विचारधारा और कार्यक्रम में भारत की जनता के उन सभी वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व था जो औपनिवेशिक शोषण का शिकार थे। परंतु किन्हीं कारणों से वे क्रिया–कलापों में आम जनता को सक्रिय नहीं कर पाए और न ही उन्होंने उन मुद्दों को उठाया जिनमें समाज के दो वर्गों के बीच संघर्ष होता। इन्हें साम्राज्यवादी सरकार के साथ समझौता करना पड़ा, वफ़ादारी की शपथ लेनी पड़ी और ब्रिटिश शासन के प्रति विनम्रता का रुख अख्तियार करना पड़ा।

उदारवादी युग की उपलब्धियॉं :

भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के प्रारंभिक चरण के नेताओं की प्रार्थना, अनुनय–विनय भरे स्वरों से ब्रिटिश शासकों पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ और वर्षों तक भारतीयों की किसी मॉंग पर विचार नहीं किया गया। फिर भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसकी महत्वपूर्ण देन से इनकार नही किया जा सकता। कांग्रेस के उदारवादी नेता ही भारतीय राष्ट्रीयता के वास्तविक जनक थे और उन्होने ने ही राष्ट्रीय आन्दोलन की आधारशिला रख दी। उसे बहुत कुछ व्यापक बनाया और राष्ट्रवाद का सैद्धान्तिक और वैचारिक धरातल प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम उन्होने ही साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता जैसी संकीर्ण भावनाओं से उपर उठकर भारतीय राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द किया। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप ही भारत में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ पड़ी और स्वशासन और प्रशासनिक सुधारों की मॉंग की जाने लगी। उदारवादी नेताओं के प्रयास से ही भारत के भिन्न–भिन्न कोनों में रहने वाले लोगों का पारस्परिक सम्पर्क हुआ और उनके बीच राजनीतिक विचारों का आदान–प्रदान हुआ। इन्होने ही भारतीयों का ध्यान प्रजातंत्र और प्रतिनिधियात्मक संस्थाओं की ओर आकर्षित किया। एक प्रकार से कहें तो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की नींव देने का श्रेय उदारवादी युग के नेताओं को ही जाता है। इन्होनें ही भारतीयों को अपने अधिकारों के लिए सरकार से लड़ना सिखाया। इनकी नीतियों में ही परिवर्तन लाकर ही बाद में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य और पूर्ण स्वाधीनता घोषित किया।

प्रारंभिक कांग्रेस का तात्कालिक उद्देश्य भारत में प्रतिनिधियात्क संस्थाओं की स्थापना करना था। कॉंग्रेस को पहली सफलता 1892 ई0 में मिली जब इण्डियन कौंसिल एक्ट पारित किया गया था। 1889 ई0 में कॉंग्रेस के बम्बई अधिवेशन में ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स के वरिष्ठ सदस्य चार्ल्स ब्रेडला उपस्थित थे। चार्ल्स ब्रेडला भारतीय मामलों में सक्रिय रुचि दिखाते थे जिसके कारण ब्रिटिश संसद में लोग उन्हें भारत के लिए सदस्य के नाम से सम्बोधित करते थे। ब्रेडला ने विधान परिषदों में सुधार के विषय को लेकर कॉंग्रेस की मॉंगों को आधार बनाकर ब्रिटिश संसद के लिए विधेयक का एक प्रारूप बनाया था। वे चाहते थे कि इस विधेयक पर भारतीय नेताओं के परिपक्व विचार और प्रतिक्रियाएँ एकत्र कर यथासम्भव उनका विधेयक में समावेश कर सके।

बम्बई के इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें भारत की प्रतिनिधि संस्थाओं की योजना की एक रूपरेखा तैयार की गई। इस प्रस्ताव के समर्थकों में पण्डित मदन मोहन मालवीय, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जी0 सुब्रह्मण्यम अय्यर आदि थे। फरवरी 1890 में चार्ल्स ब्रेडला ने इंग्लैण्ड पहुँचकर हाउस ऑफ कॉमन्स के सामने अपना भारतीय परिषद संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। विधेयक के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों का विस्तार होना था, सदस्यों की संख्या बढ़नी थी, परिषदों को आंशिक रूप में निर्वाचन के सिद्धान्त पर संगठित किया जाना था तथा उन्हें अधिक अधिकार दिए जाने थे। 1889 ई0 के कॉंग्रेस के अधिवेशन में पास की गई योजना तथा ब्रेड़ला के इस विधेयक को बाद में होमरूल स्कीम और होमरूल बिल के नामों से पुकारा गया। चार्ल्स ब्रेडला के इस विधेयक को पारित नहीं किया गया और 1891 ई0 में ब्रेडला की असामयिक मृत्यु भी हो गई। फिर भी ब्रेडला के इस प्रयास की महत्ता रही क्योंकि पहली बार इसमें भारतीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का

प्रावधान किया गया और बाद में लिवरल पार्टी के विजय होने पर इसी विधेयक के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने अपना भारतीय परिषद विधेयक पेश किया। संसद द्वारा पारित होने के बाद यही 1892 का अधिनियम बना। अधिनियम द्वारा केन्द्रीय और विधान परिषदों की संख्या पहले से बढ़ा दी गई और गर्वनर जनरल को परोक्ष निर्वाचन प्रणाली के सूत्रपात करने का अधिकार मिला। अधिनियम द्वारा कुछ नियमों के भीतर रहते हुए विधान परिषदों के सदस्यों को कार्यकारिणी परिषद से प्रश्न पूछने और बजट पर बहस करने का अधिकार दे दिया गया। ये अधिकार गवर्नर जनरल के विधान परिषद एवं प्रान्तीय विधान परिषद दोनों को दे दिया गया।

कॉंग्रेस की उपलब्धियों को अभिव्यक्त करते हुए गुरुमुख निहालसिंह ने लिखा है – "1892 का अधिनियम भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के प्रयत्नों का परिणाम था।" इस अधिनियम के माध्यम से कॉंग्रेस की सफलता का मूल्यॉंकन करना अधिक उपयुक्त होगा। इसी सन्दर्भ में डॉ0 कश्यप लिखते हैं – "यद्यपि 1892 के अधिनियम द्वारा विधान परिषदों के सवालों को दिए गये अधिकार अत्यन्त सीमित थे तथा अब भी उन्हें मतदान करने, प्रस्ताव अथवा विधेयक पारित करने अथवा पूरक प्रश्न आदि के आवश्यक अधिकार नहीं मिले थे, किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 1892 के अधिनियम ने यह स्वीकार कर लिया था कि विधान परिषदों का कार्य केवल मात्र विधायी अथवा परामर्श देने का नहीं था और इस दृष्टि से यह अधिनियम प्रतिनिधियात्मक सरकार की स्थापना का पहला प्रमुख कदम था। पहली बार इस अधिनियम ने शासन में कुछ प्रतिनिधियात्मक अंश का समावेश किया तथा भारतीय सदस्यो को भी सरकारी विधेयकों पर तथा बजट जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार प्रकट करने एवं सरकार के कृत्यों पर प्रश्न पूछने का अधिकार कुछ हद तक दे दिए गए। निःसन्देह यह अधिनियम सांविधानिक सुधारों की दिशा में प्रगतिशील चरण था।"

1892 के भारतीय परिषद के अधिनियम के पास हो जाने के बाद कॉंग्रेस के उदारवादी युग की मॉंगों में सर्वाधिक महत्त्व इस बात को दिया गया कि आई0 सी0 एस0 की परीक्षा भारत और इंग्लैण्ड में साथ–साथ हुआ करे। कॉंग्रेस के प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ नहीं गये क्योंकि भारतीयों की इस मॉंग के समर्थन में ब्रिटिश लोकसभा ने एक प्रस्ताव पारित किया। 1893 ई0 में कॉंग्रेस अधिवेशन की दूसरी बार अध्यक्षता दादा भाई नौरोजी ने की जिन्हे इस दौरान ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया। कॉंग्रेस के लिए यह गौरव की बात थी कि उसका एक सदस्य विदेशी हुकूमत की संसद का सदस्य था। कॉंग्रेस ने अपने विभिन्न अधिवेशनों में न केवल कतिपय राजनीतिक प्रश्नों की ओर विदेशी शासन का ध्यान आकर्षित किया अपितु भारत के व्यावसायिक और औद्योगिक दोनों प्रकार के हितों की रक्षा का भी प्रयत्न किया। कॉंग्रेस ने सरकार से 1898 के राजद्रोह विधेयक तथा 1704 के सरकारी रहस्य विधेयक जैसे दमनकारी कानूनों को हटा लेने का भी आग्रह किया। स्पष्ट है कि साधारण सफलताओं के बावजूद उदारवादी युग का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में विशेष महत्व है।

इस सन्दर्भ में सी0 वाई0 चिन्तामणि ने लिखा है– "1905 तक कॉंग्रेस समतल पथ पर दौड़ती रही। सार्वजनिक महत्ता का ऐसा कोई भी विषय नहीं था जिसने उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न किया हो और विभिन्न विषयों पर पास किए गए प्रस्तावों में व्यक्त विचार आन्दोलन के नेताओं की राजनीतिक बुद्धिमत्ता के साक्षी थे।"

कांग्रेस के प्रति विभिन्न वर्गों की प्रतिक्रिया :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी नेताओं के आदर्शो ने भारत के विभिन्न वर्गों पर तथा अंग्रेजों पर भिन्न–भिन्न प्रभाव डाले। परम्परागत सामंतवादी वर्गों में बच्चे–खुचे लोग तथा नये जमींदार, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान, भयभीत हो गए। कांग्रेस उस राजनैतिक व्यवस्था के लिए खतरे के रूप में दिखाई पड़ी जिसने उन्हें जन्म दिया और पाला–पोसा था इसलिए कांग्रेस के जन्म से ही उनके सामने अव्यवस्था और अनिश्चित भविष्य का एक चित्र उभर आया। फलतः यह वर्ग ब्रिटिश सरकार से और चिपक गया। जहां तक व्यापारी वर्ग का संबंध था, इनकी ज़रूरतें तात्कालिक और स्थायी दोनों थीं। ज्यों–ज्यों यह वर्ग अपनी स्थायी आवश्यकताओं के विषय में जागरूक होता गया और यह देखने लगा कि किस प्रकार ब्रिटिश सरकार उनकी पूर्ति में रोड़ा अटका रही है, त्यों–त्यों वह कांग्रेस की तरफ़ खिचता चला गया क्योंकि कांग्रेस देश के आर्थिक विकास के लिए इच्छुक थी।

जहॉ तक भारत के विशाल जनता के हितों का प्रश्न है, ब्रिटिश अधिकारी बड़े नाज़ से यह दावा करते थे कि हम लोग खेतों पर काम करने वाले किसानों के हितों के अभिभावक हैं पर तथ्य बिलकुल इसके विपरीत था जैसा कि दादा भाई ने कहा। महाजन, जमींदार और सरकार के कर्मचारी कोटि–कोटि मूक जनता का शोषण कर रहे थे। जनता का बड़ा भाग आम तौर से निरक्षर था। इसलिए जनता कांग्रेस के महत्त्व को ठीक से नहीं समझ सकी। पर कांग्रेस ने क्रमशः उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए लड़ना शुरू किया। इस प्रकार कांग्रेस धीरे–धीरे उनकी सच्ची हितैषी तथा प्रतिनिधि संस्था के रूप में उभरने लगी।

परंतु इस आरंभिक राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे आधारभूत कमी इसका संकुचित सामाजिक आधार था। आंदोलन को अभी सबका समर्थन प्राप्त नहीं था। इसका दायरा अभी सिर्फ़ पढ़े–लिखे शहरी भारतीयों तक ही सीमित था। खास तौर पर इस समय नेतृत्व वकील, डॉक्टर, पत्रकार, शिक्षक, कुछ व्यापारी तथा ज़मीं– दार–जैसे बुद्धिजीवी वर्गों के हाथ में था। वस्तुतः उदारवादी नेताओं को अभी राजनैतिक रूप से जनता पर विश्वास नहीं था। उनका विश्वास था कि अभी भारतीयों में उस समय की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करने की क्षमता का अभाव है लेकिन उदारवादी नेताओं की यह सबसे भारी भूल थी। उन्होंने सिर्फ़ भारतीय जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पिछड़ेपन को ही देखा। लेकिन वे भूल गए कि एक साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए जिस त्याग, वीरता और साहस की आवश्यकता है वह सिर्फ जनता ही कर सकती है। इसी जनसहयोग के अभाव की वजह से वे सोचते रहे कि अभी विदेशी सत्ता को चुनौती देने का समय परिपक्व नहीं है। बाद में आने वाले राष्ट्रवादी इससे बिलकुल विपरीत सोचते थे और भारतीय जनता की क्षमता में उनका पूर्ण विश्वास था लेकिन इस संकुचित सामाजिक आधार की वजह से हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वे सिर्फ़ संकुचित हितों के लिए ही संघर्ष कर रहे थे। कांग्रेस की नीतियों में भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग के हितों का कुछ–न–कुछ ध्यान रखा गया था किंतु उदारवादी नेता साम्राज्यवाद–विरोधी संघर्ष में सभी वर्गों को प्रेरित नहीं कर सके।

ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया :

अब प्रश्न यह उठता है कि कांग्रेस के प्रारंभिक 20 वर्षों के दौरान सरकार की प्रतिक्रिया क्या रही ? ब्रिटिश साम्राज्य की इमारत इतनी कमजोर नहीं थी कि कांग्रेस का बिगुल बजते ही गिर जाती। 19वीं सदी के अंतिम दशकों में साम्राज्य अपनी शक्ति और सम्मान के शिखर पर था। ब्रिटेन में जो लोग इस मत के थे कि इंग्लैंड को अपने देश में रहना चाहिए, वे कमजोर पड़ चुके थे और उदारवादियों का एक गुट भी साम्राज्यवाद का समर्थक हो चुका था। भारत सचिव सर्वशक्तिमान हो चुका था। उसके हाथ में अधिकार की सारी बागडोर आ गई थी और भारत सरकार महज लंदन में हुए फैसलों को कार्यान्वित करने का एक बार मात्र बनकर रह गई थी।

भारत सरकार ने, जो भारत सचिव को यहां के राजनैतिक विकास एवं गतिविधियों की सूचना दिया करती थी, कांग्रेस के क्रियाकलापों के प्रति कुछ कौतूहल प्रकट किया और इस आंदोलन में वह कुछ दिलचस्पी लेने लगी। 1886 में कांग्रेस के प्रतिनिधियों के लिए लार्ड डफरिन ने कलकत्ते में एक स्वागत समारोह किया। मद्रास वाले अधिवेशन में वहाँ के गवर्नर ने भी कुछ इसी प्रकार का शिष्टाचार किया। सरकारी अफ़सरों को इन अधिवेशनों में जाने दिया जाता था पर 1888 ई0 तक आते–आते सरकार का स्वरूप कांग्रेस के प्रति पूरी तरह बदल चुका था।

राष्ट्रीय आंदोलन की धारा इतनी प्रबल साबित हुई कि ब्रिटिश शासक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को, उस रास्ते पर न ला सके जिसपर वे ले जाना चाहते थे। कांग्रेस के जन्म के चार साल के अंदर ही वे उसकी मौत की कामना करने लगे। लार्ड डफरिन ने कांग्रेस के ही नहीं, ए0ओ0 ह्यूम के खिलाफ़ भी कटु वक्तव्य दिए। कांग्रेस के अंदर वे कौन से परिवर्तन आ गए जिनसे ब्रिटिश शासक चार साल के अंदर ही उसके विरोधी बन गए। राजभक्ति के बावजूद अपनी स्थापना के तुरन्त बाद कांग्रेस को सरकार के कोप का भागी होना पड़ा।

अपने पहले तीन अधिवेशनों के बाद ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में कई परिवर्तन आ चुके थे। कांग्रेस ने वार्षिक सम्मेलन से आगे बढ़कर संगठित पार्टी का रूप लेना शुरू कर दिया था। कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी, उसके प्रतिनिधियों की बढ़ती हुई संख्या का ग्राफ एक चार्ट के रूप में उपर वर्णित किया जा चुका है। कांग्रेस का नेतृत्व बुर्जुआ विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले बुद्धिजीवियों के हाथ में था जिनमें वकीलों की संख्या सबसे अधिक थी। 1887 ई0 तक कांग्रेस सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े–लिखे लोगों का ही अड्डा नहीं रह गई थी हालाँकि नेतृत्व अभी उन्हीं के हाथों में था। प्रतिनिधियों के भाषण में देशी भाषा का भी इस्तेमाल शुरू हो गया था। ब्रिटिश शासक जिन लोगों को नहीं चाहते थे वे भी कांग्रेस में प्रवेश कर चुके थे और ब्रिटिश शासक जिस रास्ते पर उसे ले जाना चाहते थे, उसके विपरित रास्ता कांग्रेस ने अपनाना शुरू कर दिया था। भारत का शासन चलाने वाले ब्रिटिश शासकों, वायसराय और गवर्नरों की कौंसिल के सदस्यों की कटु आलोचना कांग्रेस के मंच से शुरू हो गई थी। कांग्रेस ने राष्ट्रीय आंदोलन के शक्तिशाली अस्त्र का रूप धारण करना शुरू कर दिया था। यही वजह थी कि मद्रास के बाद डफरिन और अन्य ब्रिटिश शासक कांग्रेस के खिलाफ़ हो गए और उसे समाप्त करने की सोचने लगे।

1888 ई0 का वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में बड़े संकट का वर्ष था। मद्रास कांग्रेस के अवसर पर उत्तर और दक्षिण भारत में वितरित पुस्तिकाओं में अपनी आलोचना देखकर ब्रिटिश नौकरशाह आगबबूला हो गए और कांग्रेस को खत्म करने के लिए उसपर टूट पड़े। ब्रिटिश नौकरशाही ने जोर डालकर और तिकड़मबाजी से मुसलमानों, पारसियों और हिंदुओं के एक बहुत बड़े हिस्से को, ज़मींदारों और धनिक वर्ग के व्यक्तियों को, कांग्रेस से अलग कर देने और उसका दुश्मन बना देने की भरपूर कोशिश की। लेकिन यदि कांग्रेस केवल भारतीय समाज के छोटे अंश का ही प्रतिनिधित्व करती रहती, जनगण से संपर्क स्थापित करने और उससे हमदर्दी दिखाने का प्रयत्न न करती तो ब्रिटिश शासक उसका विरोध कदापि न करते। वस्तुतः कांग्रेस ब्रिटिश शासकों की इच्छा के विपरीत जा रही थी। डफरिन ने हुक्म जारी किया कि कोई भी सरकारी नौकर किसी राजनैतिक संगठन के लिए पैसे इकट्ठे नहीं कर सकता। कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में जिला अधिकारी की आज्ञा के विरुद्ध शामिल होने के लिए एक व्यक्ति को 20,000 रुपए की ज़मानत देने को कहा गया। एक आदेश में कहा गया कि इन सभाओं में दर्शकों के रूप में भी सरकारी अफ़सरों का शामिल होना मना है। 1890 ई0 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, जी0 के0 गोखले, एम0 जी0 रानाडे, दादा भाई नौरोजी जैसे नेताओं को अलग करने के भी प्रयास किये गये। कांग्रेस की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता से लार्ड कर्ज़न को काफ़ी नाराज़गी हुई और वह इस संगठन को खत्म करना चाहता था। उसने 1900 में भारत सचिव को लिखा– "कांग्रेस धीरे–धीरे लड़खड़ाकर गिर रही है और भारत में रहते हुए मेरी यह बहुत बड़ी आकांक्षा है कि मैं इसकी शांतिपूर्ण मृत्यु में सहायक बनूं।"

ब्रिटिश अधिकारी बढ़ते हुए राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रति 'फूट डालो और राज्य करों' की नीति का अनुसरण कर रहे थे। उन्होंने इस बात को महसूस किया कि भारतीय लोगों की बढ़ती हुई एकता उनके राज्य के लिए बहुत बड़ा खतरा थी इसलिए ब्रिटिश अधिकारियों ने सर सैयद अहमद खाँ, राजा शिवप्रसाद तथा कुछ अन्य ब्रिटिश समर्थक लोगों को कांग्रेस–विरोधी आंदोलन शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने हिंदू और मुसलमानों के बीच भेद–भाव उत्पन्न करने की कोशिश की। सरकारी नौकरियों के प्रश्न पर अंग्रेजों ने शिक्षित हिंदू और मुसलमानों में फूट डालने और सांप्रदायिकता की भावना को बढ़ावा देने का प्रयास किया। हिंदी और उर्दू भाषा तथा कट्टर हिंदुओं द्वारा शुरू किए गए गोरक्षा आंदोलन का उपयोग भी इसी मतलब के लिए किया गया। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति हिंदू और मुसलमानों में भेद डालने तक ही सीमित नहीं थी, वरन् अँग्रेजों ने प्रारंभिक सामंत वर्ग को नए बुद्धिजीवी वर्ग के, प्रांत को प्रांत के, जाति को जाति के विरुद्ध करने की भरसक कोशिश की।

सर सैयद अहमद खॉ ने कांग्रेस का विरोध आरंभ से ही किया था। कांग्रेस सभी धर्मवालों को एक मंच पर ला रही थी। सर सैयद अहमद खॉ को यह पसंद नहीं था इसलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रहने को कहा लेकिन उनके विरोध के बावजूद मुसलमानों पर कांग्रेस का प्रभाव बढ़ रहा था। मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या प्रथम कांग्रेस अधिवेशन में 2 और दूसरे अधिवेशन में 33 थी। तीसरे कांग्रेस अधिवेशन में तो उसका अध्यक्ष ही मुसलमान था तथा कितने ही मुसलमानों ने कांग्रेस को सफल बनाने में मदद की। मुसलमानों में कांग्रेस के प्रभाव को बढ़ते देखकर सैयद अहमद खॉ खुश नहीं

थे। अतः कांग्रेस का विरोध करने के लिए उन्होंने दो संगठन बनाए – मोहम्मडन ऐजूकेशन कॉन्फ्रेंस और यूनाइटेड पेट्रियोटिक एसोसिएशन। पहले संगठन का लक्ष्य मुसलमानों को कांग्रेस से अलग करना था और दूसरे का लक्ष्य था सारे विरोधियों को, खासकर कांग्रेस–विरोधी हिंदू–मुस्लिम ताल्लुकेदारों को, एक मंच पर ले आना और कांग्रेस के विरुद्ध सरकार के पक्ष में खड़ा करना लेकिन इतने विरोध के बावजूद कांग्रेस के अधिवेशन सफल रहे।

थक हार कर ब्रिटिश सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं को संतुष्ट करने की कोशिशें प्रारंभ की और इसके परिणामस्वरूप 1892 ई0 में इंडियन काउंसिल ऐक्ट पारित किया गया। इस क़ानून के जरिए लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्यों को बजट पर बहस करने और जनहित के मामलों के बारे में सवाल पूछने का हक़ दिया गया। लेकिन इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार ने दमन की नीति जारी रखी, जैसे– तिलक और अन्य राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार किया। 1895 ई0 समाचारपत्रों की स्वतंत्रता कम करने के लिए कानून बनाए गए और पुलिस तथा मजिस्ट्रेटों की शक्तियों में वृद्धि की गई। ब्रिटिश सरकार ने यह सोचा कि शिक्षा के प्रसार के कारण राष्ट्रवाद का विकास हुआ है, अतः 1903 के अधिनियम द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में स्कूलों के निरीक्षण की व्यवस्था कर स्वतंत्रता को समाप्त करने का प्रयास किया गया।

आलोचनात्मक मूल्यांकन :

बहुत से आलोचकों ने इस समय के उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं की उपलब्धियों की आलोचना की है। उस समय इनके प्रयत्नों से कोई विशेष तात्कालिक राजनैतिक लाभ नहीं हुआ। उन्होंने बहुत से सुधारों के लिए संघर्ष किया था जिसमें से बहुत कम में उन्हें सफलता मिल सकी। बाद में लाला लाजपतराय ने लिखा – "बीस वर्ष तक रियायतों तथा दुःखों को दूर करने के असफल संघर्ष करने के बाद इन्हें रोटी के बदले पत्थर ही प्राप्त हुए।" सरकार उदार होने की बजाय और भी दमनकारी होती गई। इन आलोचकों के अनुसार प्रारंभिक राष्ट्रीय आंदोलन जनता के बीच जड़ें जमाने में असफल रहा। यहाँ तक कि जिन लोगों ने ऊँची–ऊँची आशाएं लेकर इसमें प्रवेश किया था, वे भी निराश हुए। उदारवादियों की आवेदन–निवेदन की नीति को उन्होंने 'भिक्षा माँगने' की नीति कहकर खिल्ली उड़ाई। उनका कहना था कि इनका कार्यक्रम पूंजीवाद के संकुचित दायरे में ही सीमित था। आलोचकों ने उदारवादियों के प्रयासों को असफल बताया।

इस बात में संदेह नहीं कि इनकी तात्कालिक उपलब्धियाँ नगण्य थीं और उन्नीसवीं शताब्दी में बदलते हुए ब्रिटिश शासन की प्रकृति के कारण उनकी कई राजनैतिक धारणाएँ ग़लत साबित हुईं। युवा वर्ग इनसे संतुष्ट नहीं था। 1905 तक राष्ट्रीय आंदोलन की धारा तीव्र हो रही थी और नेतृत्व उग्रवादी लोगों के हाथ में आ रहा था। लेकिन जिन परिस्थितियों में उन्होंने यह कठिन कार्य अपने हाथों में लिया और जो कठिनाइयाँ उनके सम्मुख आई, उनको देखते हुए इस युग के नेताओं की उपलब्धियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 1885–1905 ई0 तक काल भारतीय राष्ट्रवाद के बीजारोपण का काल कहा जा सकता है। इसलिए अनेक असफलताओं के बावजूद प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की सुदृढ़ नींव डाली और ऐसे मार्ग का निर्माण किया जिसपर चलकर

आजादी प्राप्त की जा सके। उदारवादी नेता मध्य वर्ग तथा निम्न मध्य वर्ग में इस राष्ट्रीय भावना को जगाने में सफल रहे कि वे एक ही राष्ट्र से संबंधित हैं। उन्होंने भारतीयों को सामान्य राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों के प्रति जागरूक किया। उन्होंने उन्हें सामान्य शत्रु से परिचित कराया और इस प्रकार एक सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायता की। उदारवादियों ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की एक सशक्त आर्थिक समीक्षा प्रस्तुत की जिसने यह सिद्ध कर दिया था कि भारत की ग़रीबी, बेकारी और आर्थिक पिछड़ापन अंग्रेजों के कारण है। इस समीक्षा से ब्रिटिश राज का नैतिक आधार कमजोर हुआ और राष्ट्रीय चेतना को बल मिला। उन्होंने जनता को अपनी आर्थिक दुर्दशा और अपमानित स्थिति से तथा उसमें सुधार की संभावना से परिचित कराया। उन्होंने अस्पष्ट आर्थिक आकांक्षाओं को एक सुस्पष्ट राष्ट्रवादी स्वरूप दिया तथा आर्थिक विकास के विचारों का प्रचार किया, मार्ग की आर्थिक और राजनैतिक बाधाओं और उनपर विजय पाने के उपायों का निर्देश किया। यह कहना गलत नहीं होगा कि अपनी, कई असफलताओं के बावजूद उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के लिए सुदृढ़ नींव रखी। इस समय के लगभग सभी राष्ट्रवादी नेताओं की राजनैतिक गतिविधि जनता को सावधानी के साथ राजनैतिक शिक्षा देने तथा आधुनिक राजनैतिक और राष्ट्रवादी चिंतन तथा गतिविधि से अवगत कराने के ही उद्देश्य से प्रेरित थी। अतः हमारी दृष्टि में वे आधुनिक भारत के निर्माताओं में गौरवमय स्थान रखते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी युग का एक निगाह में सिंहावलोकन करने से यह आसानी से मालूम हो जाता है कि उनकी मनोरचना किस प्रकार हुई थी। अपने प्रारंभिक 20 वर्षों में जबकि भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कोई पथ प्रदर्शक नही था, प्रारंभिक नेताओं ने जो रूख अख्तियार किया था उसके लिए हम उन्हे बुरा नहीं कह सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव में 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गड़े होते है क्या उसपर कोई दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वहीं तो है जिसपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। पहले उपनिवेशों के ढ़ंग का स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन और उसके बाद स्वराज्य की मंजिले, एक के बाद एक बन सकी है। अपनी समझ और अपनी क्षमता के अनुसार, उन्होने बहुत परिश्रम और भारी कुर्बानियॉ की थी। आज हमारा रास्ता साफ है और हमारा लक्ष्य स्पष्ट है तो यह सब हमारे उन्ही प्रारंभिक उदारवादी नेताओं की बदौलत है कि उन्होने अपने मेहनत से इस अखिल भारतीय संस्था को साम्राज्यवाद के चंगुल से जीवित बचाए रखा। अतएव इस अवसर पर हम उन तमाम उदारवादी प्रारंभिक नेताओं और महापुरूषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करें जिन्होनें कि हमारे सार्वजनिक जीवन की आरंभिक मंजिलों में प्रगति की गाड़ी को आगे बढ़ाया था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन :

क्रम	वर्ष	स्थान	अध्यक्ष	कुल प्रतिनिधि	मुस्लिम प्रतिनिधि
1	1885	बम्बई	व्योमेश चन्द्र बनर्जी	72	2
2	1886	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	434	33
3	1887	मद्रास	सैयद बदरूद्दीन तैयबजी	607	79
4	1888	इलाहाबाद	जार्ज यूल	1248	222
5	1889	बम्बई	विलियम वेडरबर्न	1913	254
6	1890	कलकत्ता	स्र फिरोजशाह मेहता	702	116
7	1891	नागपुर	आनन्द चार्लू	812	71
8	1892	इलाहाबाद	व्योमेश चन्द्र बनर्जी	625	91
9	1893	लाहौर	दादाभाई नौरोजी	867	65
10	1894	मद्रास	अल्फ्रेड बेव	1163	23
11	1895	पूना	सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	1584	25
12	1896	कलकत्ता	रहमतुल्ला एम0 सयानी	784	54
13	1897	अमरावती	शंकर नायर	692	57
14	1898	मद्रास	आनन्द मोहन बोस	614	10
15	1899	लखनऊ	रमेश चन्द्र दत्त	740	313
16	1900	लाहौर	चंदावरकर	567	56
17	1901	कलकत्ता	दिनशा वाचा	896	76
18	1902	अहमदाबाद	सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	471	20
19	1903	मद्रास	लालमोहन घोष	538	9
20	1904	बम्बई	सर हेनरी कॉटन	1010	35
21	1905	बनारस	गेपाल कृष्ण गोखले	758	18
22	1906	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	1663	45

उदारवादी नेता (Moderate Leaders) :

दादा भाई नौरोजी (Dada Bhai Naoroji) 1825-1917 :

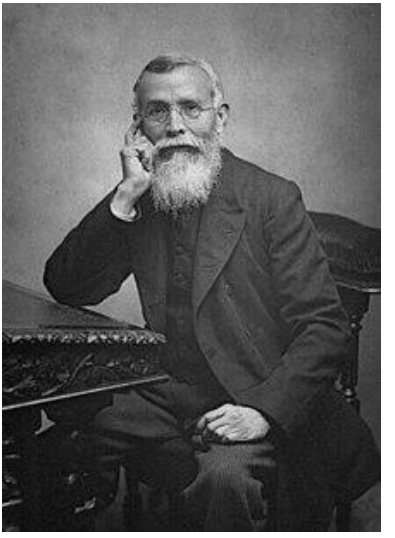

Dada Bhai Nauroji

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के शैशव–काल के नेताओं में दादाभाई नौरोजी का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने 61 वर्ष तक राष्ट्र की सेवा की, 40 वर्ष तक कॉग्रेस की स्थापना के पूर्व और 21 वर्ष तक उसके बाद। उन्हें प्यार और आदर से 'भारत का ओजस्वी पितामह' (Grand old man of India) कहा जाता है। डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने उनके बारे में लिखा है कि– 'राष्ट्र के गणमान्य नेताओं की सूची में पहला नाम दादाभाई नौरोजी का है, जिन्होंने कॉग्रेस के साथ उसके जन्म से सम्पर्क स्थापित कर जीवन पर्यन्त उसकी सेवा की और जो विकास के सब पहलुओं में उसके साथ रहे। उन्होंने कॉग्रेस को प्रशासन सम्बन्धी शिकायतों को दूर करवाने वाली संस्था की तुच्छ स्थिति से उठाकर राष्ट्रीय संस्था को गौरवपूर्ण स्थिति तक पहुँचाया. जिसने स्वराज्य को अपना निश्चित उद्देश्य बनाकर उसकी प्राप्ति के लिए कार्य करना प्रारम्भ किया। सी० वाई० चिन्तामणि ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि– '61 वर्षों तक दादाभाई नौरोजी ने विकट परिस्थितियों से लड़ते हुए पूर्ण निःस्वार्थ और विश्वास के साथ तथा एक उद्देश्य के लिए मातृभूमि की सेवा करते रहे। ..... वे आत्माओं में महान, निर्णयों में अत्याधिक उदार तथा अजातशत्रु थे। व्यक्तिगत चरित्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र में दादाभाई नौरोजी अपने देशवासियों के लिए एक अनुकरणीय आदर्श थे।''

दादाभाई नौरोजी का जन्म 4 सितंबर, 1825 को मुम्बई के एक ग़रीब पारसी परिवार में हुआ। जब दादाभाई 4 वर्ष के थे, तब उनके पिता का देहांत हो गया। उनकी माँ ने निर्धनता में भी बेटे को उच्च शिक्षा दिलाई। उच्च शिक्षा प्राप्त करके दादाभाई लंदन के यूनिवर्सिटी कॉलेज में पढ़ाने लगे थे। लंदन में उनके घर पर वहां पढ़ने वाले भारतीय छात्र आते–जाते रहते थे जिनमें गॉधी जी भी एक थे। मात्र 25 बरस की उम्र में एलफिनस्टोन इंस्टीट्यूट में लीडिंग प्रोफेसर के तौर पर नियुक्त होने वाले पहले भारतीय बने। नौरोजी वर्ष 1892 में हुए ब्रिटेन के आम चुनावों में 'लिबरल पार्टी' के टिकट पर 'फिन्सबरी सेंट्रल' से जीतकर भारतीय मूल के पहले 'ब्रितानी सांसद' बने थे। नौरोजी ने भारत में कांग्रेस की राजनीति का आधार तैयार किया था। उन्होंने कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठन 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' के गठन में मदद की थी। बाद में वर्ष 1886 में वह

कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। उस वक्त उन्होंने कांग्रेस की दिशा तय करने में अहम भूमिका निभाई। नौरोजी गोपाल कृष्ण गोखले और महात्मा गांधी के सलाहकार भी थे।

दादाभाई नौरोजी ने 1886, 1893 और 1906 में तीन बार कॉंग्रेस के सभापति का पद ग्रहण किया। उन्होंने अपने जीवन–काल में कम–से–कम तीस संस्थाएं स्थापित कीं। उनमें से अधिकांश का उद्देश्य देश की राजीनतिक उन्नति करना था। उन्होंने शिक्षा और समाज–सुधारों के लिए भी संस्थाएँ खोलीं। देश–हित के लिए समर्थन प्राप्त करने के हेतु उन्होंने इंगलैंड में एक ब्रिटिश 'इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की। उन्होंने एक समाचार–पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। वे कुछ समय तक बड़ौदा के प्रधानमंत्री रहे तथा वहाँ पर कई सुधार कार्य किये।

दादाभाई नौरोजी पक्के उदारवादी थे। उन्हें अंग्रेजों की न्याय–परायणता में पूर्ण विश्वास था। वे पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रशंसक थे। उनके विचार में भारत का ब्रिटेन से सम्बन्ध उसके लिए हितकारी होगा। क्रमिक सुधारों तथा सांवैधानिक विधियों में उन्हें विश्वास था। उनकी भाषा बड़ी ही शान्त और संयत थी, लेकिन आगे चलकर सरकार की प्रतिगामी नीति के कारण उनके स्वभाव तथा भाषा में उग्रता आ गयी। वे इंग्लैंड में स्थायी रूप से बस गये। वे प्रथम भारतीय थे जो ब्रिटिश लोकसभा के सदस्य चुने गये थे।

वयोवृद्ध तथा सर्वमान्य राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने 1906 ई० में कॉंग्रेस को आपसी संघर्ष से बचाया। वर्ग–विभाजन के प्रश्न पर गरमपंथियों को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी तथा इनको आशंका थी कि कॉंग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए उग्रवादियों तथा सुधारवादियों में खुल्लमखुला संघर्ष हो जायगा। लेकिन दोनों पक्षों ने दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष पद के लिए सहर्ष स्वीकार कर लिया और कांग्रेस के सिर से संकट टल गया। इसी अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने घोषणा की कि कॉंग्रेस का लक्ष्य 'स्वशासन अथवा स्वराज्य' (Self Government or Swaraj) की प्राप्ति है। दादाभाई नौरोजी ने कहा "हम दया की भीख नहीं मांगते, हम केवल न्याय चाहते हैं, ब्रिटिश नागरिक के समान अधिकारों का ज़िक्र नहीं करते, हम स्वशासन चाहते है।" अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने भारतीय जनता के तीन मौलिक अधिकारों का वर्णन किया है। ये अधिकार थे–

1. लोक सेवाओं में भारतीय जनता की अधिक नियुक्ति।
2. विधानसभाओं में भारतीयों का अधिक प्रतिनिधित्व।
3. भारत एवं इंग्लैण्ड में उचित आर्थिक सबन्ध की स्थापना।

दादाभाई नौरोजी के नेतृत्व में ही कॉंग्रेस ने उग्रवादी युग में पदार्पण किया तथा कतिपय क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को अपनाया। बहिष्कार आन्दोलन को वैधता प्रदान करवाना, स्वदेशी आन्दोलन को कॉंग्रेस का सहयोग दिलवाना तथा राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम को लागू करवाने का पूर्ण श्रेय दादाभाई नौरोजी को ही था।

दादा भाई ने व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में नैतिक शक्ति का आह्वान किया। नैतिकता ही किसी सत्ता को स्थायित्व दे सकती है। राजनैतिक सत्ता के नैतिक आधार की उन्होंने जबरदस्त वकालत की और स्पष्ट किया कि न्याय उदारता

और भावना की आधारशिलाओं पर ही राजनैतिक व्यवस्था की एकता कायम रखी जा सकती है। कोई भी राजनैतिक व्यवस्था यदि वह पाशविक बल पर आधारित है तो कभी भी चिरस्थायी नहीं हो सकती। सन् 1893 में अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण के दौरान उनके द्वारा कथित वक्तव्यों से उनका राजनीतिक चारित्रिक मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण मिलता है, किसी भी साम्राज्य का निर्माण भले ही अस्त्र–शस्त्रों के बल पर हो सकता है पर उसका परीक्षण केवल शाश्वत नैतिक शक्ति के आधार पर ही सम्भव है। अतः यह आवश्यक है कि सैनिक अथवा अस्त्र बल की अपेक्षा शुभ संकल्पों एवं पारस्परिक दृढ़ विश्वास को राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया जाए। इंग्लैण्ड ने पाशविक बल और उत्तेजना की नीति का अनुसरण किया तो यह निश्चित है कि उसका साम्राज्य विघटन की ओर अग्रसर होगा।

दादा भाई नौरोजी ने ब्रिटिश प्रशासन, ब्रिटिश संस्थाओं और ब्रिटिश चरित्र की जहाँ उन्मुक्त हृदय से प्रशंसा की वहाँ दोषों की निर्भीक आलोचना से भी वे कतराये नहीं। उन्होंने विश्वास किया कि ब्रिटिश जनता अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान बनी रही तो भारत स्वशासन की दिशा में निश्चयपूर्वक आगे बढ़ सकेगा। दादा भाई नौरोजी का कहना था कि जनता को अपने दुखड़ों के आगे ब्रिटिश शासन की अच्छाइयों को नहीं भूलना चाहिए। इस देश में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व को मानकर ही आगे कदम उठाया जा सकता है; क्योंकि उसी पर हमारी आशाएँ निर्भर हैं। भारत का भाग्य ब्रिटिश शासन के साथ जुड़ा हुआ है और किसी अन्य शासनों को हम अपने सिर पर नहीं लादना चाहते। ब्रिटिश शासन के इस पीछे दादा भाई नौरोजी के मन में गौरी हुकूमत का कोई भय या आतंक नहीं गुणगान था। दादा भाई एक उदारवादी राजनीतिज्ञ थे जो भारत की आवाज, योग और आवश्यकता को संयुक्त भाषा में संवैधानिक ढंग से पेश करना चाहते थे। दादा भाई के अनुसार ब्रिटिश शासन प्रणाली विनाशकारी और निरंकुश है तथा इंग्लैण्ड के लिए आत्मघाती एवं उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्शों, परम्पराओं के प्रतिकूल है। उन्होंने इस शासन व्यवस्था को एक क्रूर स्वांग की संज्ञा देते हुए इसमें व्यावहारिक परिवर्तन की माँग की। दादा भाई ने बताया कि इंग्लैण्ड को भारत से प्रतिवर्ष कितना धन प्राप्त होता है और किस तरह भारतीय शासन में भारतीयों को नियुक्त नहीं किया जाता। यदि वर्तमान निर्गम बन्द कर दिया जाए और देश के विधि निर्माणकारी गतिविधियों में भारतीय प्रतिनिधियों को अपनी राय प्रकट करने का अधिकार दे दिया जाए तो भारतीयों को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत उज्ज्वल और सहज भविष्य की आशा हो सकती है।

दादा भाई ने भारत के पक्ष में ब्रिटेन में निरर्थक प्रचार किया। उन्हें विश्वास था कि यदि ब्रिटिश जनता को भारतीय स्थिति और भारतीय समस्याओं तथा मानव के प्रति सही जानकारी दी गई और भारत के बारे में ब्रिटिश जनता का अज्ञान मिटा दिया गया तो दोनों देशों के सम्बन्ध सुदृढ़ हो जायेंगे और दोनों ही देशों को इससे स्थायी लाभ होगा। इसी अनुभूति के कारण दादा भाई नौरोजी ने डब्ल्यू0 सी0 बनर्जी की सहायता से लन्दन इण्डियन सोसायटी की स्थापना की, जिसका उद्देश्य अंग्रेजों और भारतीयों का सम्पर्क बढ़ाना था। एसोसियेशन के समारोह में दादा भाई नौरोजी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि भारत का शासन भारत के हित में ही होना चाहिए। उन्होंने अपनी शिकायतों की एक लम्बी सूची तैयार कर ब्रिटिश शासकों के समक्ष पेश की जिसमें शिक्षा के मामले में

उदासीनता, भारतीय शासन में भारतीयों को उचित स्थान न देना, बार–बार अकाल पड़ना, सिंचाई और आवागमन के साधनों का अभाव आदि प्रदर्शित किया। दादा भाई ने ब्रिटिश जनता की नैतिकता को टकसाते हुए अनुरोध किया कि वह अपने स्वभाव और आदर्शों के अनुरूप ही भारत पर शासन करे और जो कुछ उसके कर्त्तव्य हों उन्हें ईमानदारी से पूरा करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दे। दादा भाई ने प्रस्ताव किया कि भारत और इंग्लैण्ड में सिविल सर्विस के लिए एक साथ प्रतियोगितात्मक परीक्षा की व्यवस्था हो। दादा भाई ने "भारत में भारतीय कर्मचारियों की कार्यक्षमता के प्रमाण" नामक एक 95 पृष्ठ की पुस्तिका अंग्रेज को सौंपते हुए सिद्ध किया कि शासन के विभिन्न विभागों में उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त शिक्षक भारतीयों ने योग्यता और ईमानदारी से काम किया है और कर रहे हैं। दादा भाई नौरोजी ने कहा कि नैतिकता और संवैधानिक विधि दोनों का तकाजा है कि इंग्लैण्ड भारत पर भारतवासियों के कल्याण के लिए ही शासन करे। ब्रिटिश शासन का शासित राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य है कि वह भारत में फैली हुई विभिन्नता, निर्मम कष्टों को दूर करे। भारतीयों को राजनीतिक और आर्थिक कष्टों से छुटकारा दिलाने में ही ब्रिटिश चरित्र की नैतिकता है।

दादा भाई ने ब्रिटिश निरंकुश साम्राज्यवाद की नैतिक बुराइयों का पर्दाफाश किया। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद न केवल प्रशासनिक बुराइयों का अपितु गम्भीर आर्थिक हलचलों का भी जनक है। निरंकुश शासनों का औपनिवेशिक जनता के साथ अहंकार और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने की आदत पड़ गई है। दादा भाई ने चेतावनी दी कि इंग्लैण्ड ने संवैधानिक सरकार के लिए जो वीरतापूर्ण संघर्ष किये हैं उनका इतिहास वास्तविक रूप में गौरवपूर्ण है। 10 जनवरी 1906 ई0 में गोखले के सम्मान में आयोजित एक रात्रि भोज में दादा भाई नौरोजी ने अभिव्यक्त किया था, "जिन उपनिवेशों को स्वशासन का अधिकार मिल गया है वे समृद्ध हो रहे हैं। भारत को स्वशासनाधिकार नहीं मिला है इसलिए उसकी दशा दिन–प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है। लेकिन हमारा इतने वर्षों का आन्दोलन असफल नहीं हो गया है।" यदि भारत की समस्त जनता एक बार कह दे कि हम स्वशासन के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं और यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है तो उनका कहना अभी बेकार जा ही नहीं सकता। दादा भाई का व्यवहार लगातार उग्र होता चला गया। सन् 1900 ई0 में नेग्टिव रिफार्म क्लब में कॉंग्रेस अध्यक्ष बनने से पूर्व उन्होंने कहा था– "यह कहा जाता है शासकों ने सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए कानून बनाया है, परन्तु वास्तव में यह कानून इसलिए बनाया गया है कि वे सुरक्षित ढंग से हमारी सम्पत्ति उठा ले जा सकें। ब्रिटिश सरकार अकाल, महामारी और भुखमरी द्वारा लाखों लोगों को बड़ी सादगी और वैज्ञानिक ढंग से मार रही है। अंग्रेज उन प्रवीण शल्य चिकित्सकों की तरह हैं जो अपने तेज औजारों से दिल को काटकर खून की एक–एक बूंद तक निकाल लेते हैं और उसका निशान तक नहीं छोड़ते।"

भारतीय जनता की निर्धनता उनके लिए गहरी चिन्ता का विषय थी। उन्होंने अपने भाषणों तथा लेखों में भारतीयों की निर्धनता के कारण का उल्लेख किया। अपनी 'पोवर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (Poverty and UnBritish rule in India) नामक कृति में उन्होंने इस समस्या का विशेष रूप से विश्लेषण किया। उनका कहना था कि ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप भारत की सम्पत्ति ब्रिटेन में खिंची जा रही है और भारत

प्रतिदिन निर्धन होता जा रहा है। उनकी महान् कृति ''पॉवर्टी ऐंड अन–ब्रिटिश रूल इन इंडिया'' 'राष्ट्रीय आंदोलन की बाइबिल' कही जाती है।

देश और समाज की सेवा के लिए समर्पित दादाभाई नौरोजी नरमपंथी नेताओं के तो आदर्श थे ही, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैसे गरमपंथी नेता भी उन्हे प्रेरणास्त्रोत मानते थे। तिलक ने दादाभाई के साथ रहकर वकालत का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। दादाभाई बीच–बीच में इंग्लैण्ड जाते रहे, परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण वे प्रायः स्वदेश में रहे और 92 वर्ष की उम्र में 30 जून, 1917 को मुम्बई भारत में ही उनका देहान्त हुआ। वे भारत में राष्ट्रीय भावनाओं के जनक थे और उन्होंने ही देश में स्वराज की नींव डाली।

गोपाल कृष्ण गोखले (Gopal Krishna Gokhle) 1866-1915 :

महादेव गोविन्द रानाडे के शिष्य गोपाल कृष्ण गोखले को वित्तीय मामलों की अद्वितीय समझ और उस पर अधिकारपूर्वक बहस करने की क्षमता से उन्हें भारत का 'ग्लेडस्टोन' कहा जाता है। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सबसे प्रसिद्ध नरमपंथी थे। चरित्र निर्माण की आवश्यकता से पूर्णतः सहमत होकर उन्होंने 1905 में सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना की ताकि नौजवानों को सार्वजनिक जीवन के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। उनका मानना था कि वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा भारत की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। स्व–सरकार व्यक्ति की औसत चारित्रिक दृढ़ता और व्यक्तियों की क्षमता पर निर्भर करती है। महात्मा गॉधी उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।

G.K.Gokhle

गोपालकृष्ण गोखले का जन्म रत्नागिरी कोटलुक ग्राम में एक सामान्य परिवार में कृष्णराव के घर 9 मई 1866 को हुआ। पिता के असामयिक निधन ने गोपालकृष्ण को बचपन से ही सहिष्णु और कर्मठ बना दिया था। देश की पराधीनता गोपालकृष्ण को कचोटती रहती। राष्ट्रभक्ति की अजस्र धारा का प्रवाह उनके अंतर्मन में सदैव बहता रहता। इसी कारण वे सच्ची लगन, निष्ठा और कर्तव्यपरायणता की त्रिधारा के वशीभूत होकर कार्य करते और देश की पराधीनता से मुक्ति के प्रयत्न में लगे रहते। उन्होंने अपना जीवन एक स्कूल शिक्षक के रूप में शुरू किया और अन्त में फरगुसन कॉलेज के प्रिंसिपल के पद पर आसीन हुए। बाल्यावस्था से ही उनकी प्रतिभा असाधारण थी। इकतीस वर्ष की उम्र में उन्होंने रायल कमीशन के समक्ष भारतीय वित्त पर बयान दिया

तथा अपने देशवासियों की भावना को व्यक्त किया। 1902 ई० में वे राजकीय विधायिका परिषद् (Imperial Legilsative Council) के सदस्य नियुक्त हुए जहाँ उन्होंने कर्जन की प्रतिगामी नीति का डटकर विरोध किया। बंग–विभाजन के फेसले से वे एकदम बौखला उठे तथा ब्रिटिश नौकरशाही से असहयोग की शपथ खायी। उन्होने केवल 39 वर्ष की उम्र में 1905 में कॉंग्रेस के अध्यक्ष का भार संभाला। अंग्रेज शासकों को भारतीय जनमत से अवगत कराने के लिए उन्हें दो बार इंगलैंड भेजा गया। उनके द्वारा स्थापित संस्था का प्रमुख उद्देश्य देश के युवकों को देश–भक्ति, समाज– सेवा तथा कर्त्तव्यपरायणता की शिक्षा देना था। उन्होंने 1892 ई० के भारतीय परिषद् अधिनियम की कठोर आलोचना की तथा 1909 ई० के मार्ले–मिण्टो सुधार अधिनियम के निर्माण में काफी हाथ बंटाया। 1912 में गोपाल कृष्ण गोखले दक्षिणी अफ्रीका गये जहाँ उन्होंने रंग–भेद नीति के विरुद्ध संघर्ष में महात्मा गांधी का साथ दिया। उनके प्रयास के फलस्वरूप ही महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। लार्ड–विलिंगटन के कहने पर गोखले ने एक सुधार–योजना तैयार की जो 'गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा' के नाम से प्रकाशित हुआ।

गोपाल कृष्ण गोखले एक कर्मठ तथा परिश्रमी व्यक्ति थे और उनका ज्ञान विशाल तथा बहुमुखी था। वे स्पष्टवादी तथा मृदुभाषी थे। वे इतने ईमानदार बुद्धिजीवी थे कि वे बिना पूरी तरह सोचे–समझे कोई विचार अभिव्यक्त नहीं करते थे। गोखले न्यायाधीश रानाडे के राजनीतिक तथा आध्यात्मिक शिष्य थे। वे उदारवादी नेता के रूप में क्रमिक सुधारों के पक्षधर थे। वे एकाएक स्वशासन की मांग को अव्यावहारिक मानते थे। उन्हें संवैधानिक विधियों और अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास था और वे सोचते थे कि जिस दिन अंग्रेजों को विश्वास हो जायेगा कि भारतीय स्वशासन के लिए सक्षम हैं, वे उन्हें यह अधिकार दे देंगे। उनके विचार में भारत का ब्रिटेन से अटूट सम्बन्ध उसके लिए हितकारी होगा। उदारवादी विचारों के कारण गोखले कॉंग्रेस के उग्रवादी सदस्यों के बीच वे बहुत लोकप्रिय नहीं थे। वे साधारणतः सरकार तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य करते थे। उनके सम्बन्ध में कहा गया कि – "वे जनता की आकांक्षाएँ वायसराय तक पहुंचाते थे और सरकार की कठिनाइयां कॉंग्रेस तक।" इस कारण कभी–कभी दोनों उनके विरुद्ध हो जाते थे, जनता उनकी उदारवादिता के कारण तथा सरकार उग्रवादिता के कारण। लेकिन वे अपने पथ से कभी विचलित नहीं होते थे। भले ही अलोकप्रियता का भय उन्हें क्यों नहीं हो जाता, वे सच्चे देशभक्त थे। मातृभूमि की सेवा उनके जीवन का प्रथम लक्ष्य था। वे एक व्यावहारिक राजनीतिक की भॉंति परिस्थितियों के अनुसार विचारों और मांगों को संशोधित करने के पक्ष में थे। गोपाल कृष्ण गोखले एक राजनीतिक संन्यासी थे और वे सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकता से अनुरंजित करना चाहते थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति और साधुवृत्ति के कारण ही महात्मा गॉंधी ने उन्हें राजनीतिक गुरु के रूप में स्वीकार किया। गॉंधीजी के शब्दों में – "सर फिरोजशाह मुझे हिमालय की तरह दिखाई पड़े जिसे मापा नहीं जा सकता, और लोकमान्य तिलक महासागर की तरह जिसमें कोई आसानी से नहीं उतर सकता, पर गोपाल कृष्ण गोखले गंगा के समान थे जो सब को अपने पास बुलाती है। राजीनतिक क्षेत्र में उनके जीवन–काल में और उसके अनन्तर गोखले का मेरे हृदय में जो स्थान रहा है, वह अपूर्ण है।"

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में गोपाल कृष्ण गोखले के स्थान के विषय में परस्पर विरोधी विचार है। गोखले की उदारवादी विचारधारा के कारण भारत के गरम दलीय तो उन्हे 'एक दुर्बल ह्रदय उदारवादी' कहते थे जो ब्रिटिश सरकार के हाथ में जानबूझकर हथियार बनने को तैयार थे और दूसरी तरफ उनकी देशभक्ति के कारण ब्रिटिश शासक उन्हे 'एक हुपा हुआ राजद्रोही' समझते थे लेकिन वास्तव में वे न तो एक छुपे हुये राजद्रोही थे और न ही दुर्बल ह्रदय उदारवादी थे।

उनके लगभग 30 वर्षो के देश सेवा के इतिहास के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वें किसी भी रूप में एक प्रतिक्रियावादी नही थे। वे एक रचनात्मक नेता थे जो भारतीय जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिये लड़ते थे किन्तु उसमें प्रशासनिक उत्तरदायित्व की भावना भी थी और वे भारत सरकार की कठिनाइयो को भी नजरंदाज करने को तैयार नही थे। भारतीय जनता के प्रतिनिधि के रूप में वे 1875 ई0 में भारतीय व्यय पर 'वेलवाई कमीशन' के सामने गवाही देने इंग्लैण्ड गये तथा देश के ऊँचे पदो पर भारतीयो को नियुक्त न करने की नीति की कटु आलोचना की। गोखले ने बंगाल विभाजन की आलोचना करते हुये कहा था कि – ''मैं इतना ही कह सकता हूँ कि बंगाल विभाजन से नौकरशाही के साथ जनता के हित की दृष्टि से सहयोग करने की सारी आशा सदा के लिये खत्म हुई।" एक सच्चे देशभक्त की तरह उन्होंने जनता पर भारत सरकार की सैनिक नीति का बुरा प्रभाव पड़ने के कारण उसकी कटु शब्दो में निन्दा की। इस स्थिति को दूर करने के लिये ही उन्होंने 1914 की सुधार योजनाओं के अनुसार भारतीयों को सैनिक कमीशन तथा नौसैनिक प्रशिक्षण देने पर बल दिया।

इसके अतिरिक्त सर्वेण्ट् ऑफ इण्डिया सोसायटी नामक संस्था में भारत के विभिन्न प्रान्तों के योग्य तथा शिक्षित व्यक्ति शामिल किये गये। इस संस्था के संविधान की प्रस्तावना में गोखले ने लिखा– अब हमारे काफी देशवासियो को इस काम में धार्मिक भावना के साथ अपने आपको खपाने के लिए आगे बढ़ना चाहिये। सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिक रूप दिया जाना चाहिये, दिल में देश का प्रेम इस तरह भर जाना चाहिये कि उसके सामने अन्य सब बातें महत्वहीन मालूम हो।"

ब्रिटिश उदारवाद, पाश्चात्य शिक्षा की दृढ़ आस्था के साथ–साथ वे अंकुशपूर्ण स्वशासन के समर्थक थे। वे अन्य उदारवादी नेताओं की तरह स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत चाहते थे। उनकी दृष्टि में ब्रिटिश शासन एक ईश्वरीय देन थी, जिससे भारत का सम्बन्ध–विच्छेद भारतीयों के लिए ही दुर्भाग्यपूर्ण था। गोखले मानते थे कि ब्रिटिश नौकरशाही के फलस्वरूप प्रशासन में आर्थिक एवं अन्य जो दोष आ गये हैं उनका निराकरण स्वशासन द्वारा ही सम्भव है। स्वशासन की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा था– "ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण को स्थापित करना, विधान परिषदों का विस्तार एवं सुधार कर उन्हें धीमी गति से निकाय बना देना और जनता को सामान्यतः अपने मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने देना।" भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के सन् 1905 ई0 में बनारस अधिवेशन में अध्यक्षीय पद पर स्थित होते हुए अपने भाषण में अभिव्यक्त करते हुए कहा था – "कॉंग्रेस का लक्ष्य है कि भारत, भारतीयों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिए। एक निश्चित समयावधि में भारत में ऐसी ही सरकार गठित हो जानी चाहिए जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकार है। गोखले ने स्वशासन को एक भावात्मक आवश्यकता, नैतिक और

राजनीतिक उपलब्धि माना। इसी तरह की अभिव्यक्ति सन् 1907 ई0 में इलाहाबाद में एक भाषण में उन्होंने की थी – "मेरी आकांक्षा है कि मेरे देशवासियों की स्थिति अपने देश में वैसी ही हो जैसे कि अन्य लोगों की अपने देश में है। मैं जाति या सम्प्रदाय के भेदभाव से परे प्रत्येक नर–नारी के पूर्ण विकास का समर्थक हूँ। मैं चाहता हूँ कि उन पर किसी प्रकार के अप्राकृतिक प्रतिबन्ध न लगाए जाएँ। मेरी आकांक्षा है कि भारत विश्व के महान राष्ट्रों में राजनीतिक, औद्योगिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और कला के क्षेत्र में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करे। मेरी आखिरी तमन्ना यही है कि सब कार्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही पूरे हों।"

अंकुश पूर्ण स्वशासन में निहित तत्त्वों का समावेश पूर्ण अस्तित्व के साथ होना अनिवार्य है। उनकी दृष्टि में ये निम्नलिखित तत्त्व स्वशासन में आवश्यक रूप से विद्यमान होने चाहिए–

1. सभी नागरिक परीक्षाएँ, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षा इंग्लैण्ड में न होकर भारत में कराई जाये एवं सभी उच्च पदों के लिए होने वाली नियुक्तियों का आधार पूर्व प्रतियोगात्मक परीक्षा हो जिसमें भारतीयों को भी बैठने का समुचित अधिकार हो।
2. भारत के शिक्षित नागरिकों को भारत मन्त्री की सभा में, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में तथा मुम्बई और मद्रास के गर्वनरों की विधान परिषदों में पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व मिलना अत्यावश्यक हो।
3. सर्वोच्च एवं प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार हो, उनमें जनता को वास्तविक ढंग से प्रभावकारी प्रतिनिधित्व दिया जाए एवं देश के वित्तीय तथा कार्यकारी प्रशासन पर जनता का अधिक नियन्त्रण हो ।
4. स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और नगरपालिकाओं की शक्तियों में वृद्धि की जाए उनमें सरकारी हस्तक्षेप और नियन्त्रण इंग्लैण्ड में स्थानीय स्वशासी बोर्ड द्वारा इसी तरह के निकायों पर लागू किये जाने से अधिक न हो।

संवैधानिक आन्दोलन के पक्षधर गोपाल कृष्ण गोखले ने 4 फरवरी 1907 ई0 को इलाहाबाद में भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के अधिवेशन में वैधानिक आन्दोलन को परिभाषित करते हुए कहा था – "संवैधानिक आन्दोलन का अभिप्राय एक ऐसा आन्दोलन है जिसमें संवैधानिक सत्ताओं की कार्यवाही द्वारा ही वांछित परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता हो।" यानी सीधे शब्दों में गोखले के संवैधानिक आन्दोलन में हिंसा, विद्रोह, सशस्त्र क्रान्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। याचिकाएँ, न्याय के लिए आवेदन, निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा पारित प्रस्ताव और करों का विरोधस्वरूप न चुकाना – ये सभी उपाय संवैधानिक सत्ताओं के अन्तर्गत आते हैं। संवैधानिक सत्ताओं से निराशा के बावजूद उन सत्ताओं पर निरन्तर दबाव डालते रहना चाहिए, लेकिन इसके प्रभावशाली होने के लिए लोकमत की शक्ति और दृढ़ निश्चय का होना अनिवार्य होगा।

गोपाल कृष्ण गोखले उत्कृष्ट देशभक्त थे जिन्होंने राष्ट्रीय एकता में विश्वास प्रकट करते हुये स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। अतः ऐसे सच्चे और निर्मिक राष्ट्रवादी नेता को 'दुर्बल हृदय उदारवादी' कहना उचित नही प्रतीत होता है। दूसरी तरफ गोखले के सम्बन्ध में 'एक छुपे राजद्रोही' की संज्ञा देना भी सही नहीं है क्योंकि अपनी इस समस्त

देशभक्ति के बावजूद वे वैधानिकता को राजनीतिक आन्दोलन की लक्ष्मण रेखा मानते थे और इस बात के पक्ष में नहीं थे कि उनके देशवासियों द्वारा शासन का विरोध करने के लिये असंवैधानिक साधनों का प्रयोग किया जाय। वे क्रान्तिकारी साधनों के इतने विरोधी थे कि उन्होंने 1905–08 में देश के लगभग सभी भागों की यात्रा कर भारतीय जनता को क्रान्तिकारी साधनों की निरर्थकता समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा था कि हमारा लक्ष्य हिंसक परिवर्तन से प्राप्त नहीं किया जा सकता है वरन् वह क्रमिक रूप से ही प्राप्त किया जा सकता है।

गोखले और तिलक की तुलना करते हुए डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि गोखले नरम थे और तिलक गरम। गोखले वर्तमान में सुधार चाहते थे जबकि तिलक पुनर्निर्माण के पक्ष में थे। गोखले को नौकरशाही के साथ काम करना पड़ता था तो तिलक को नौकरशाही से भिडन्त रहती थी। गोखले सम्भवतः सहयोग चाहते थे, तिलक का झुकाव अड़ंगा–नीति की तरफ था। गोखले का उद्देश्य था स्वशासन जिन्हे योग्य लोग अपने को अंग्रेजों की कसौटियों पर कसकर बनावें, किन्तु तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य जिसे विदेशियों के विरोध के बावजूद भारतीयों को प्राप्त करना था। तिलक ने गोखले को भारत का हीरा, महाराष्ट्र का रत्न और देश सेवकों का राजा बतलाया था। लाला लाजपत राय ने कहा था कि उनकी देशभक्ति सबसे विस्तृत थी। लार्ड कर्जन का कहना था कि "ईश्वर ने उन्हें असाधारण योग्यताओं से आभूषित किया था जिनका प्रयोग उन्होंने देश के हितार्थ किया।

इस प्रकार भारतीय राजनीति को गोपाल कृष्ण गोखले की सबसे बड़ी देन राजनीति का आध्यात्मिकरण है। गोखले ने सदैव इस बात पर जोर दिया कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों को ही अपनाया जाना चाहिए। स्पष्ट है भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में गोखले का महत्वपूर्ण और अविस्मरणीय योगदान है।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी (Surendra Nath Benerji)1848-1925:

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में उदारवादी और प्रारंभिक नेताओं में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे आधुनिक भारत के अग्रदूतों तथा ब्रिटिश राज के भीतर घरेलू शासन के समर्थकों में से एक थे। उन्हे राष्ट्रगुरू के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। भारतीय इतिहास में 'भारतीय बर्क' के नाम से प्रसिद्ध सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने राष्ट्रवाद के प्रारंभिक दौर में भारतवासियों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया। ब्रिटिश भारतीय सिविल सेवा में चुने गए दूसरे भारतीय के रूप में मशहूर सुरेंद्रनाथ बनर्जी को उन्हें इस सेवा से बेदखल कर दिया गया था। इस अन्याय के कारण बनर्जी राष्ट्रवादी नेता बन गए और कांग्रेस से भी जुड़े।

एक शिक्षाविद के तौर पर. बंगाल विभाजन के प्रखर विरोधी रहे बनर्जी को गॉधी जी के तरीकों के विरोधी के तौर पर भी जाना जाता है।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का जन्म 10 नवम्बर 1848 को बंगाल के कलकत्ता शहर में एक बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के पिता का नाम डॉ0 दुर्गा चरण बनर्जी था और वह अपने पिता की गहरी उदार और प्रगतिशील सोच से बहुत प्रभावित थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने पैरेन्टल ऐकेडेमिक इंस्टीट्यूशन और हिन्दू कॉलेज से शिक्षा प्राप्त की थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक होने के बाद, उन्होंने रमेश चन्द्र दत्त और बिहारी लाल गुप्ता के साथ इम्पीरियल सिविल सर्विस (आई0सी0एस0) परीक्षाओं को पूरा करने के लिए 1868 में इंग्लैंड की यात्रा की। इग्लैंड प्रवास के दौरान बनर्जी ने एडमंड बर्क और अन्य उदारवादी दार्शनिकों को पढ़ा जिससे उनके राष्ट्रवादी होने की नींव मजबूत हुई। उनकी जिद के कारण अंग्रेज उन्हें **सरेंडर नॉट बनर्जी** कहते थे।

तमाम चुनौतीपूर्ण सवालों का सामना करने के बावजूद 1868 में उन्होंने इम्पीरियल सिविल सर्विसेज परीक्षा उतीर्ण करने में सफलता पाई। इसके पूर्व 1867 ई0 में सत्येन्द्रनाथ टैगोर आई0सी0एस0 बनने वाले पहले भारतीय बन चुके थे। 1871 में सिलहट के सहायक दण्डाधिकारी के पद पर उनकी नियुक्ति हुई परन्तु 1874 ई0 में एक विवादास्पद विरोध प्रदर्शन के दौरान क्षेत्राधिकार सम्बन्धी अनौचित्य के कुछ आरोपों पर उन्हे बर्खास्त कर दिया गया।

इसके पश्चात उन्होंने बैरिस्टर के रूप में अपना नाम दर्ज़ कराने का प्रयास किया किन्तु उसके लिए उन्हें अनुमति देने से इनकार कर दिया गया क्योंकि वे इम्पीरियल सिविल सर्विस (आई0सी0एस0) से बर्ख़ास्त किये गये थे। उनके लिए यह एक क़रारी चोट थी और उन्होंने महसूस किया कि एक भारतीय होने के नाते उन्हें यह सब भुगतना पड़ रहा है।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी 1875 में भारत वापस लौटकर मेट्रोपॉलिटन कॉलेज में अंग्रेजी प्रोफेसर के रूप में शिक्षण पेशे में कदम रखा और स्वयं को अगले 37 वर्षों तक शिक्षण कैरियर के लिए समर्पित कर दिया। इसी दौरान बनर्जी ने रिपन कॉलेज की स्थापना भी की जो अब उनके नाम से ही जाना जाता है। इन्होने अपने छात्रों में राष्ट्रवाद के विचारों को प्रज्वलित करने और जागृत करने के लिए कक्षा का उपयोग एक माध्यम के रूप में किया।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का राजनीतिक जीवन तब शुरू हुआ जब उन्होनें आनन्द मोहन बोस के साथ मिलकर 1876 ई0 में 'इंडियन एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की जो उस समय भारत की पहली राजनैतिक संस्था कहलायी। इस संस्था की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य अंग्रेजों के खिलाफ आन्दोलन के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को एकीकृत करना था। इस संस्था के बैनर तले सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने आई0सी0एस0 परीक्षाओं में बैठने के लिए भारतीयों की आयु सीमा की समस्या पर विस्तृत चर्चा की और देशव्यापी आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने अपने भाषणों में राष्ट्रवाद और उदारवादी राजनीति की पैरवी की। अंग्रेजों की नस्ल आधारित भेदभाव और वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम की बनर्जी ने देश भर में जम कर आलोचना की जिससे वे बहुत लोकप्रिय हुए। उनकी लोकप्रियता में उनकी शानदार वाकपटुता का भी बड़ा योगदान था।

1879 ई0 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने **'द बंगाली'** नाम का एक अखबार खरीद लिया जिसकी स्थापना गिरीश चन्द्र घोष द्वारा 1862 ई0 में की गई थी और उसके बाद अगले 40 सालों तक उसका संपादन किया। वह पहले भारतीय पत्रकार बने जिन्हे अपने अखबार में राष्ट्रवादी टिप्पणीयॉ प्रकाशित करने और अंग्रेजों का विरोध जताने के आरोप में 1883 ई0 में गिरफ्तार किया गया। इस तरह वे जेल जाने वाले पहले भारतीय पत्रकार बने। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय बनर्जी अग्रणी नेता थे और उन्होने अपनी संस्था का उसमें विलय करा दिया। कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बुलाने के लिए सूचना उनके तथा मिस्टर ए0ओ0 ह्यूम के नाम से जारी की गई थी। हालॉकि अपरिहार्य कारणों से वे 28 दिसम्बर से 30 दिसम्बर 1885 तक होने वाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्थापना अधिवेशन में प्रतिभाग नही कर सके। बंगाल प्रान्तीय विधानसभा के सदस्य के रूप में उन्होने काफी महत्वपूर्ण कार्य किये। वे 1895 में पूना और 1902 के अहमदाबाद अधिवेशन में कांग्रेस अध्यक्ष भी चुने गए थे।

1905 में बंगाल विभाजन के समय सुरेन्द्र नाथ बनर्जी एक अहम नेता के रूप में उभरकर सामने आये। उन्होने याचिकाओं, विरोध प्रदर्शनों और अपार सार्वजनिक समर्थन का आयोजन करके अग्रिम पॅक्ति से विरोध का नेतृत्व किया जिसके परिणामस्वरूप अन्ततः बंगाल विभाजन का फैसला ब्रिटिश सरकार को वापस लेना पड़ा। सुरेन्द्र बनर्जी ही वो शख्स थे, जो कि विदेशी वस्तुओं के खिलाफ भारत में निर्मित माल की वकालत करते थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को ब्रिटिश सरकार ने साल **1921 में "सर"** की उपाधि से नवाजा था। बनर्जी की सरपरस्ती में गोपाल कृष्ण गोखले और सरोजनी नायडू जैसे भारतीय नेता देश के परिदृश्य में उभरकर सामने आए। वे सबसे वरिष्ठ नरमपंथी कांग्रेस के तौर पर जाने जाते थे। वे जीवन भर नरमपंथी नेता बने रहे और मानते थे कि देश को बातचीत के जरिए ही अंग्रेजों से आजादी हासिल करनी चाहिए। कालान्तर में बनर्जी का राजनीतिक जीवन नरमपंथियों की गिरती प्रतिष्ठा से प्रभावित होने लगा और इसके बाद बनर्जी भारतीय राष्ट्रवादी धारा से अलग थलग होते दिखाई पडने लगे। 1909 में उन्होंने मार्ले–मिंटो सुधार का समर्थन किया जिसका एक बड़ा भारतीय आबादी और नेताओं ने मजाक उड़ाया और उसकी आलोचना की। कालान्तर में उन्होंने महात्मा गॉधी के असहयोग आंदोलन से सैद्धांतिक तौर पर असहमति जताई जिससे वे और हाशिए पर चले गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस छोड़ दी। इसके बाद बंगाल सरकार में मंत्री पद अपनाने पर उन्हें बहुत विरोध का सामना भी करना पड़ा। अन्ततः 6 अगस्त 1925 को बैरकपुर में उनका निधन हो गया। मृत्यु से पहले उन्होने 1925 ई0 में अपनी **आत्मकथा 'एक राष्ट्र का निर्माण'** लिखी थी।

स्पष्ट है वह उदारवाद और राष्ट्रवाद के विचार को आगे बढ़ाने वाले शुरूआती नेताओं में से एक थे। वह एक महान व्यक्ति, देश–प्रेमी और उत्कृष्ट वक्ता थे। उनकी वाक्शक्ति के बारे में सर हेनरी काटन ने लिखा है कि उनकी वाणी में किसी विप्लव को प्रारंभ करने और दबाने की शक्ति थी। अपने तर्कपूर्ण भाषणों और वक्तव्यों के कारण ही वे 'भारतीय ग्लैडस्टोन' तथा 'भारतीय बर्क' के नाम से विख्यात है। वे भारतीय राष्ट्रवाद के अग्रदूत, कांग्रेस के संस्थापक सदस्य और वैधानिक आन्दोलन के जन्मदाता थे। राजनीतिक जीवन में कुछ अवांछनीय निर्णयों के बावजूद देश के नवयुवकों में क्रान्तिकारी

विचार भरने तथा भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को उनके नेतृत्व के लिए याद किया जाता है।

फिरोज शाह मेहता (Firoz Shah Mehta) 1845-1915:

1857 की क्रान्ति की समाप्ति के बाद से अंग्रेज भारतीयों के असंतोष पर बहुत ध्यान देने लगे थे। इसके लिए उन्होंने भारतीयों के अपने तंत्र में शामिल करने की नीति भी अपनाई थी। इस सब के बीच भारतीय नेतृत्व के रूप मे बहुत से नेताओं का उदय हुआ जिन्होंने भारतीयों की समस्याओं को अंग्रेजों के बीच रखना शुरू किया और उनके समाधान के प्रयास भी किए। ऐसे ही लोगों में से एक लोकप्रिय नाम फिरोशाह मेहता का था। फिरोजशाह मेहता एक राजनेता, एक निर्भीक वकील और एक समाज सेवक थे, जिन्होंने अपना पूरा जीवन केवल बंबई को ही नहीं पूरे देश को समर्पित कर दिया था। फिरोज शाह मेहता उन व्यक्तियों में से थे, जिनका सम्पर्क कांग्रेस के साथ उसके प्रारंभ से ही रहा। कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण रूप से योगदान रहा है।

Firoz shah Mehta

प्रारंभिक जीवन –

फिरोजशाह मेहता का जन्म 4 अगस्त 1845 को मुंबई के एक मशहूर पारसी परिवार में हुआ था। एक संपन्न परिवार में पैदा होने की वजह से उनकी परिवरिश काफी अच्छी हुई थी। उन्होंने मुंबई से ही अपनी प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण की थी और मुंबई के एलफिंस्टन कॉलेज से ग्रेजुएशन की पढ़ाई पूरी की थी। साल 1864 ई0 में उन्होंने एम0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण किया और वे मुंबई से मास्टर्स करने वाले पहले व्यक्ति बने। इसके बाद वे कानून की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड चले गए और 1868 में कानून की डिग्री हासिल कर भारत वापस आ गए। फिरोजशाह मेहता जब अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद वापस भारत लौटे तो उन्होंने वकालत का प्रशिक्षण लेना शुरु कर दिया। इस दौरान उन्होंने मुंबई के नगरपालिका में सुधार की जरूरत को महसूस किया और इसी के चलते उन्होंने नगरपालिका को पुनर्निर्मित करने का फैसला लिया और इसकी रुपरेखा तैयार कर इसका प्रस्ताव रखा। फिरोजशाह मेहता के अभूतपूर्व प्रयासों के बाद साल 1872 में मुंबई नगरपालिका एक्ट लागू किया गया, जिसकी वजह से वे बंबई स्थानीय शासन के जनक कहलाए। इसके बाद वे आयुक्त के पद पर नियुक्त हुए। फिर उनका रुझान राजनीति की तरफ बढ़ा और इसके लिए उन्होंने वकालत छोड़ दी।

फिरोजशाह मेहता साल 1893 ई0 में गवर्नर–जनरल की सर्वोच्च विधान परिषद के लिए नियुक्त किए गए। 1890 ई0 में कलकत्ता में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के छठे अधिवेशन की अध्यक्षता की जिसमें सभापति पद से दिये गये अपने भाषण में इन्होंने लॉर्ड सेसलवरी के इस विचार का खण्डन किया कि– "प्रतिनिधि–शासन पूर्वी परम्पराओं अथवा पूरब निवासियों की मनःस्थिति के अनुकूल नहीं है" और अपनी बात की पुष्टि में मि० चिसहाम एन्स्टे का यह उद्धरण पेश किया कि "स्थानिक स्वराज्य का जनक तो पूर्व ही है; क्योंकि स्व–शासन का अधिक–से–अधिक विस्तृत जो अर्थ हो सकता है, उस रूप में वह प्रारम्भ से ही यहां मौजूद रहा है।" फिरोजशाह ने कहा, "निस्सन्देह कांग्रेस जन–साधारण की संस्था नहीं है, लेकिन जन–साधारण के शिक्षित वर्ग का यह फर्ज है कि वह जनसाधारण की तकलीफों को सामने लाये और उन्हें दूर कराने के उपाय सुझावे।"

सर फीरोजशाह मेहता की राजनीतिक मनोवृत्ति

भारत और ब्रिटिश शासन के मधुर सम्बन्धों के पोषक सर फीरोजशाह मेहता भारत को समस्त दृष्टि से उत्कर्ष तक पहुँचाने का स्वप्न रखते थे और उसकी पूर्ति के लिए वो अन्य उदारवादी विचारधारा के, यथा–महादेव रानाडे, दादा भाई नौरोजी की तरह ही भारत के ब्रिटिश शासन के मधुर सम्बन्ध बनाए रखने के समर्थक थे। उनका कहना था कि ब्रिटिश राज को विवशात्मक आन्दोलन के द्वारा उखाड़ फेंकने की बजाए उसे एक ईश्वरीय आशीर्वाद मानकर स्वीकार करना चाहिए। वास्तविक सच यह भी था कि ब्रिटिश राज सशस्त्रों पर आधारित नहीं था। अंग्रेजी शासक बुद्धिवादी एवं न्यायप्रिय हुआ करते थे । इलबर्ट बिल (Ilbert Bill) के सम्बन्ध में दिए गए वक्तव्य से उनकी मानसिकता ब्रिटिश शासकों को समन्वित रखने के दृष्टिकोण का खुलासा करती है– "मेरा प्रबल विश्वास है कि यह भारत देश ब्रिटिश शासन के अधीन होकर एक ऐसे राष्ट्र के हाथों में आ गया है जो उस पर बुद्धिमता एवं कुशलता के साथ शासन करने की दृष्टि से किसी भी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा अधिक योग्य है। संसार के जितने भी बड़े–बड़े राष्ट्र हैं उन पर दृष्टिगत होने पर निष्कर्ष स्वरूप हमें यही प्राप्त होगा कि कोई भी अन्य राष्ट्र अपने गुणों अथवा अवगुणों के आधार पर उस देश को सच्ची प्रगति और समृद्धि के मार्ग पर संचालित करने के लिए उतना योग्य नहीं है जितना कि इंग्लैण्ड है।" 1

सर फीरोजशाह मेहता सम्पूर्ण प्रजा के लिए समानता और न्याय की नीति पर आधारित ब्रिटिश शासकों को श्रेष्ठ एवं लम्बी सोच का परिणाम मानते थे। मेहता अंग्रेजों की पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा, सदाशयता और दूरदर्शितापूर्ण कार्यशैली में विश्वास रखते थे। कलकत्ता अधिवेशन में सन् 1890 में अध्यक्ष के पद पर स्थित होकर उन्होंने अपने भाषण में कहा था – "यह सम्भव हो कि भारतीयों को अंग्रेजों की सज्जनता के प्रति सन्देह हो और भले ही वे उनका उग्र विरोध भी करें, किन्तु वास्तविकता यह है कि इसके बाद भी अंग्रेज भारतीयों के प्रति उदार भावना प्रदर्शित करेंगे।"

संवैधानिक उपायों में दृढ़ आस्था–

सर फीरोजशाह मेहता कानून के ज्ञाता एवं विप्लवकारी षड्यन्त्रकारी उपायों से परे संवैधानिक उपायों के समर्थक थे। वे उदारवादी भारतीय चिन्तन के प्रवक्ता थे। दमनकारी नीति या पशु बल उन्हें किसी भी परिस्थिति में अच्छा नहीं लगता था। दादा भाई नौरोजी

और टी0 एच0 ग्रीन को आदर्श स्वरूप मानने वाले सर फीरोजशाह मेहता आदर्श, प्रेम संकल्प, सद्भावनापूर्ण राजनीति के स्वरूप पर विश्वास करते थे। स्वाभाविक रूप से भारतीयों में पनपने वाले राष्ट्रवाद के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। वे राजनीतिक शक्ति को कठोर साधनों द्वारा सुदृढ़ बनाने के हिमायती नहीं थे अपितु उनके लिए तो राजनीतिक शक्ति का वास्तविक बल शान्तिपूर्ण निर्णय शक्ति, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार एवं विवेक बुद्धि था; जिससे राजनीतिक कारकों में निखार आता था। सर फीरोजशाह मेहता राजनीतिक शक्ति का वास्तविक आधार नैतिकता को मानते थे और कोई भी सरकार अन्ततोगत्वा जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं पर ही निर्भर रह सकती है, जो सरकार दमनकारी नीति एवं पशुवल या बर्बर साधनों से जन इच्छा का विरोध करके शक्ति और भय द्वारा स्थायित्व चाहती है उनका पतन निश्चित है। इस तरह के शासकों का अन्त भी शीघ्र ही होता है। वे इस बात के भयंकर विरोधी थे कि अधीनस्थ राज्य अथवा औपनिवेशिक जनता के प्रति साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा शक्ति प्रयोग किया जाए। इस तरह की नीति उपनिवेश की जनता के लिए एवं शासन दोनों के लिए पूर्ण रूप से घातक है। सन् 1883 ई0 में अपने भाषणों में ब्रिटिश सरकार को शक्ति नीति के तीन तत्त्वों से बचे रहने के सुझाव देते हुए उन्होंने कहा था –

1. यूरोपीय जटिल परिस्थितियों के दौरान इंग्लैण्ड द्वारा भारत में सैन्य शक्ति से शासन करना उनके स्वयं के लिए घातक एवं विनाशकारक सिद्ध होगा।
2. अनिवार्य रूप से शक्ति नीति के पालन करने से हमेशा ब्रिटिश फौजों और ब्रिटिश नागरिक सेवाओं की आवश्यकता में वृद्धि होती रहेगी जिसके फलस्वरूप पुनः अंग्रेजों के अपने देश में लौटने पर स्वतन्त्रता एवं संवैधानिक उपायों के प्रति असहिष्णुता पैदा हो जायेगी।
3. शक्ति की बर्बर नीति के पालन करने से भारत के साधनों का निष्कासन एवं शोषण द्रुतगति से होता रहेगा, जिससे ब्रिटिश फौजों एवं नागरिक सेवाओं का खर्च चलाया जायेगा और इसके परिणामस्वरूप देश अपने प्राकृतिक संसाधनों के लाभों से वंचित होगा जिससे भौतिक लाभ नहीं हो पायेगा। इस प्रकार गरीब और कमजोर बनाया हुआ भारत अंग्रेज व्यापारियों को कुछ दे पाने में सक्षम नहीं हो सकेगा। इसके पश्चात् उस ब्रिटिश वाणिज्यिक उपक्रम को, जो ब्रिटिश सैनिक उपक्रम से कहीं अधिक गौरवशाली रहा है, समान दर्जे और समान प्रकृति का गौरवशाली प्रकृति का क्षेत्र कहीं मिल सकेगा।

सर फीरोजशाह मेहता संसदीय प्रणाली में अपनी दृढ़ आस्था एवं श्रद्धा रखते थे। उन्होंने संसदीय प्रणाली को आध्यात्मिक शासन प्रणाली की अपेक्षा श्रेष्ठतर समझा क्योंकि उनका मानना था कि कार्यपालिका को विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। संवैधानिक विश्वास उनकी जीवन शैली रहा। स्वाभाविक रूप से वे परम्परावादी थे, आकस्मिक और अहिंसात्मक परिवर्तनों के स्थान पर क्रमिक तथा व्यवस्थित प्रगति में उनका विश्वास था। उन्होंने हमेशा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सदैव संवैधानिक साधनों के प्रयोग का ही समर्थन किया है।

मानवीय अधिकारों, स्थानीय स्वशासन एवं शिक्षा के समर्थक –

सर फीरोजशाह मेहता स्थानीय स्वशासन एवं मानवीय अधिकारों के अनन्य उपासक थे। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास रखने के फलस्वरूप उन्होंने देशवासियों को हर पल अपने अधिकारों के प्रति जागरुक रहने एवं संवैधानिक उपायों से उसे प्राप्त करने के प्रयास की ओर उन्मुख किया। ब्रिटिश शासन की श्रेष्ठता, सर्वोच्चता, न्यायप्रियता एवं चारित्रिक उत्कर्ष के ढोल पीटने के बावजूद भी यथासम्भव जहाँ भी उत्पीड़न और अन्याय दृष्टिगोचर हुआ, निर्भयता से मुकाबला किया। उनके विरोधों में मर्यादित शक्ति होती थी जिसमें क्रान्ति या शस्त्र बल प्रयोग नहीं होता था। नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए वे हमेशा प्रयत्नरत रहे। आर्म्स एक्ट, प्रेस एक्ट जैसे प्रतिक्रियावादी कानूनों का कड़ा विरोध एवं इलबर्ट बिल का स्वागत करना उनकी नागरिक सुरक्षा के अधिकारों के गन्तव्य को स्पष्ट करती है। इलबर्ट बिल सम्बन्धी विवाद में उन्होंने अपने उदारवादी, तार्किक और न्याय भावना को जाग्रत करने वाले भाषण से राजनीतिक क्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था। मुम्बई निगम में रहते हुए स्थानीय निकायों में सामान्य निर्वाचन सिद्धान्त को अपनाने पर बल देते हुए उन्होंने अपने दृढ़ शब्दों में विश्वास व्यक्त किया– "कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।" सच्ची उदारवादिता के प्रतीक फीरोजशाह मेहता सरकार द्वारा किये गये सुधारों का अधिकतम उपयोग करते थे और अनवरत अधिक से अधिक सुधार पाने की दिशा में तत्पर रहते थे। मानवीय अधिकारों, स्थानीय स्वशासन एवं श्रेष्ठता को अपनाने वाले उदारवादी विचारधारा के शीर्षस्थ व्यक्तित्व सर फीरोजशाह मेहता राजनीतिक पुनर्जागरण के लिए शिक्षा को अत्यधिक आवश्यक मानते थे।

फीरोजशाह मेहता का विचार था कि समुचित शिक्षा के बगैर राजनीतिक ही नहीं, मानवीय जीवन का हर पहलू व्यर्थ है। उसके अभाव में रचनात्मक जीवन के प्रारंभ की कल्पना भी बेमानी है। मस्तिष्क की स्वतन्त्रता और बुद्धि का विकास किसी भी नागरिक की अमूल्य सम्पत्ति है। ब्रिटिश शासकों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में अपनाये गये साधनों से सर फीरोजशाह मेहता पूर्णतः सन्तुष्ट थे। उनका विश्वास यह था कि भारतीयों के जीवन में सार्वजनिक एवं वैयक्तिक दायित्व तथा वफादारी के उच्च आदर्शों का समावेश केवल शिक्षा के द्वारा ही किया जाना सम्भव है, लेकिन उनकी बौद्धिक प्रेरणा का स्रोत पश्चिमी संस्कृति थी। इसलिए उनका पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति की दम पर भारत का पुनरुद्धार करने का स्वप्न देशभक्ति के गौरव के अनुकूल नहीं था। सर फीरोजशाह मेहता शिक्षा में भी प्रारंभिक शिक्षा की अपेक्षा उच्च शिक्षा के समर्थक थे। मेहता शिक्षा प्रणाली के अन्तर्निहित दोषों से पूर्णतः परिचित थे फिर वे शिक्षा में अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण के विरुद्ध थे। नैतिकता के विचारों को उत्पादित करने के लिए वे इतिहास और साहित्य के नियमित अध्ययन को अत्यावश्यक मानते थे। शिक्षा के अनन्य उपासक मेहता जनसाधारण के दुःखों एवं कष्टों के प्रति व्यापक सहानुभूति रखते थे। उनकी आकांक्षा रहती थी कि काँग्रेस जनसाधारण के कष्टों को समझे और प्रकाशित कर उनका निराकरण करें। यद्यपि आलोचक काँग्रेस को राजद्रोही मानते थे पर यह पूर्णतः केवल कल्पना सी प्रतीत होती थी क्योंकि स्वयं फीरोजशाह मेहता अपने आपको अंग्रेजी शिक्षा, संस्कृति और सिद्धान्तों का उपासक मानते थे। वे मानते थे कि परिस्थितिवश भले ही काँग्रेस जनसाधारण से सम्बद्ध न हो पाये, लेकिन उसके शिक्षित वर्ग के नेताओं का यह

दायित्व है कि वह जनसाधारण की तकलीफों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करे और यथासम्भव उनसे निजात दिलाने का प्रयास करे। वास्तविक तथ्यों के अनुसार सर फीरोजशाह मेहता जीवनपर्यन्त जनसाधारण की आशाओं के आधार–स्तम्भ रहे।

फिरोजशाह मेहता, आजादी के महानायक माने जाने वाले महात्मा गॉधी जी के विचारों से काफी प्रभावित थे। एवं उग्रवाद अर्थात गरमपंथी विचारधारा को देश की स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा मानते थे। उन्होंने आर्म्स एक्ट, प्रेस एक्ट, पशु बलि आदि का कड़ा विरोध किया था और किसानों को उनके अधिकार दिलवाने के लिए काफी प्रयास किए थे। उन्होंने भारतीयों को सामाजिक और राजनीतिक विचारों का बोध करवाने के लिए शिक्षा के प्रचार–प्रचार पर काफी जोर दिया था। इसके अलावा फिरोज शाह मेहता ने बम्बई से अंग्रेजी दैनिक पत्र 'बाम्बे क्रॉनिकल' के प्रकाशन की शुरुआत की थी, इसके दैनिक मैग्जीन के माध्यम से भारतीयों को अपने अधिकारों के लिए अहिंसात्मक तरीके से लड़ने के लिए प्रेरित किया था। उनके इस पत्र का स्वतंत्रता संग्राम में काफी बड़ा योगदान रहा था। इस प्रकार उनके द्वारा देश की आजादी के लिए दिए गए योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता है।

उग्र राष्ट्रवाद (1906–1918) का उदय और विकास
Rise and Development of Radical Nationalism

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विभिन्न झंझावातों का सामना करता हुआ आगे बढ़ता रहा और 1905 ई0 तक उस पर उदारवादी और नरम नीति के विचारकों का आधिपत्य बना रहा। इसके बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में विचारधाराएँ बदलने लगीं और 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस की कतारों से ही एक नये और युवा दल का उदय हुआ जो पुराने उदारवादियों के आदर्श और 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति का आलोचक था। इन उग्र नेताओं को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में कोई विश्वास नही था और इनका मानना था कि स्वराज्य मॉगने से नही बल्कि संघर्ष करने से ही प्राप्त होगा। इस दल को इतिहास में 'उग्रवादी' या गरमपंथी कहा गया है क्योंकि वे संघर्ष द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते थे।

यद्यपि 1905 ई0 के बाद भी उदारवादी विचारधारा का प्रभाव कायम रहा, लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्त में और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसी निराशाजनक घटनाएँ घटीं जिससे उदारवादी विचारधाराओं के प्रति असन्तोष बढ़ता गया। उदारवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और नरम वैधानिक साधनों के स्थान पर उग्र साधनों को अपनाये जाने पर बल दिया जाने लगा और इस समय से ही उग्रवाद का प्रारम्भ हुआ। उग्रवाद शब्द (Radicalism) के प्रयोग की प्रारम्भिक अवस्था के समय का विश्लेषण करते हुए लोकमान्य तिलक, जो स्वयं भी एक गरमपंथी नेता थे, ने कहा – "हमारी नीतियों के सन्दर्भ से दो नए शब्द हाल ही में अस्तित्व में आये हैं, वे हैं– नरमपंथी (Moderate) और उग्रवादी (Extremist)। इन शब्दों का समय के साथ विशिष्ट सम्बन्ध है अतः समय के अनुसार ही इनमें परिवर्तन आता जायेगा। आज के गरमपंथी कल नरमपंथी बन जायेंगे। ठीक उसी प्रकार आज के नरमपंथी कल गरमपंथी थे। उग्रवाद या गरमपंथी विचारधारा से तात्पर्य उन लोगों के राजनीतिक दर्शन से है जो भारत में 20वीं शताब्दी के आरम्भ में गरमपंथी समझे जाते थे। इन गरमपंथियों में लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल और अन्य उनके समर्थक थे। सन् 1916 से 1918 की अवधि में श्रीमती एनीबेसेन्ट और इण्डियन होमरूल में उनके सहयोगी भी सरकार तथा उदारवादी नेताओं द्वारा गरमपंथी ही माने जाते थे।

गरमपंथ या उग्र राष्ट्रवाद का प्रारम्भ :

1885 से लेकर 1905 ई0 तक भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख अनेक मॉंगें रखी परन्तु उन मॉंगों पर ब्रिटिश सरकार ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। कांग्रेस नेतृत्व की आवेदन निवेदन की नीति की असफलता ने देश के अंदर और खुद कांग्रेस के अंदर असंतोष पैदा किया। 20वीं सदी के आरंभ में यह असंतोष काफ़ी फैल गया। लोगों ने स्पष्ट रूप से देखा कि सिर्फ़ आवेदन–निवेदन और ब्रिटेन में प्रचार से कुछ होने वाला नहीं हैं, खासकर देश के अंदर कुछ किए बग़ैर ब्रिटिश शासकों से कुछ मिलने वाला नहीं। जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई उनसे कई नेता उभरकर सामने आए जिनकी मॉंगें आमूल परिवर्तन के साथ–साथ उग्र थीं। इस वजह से राष्ट्रीय आंदोलन में

गरमपंथ अथवा उग्रवाद का जन्म हुआ और इसके समर्थकं गरमपंथी अथवा उग्रवादी कहलाए। वस्तुतः इस दौर में कांग्रेस जिस रास्ते पर चल रही थी उसकी आलोचना काफ़ी पहले शुरू हो गई थी। 1893 ई0 में अरविंद घोष ने अपना नाम दिए बिना बम्बई से प्रकाशित 'इंदु प्रकाश' में कई लेख लिखकर कांग्रेस की नीति की कड़ी आलोचना की।

इस प्रकार कांग्रेस के ही कई नेताओं जैसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय का काँग्रेस की नीतियों से मतभेद उत्पन्न हो गया। 1885–1905 ई0 तक काँग्रेस में दादा भाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और रमेशचन्द्र दत्त जैसे नेताओं का आधिपत्य था। ये सभी नेता संवैधानिक नियमों और अंग्रेजों को ईश्वरीय स्वरूप मानने में विश्वास रखते थे, लेकिन इन सब बातों का तरीका लाला लाजपत राय एवं बाल गंगाधर तिलक को रास नहीं आया। इसकी वास्तविक स्थिति को अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए इतिहासकार डॉ0 ताराचन्द लिखते हैं– "सरकारी विरोध तथा घृणा से अविचलित होकर राजनीतिक आन्दोलन जोर पकड़ता और बढ़ता चला गया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस हर साल अधिवेशनों के माध्यम से जुड़ती रही और सरकार की आधारभूत त्रुटियों और सामयिक गलतियों पर लोगों का ध्यान आकृष्ट करती रही। प्रान्तों में राजनैतिक सम्मेलन होते थे और कांग्रेस के प्रस्तावों को दोहराया जाता था। भारत में सर्वत्र संस्थाओं की ओर से सभाएँ होती थीं और सरकार की आलोचना की जाती थी। अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं के पत्र राष्ट्रीय नेताओं के विचारों का प्रचार करते थे। राजनीतिक साहित्य बराबर छपता और देश में बाढ़ की तरह फैलता रहा, साथ ही बहुत से राजनीतिक कार्यकर्ता छोटी या बड़ी सभाओं में भाषण देकर जनता की राजनीतिक जागृति को बढ़ाते थे।"

इस प्रकार जब हालात में काफी उथल–पुथल थी तब सरकार के रुख से निराश होकर मिस्टर ए0 ओ0 ह्यूम ने राष्ट्र से यह अपील की थी कि – "प्रत्येक भारतीय जो हमारी मातृभूमि पर साँस लेता हैं, हमारा साथी, हमारा सहकर्मी, हमारा समर्थक बने और यदि जरूरत पड़े तो वह उस युद्ध में हमारा सैनिक भी बन जाए।" इस प्रकार से काँग्रेस के सौम्य तरीकों की सीमाओं से निकलकर देश भर में राजनीतिक आन्दोलन करने का विचार फैला। इस कार्य की शुरूआत ए0 ओ0 ह्यूम ने की अवश्य, लेकिन इसका फायदा लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, अरविन्द घोष जैसे नेताओं ने उठाया। उस दौरान प्रचलित धीमी एवं मर्यादित राजनैतिक विचारधारा से, जिसमें सभी नेता उच्च वर्गों के व्यक्ति और पेशेवर वर्ग के सफल व्यक्ति थे, इसके बावजूद तिलक आदि नेताओं को इसकी कार्य–प्रणाली पसन्द नहीं आई। वे कॉग्रेस की आवेदन–निवेदन वाली नीति के विरुद्ध थे और उन्होंने इच्छा जाहिर की कि सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन के तरीके अपनाएँ जाएँ। इन नेताओं ने विधान परिषदों के विस्तार और भारत और इंग्लैण्ड में एक साथ होने वाली परीक्षाओं को हाथ की सफाई बतलाया। उन्होंने चेतावनी भी दी– "अंग्रेजी राज्य के दुर्ग की दीवारें अभी फटी नहीं है और गरीबी की काली छाया दिन प्रतिदिन देश पर फैलती जा रही है।"

काँग्रेस के सिद्धान्तों से उग्रवादी सहमत नहीं थे। उन्होंने इसे एक मध्यमवर्गीय स्वार्थी सार्वजनिक कार्य में भोली तथा निःस्वार्थ देशभक्ति का खोखला दावा करने वाली संस्था

माना था। इसी सम्बन्ध में उनके विचारों से असहमत होते हुए अरविन्द घोष ने कहा था – "यह कॉंग्रेस खिलौनों से खेलती है न कि गम्भीर प्रश्नों को लेकर या तथ्यों को समाहित रखती है। इसने अपने को, भारतीय जनता को, शक्तिशाली बनाने की कोई चेष्टा नहीं की। विशाल जनता के हृदय को छूने में ये असफल रही है। सर्वहारा वर्ग ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, सही और सफल नीति यही होगी कि देश की सारी शक्ति को जाग्रत किया जाय।" अरविन्द घोष की इस उक्ति को चरितार्थ करने में जनशक्ति के परिणाम तथा सामर्थ्य को बढ़ाने में भयंकर भूमिका का निर्वाह लाल, बाल, पाल ने मिलकर किया। भारत का असन्तोष हद तक बढ़ गया और लोगों में अपने आत्म–सम्मान, गौरव और अतीत की उत्कृष्टता की जागृति हो चुकी थी। स्वामी विवेकानन्द की विजय यात्राओं ने सिद्ध कर दिया था कि पश्चिमी देशों से कहीं अधिक पूर्वी देश श्रेष्ठ हैं और इस समय भारत के बाहर की स्थिति यह थी कि एक लम्बे अर्से से विश्व में निर्विवाद प्रभुत्व के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के सामने प्रतियोगी एवं प्रतिद्वन्द्वी आ खड़े हुए थे। सीधे शब्दों में इंग्लैण्ड के सामने चारों तरफ से प्रतिस्पर्धात्मक परिस्थिति बन चुकी थी। जर्मनी लगातार विदेशी उपनिवेशों का दावा कर रहा था जो ब्रिटिश साम्राज्य के लिए चुनौती था। इसी दौरान जापान सारे यूरोप के लिए खतरा बन चुका था। ऐसी भयानक परिस्थिति में उदारवादी विचारधारा के लोगों का प्रभुत्व समाप्त प्रायः हो गया था और नए भारतीय नेता गरमपंथी विचारधारा को लेकर भारत में प्रवेश कर गए थे जिनमें बाल गंगाधर तिलक सबसे प्रमुख थे, जिन्होंने अपनी युवावस्था में ही देश की सेवा में जीवन अर्पित करने का संकल्प कर लिया था। उग्रवादी नेताओं के सहयोग से उन्होंने एक विद्यालय और अंग्रेजी में 'मराठा' के नाम से और मराठी में 'केसरी' नाम से दो समाचारपत्र जनता को शिक्षा देने के लिए तथा जनमत को प्रस्तुत करने के लिए चलाए थे। इनके द्वारा समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता, सरकार की साम्राज्यवादी नीति एवं तरीकों की कटु आलोचना की जाती थी। सरकार के मुसलमानों को समर्थन दिए जाने की आशंका से 1893 ई0 में उनके द्वारा चलाया गया गौरक्षा आन्दोलन भी अत्यन्त प्रशंसनीय रहा।

उग्र राष्ट्रवाद के उदय के कारण :

गरमपंथी विचारधारा व राष्ट्रवाद का उदय विकृत परिस्थितियों में आकस्मिक रूप से हुआ था। उसके उदय मूल में निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं –

उदारवाद की असफलता–

कॉंग्रेस की स्थापना से सन् 1905 ई0 तक लगातार उदारवादियों का प्रभुत्व रहा, लेकिन प्रार्थना–याचना आदि के अपने वैधानिक और नरमपंथी साधनों से वे भारत के हित में कोई विशेष सफलताएँ अर्जित नहीं कर सके। शताब्दी की समाप्ति तक किसानों, मजदूरों और गाँव के सम्भ्रान्त लोगों के मन में असन्तोष और निराशा हरदम बढ़ती रही। सन् 1892 ई0 के अधिनियम के अन्तर्गत किये गए सुधार पूर्णतः अनुपयुक्त थे। कॉंग्रेस ने प्रतिवर्ष सुधार सम्बन्धी माँगों का प्रस्ताव पारित करना जारी रखा लेकिन सरकार ने इस अनुरोध की ओर कोई खास ध्यान ही नहीं दिया। अतः आश्चर्य नहीं कि उन नरमपंथी नेताओं की लोकप्रियता निरन्तर घटने लगी, जो सरकार से सुधार की प्रार्थना करते ही जा रहे थे। एक प्रकार से नरमदलीय राष्ट्रवाद में गतिरोध आ गया था। तार्किक नियम के अनुसार कोई भी स्थिति अथवा आन्दोलन गतिहीन नहीं रह सकता, या तो वह प्रगति

करता है या उसका अपकर्ष होता है। चूँकि नरम दल के नेता आन्दोलन को आगे नही ले जा पा रहे थे तो यह अवश्यंभावी था कि दूसरे लोग इस काम को अपने हाथ में ले और इस आगे बढ़ाएँ। इस प्रकार तुरन्त परिवर्तन चाहने वाले, शक्ति की दम पर, खुद की ताकत से सरकार बदलने वाले उग्र और गरमपंथीय नेताओं का उदय हुआ और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने दूसरे चरण में प्रवेश करने में सफल रही।

ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति–

पिछले 20 वर्षों में ब्रिटिश शासन ने अपनी प्रतिक्रियावादी नीति से भारतीयों को क्षुब्ध कर दिया। 1888–1894 ई0 तक लार्ड लैंसडाऊन ने ऐसे विधेयक पारित किये, जिससे मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयाँ आने लगी। 1894 से 1898 ई0 तक लार्ड एल्गिन का कार्यकाल था। उसने नौकरशाही और दमनकारी नीति से भारतीयों को कड़े विधानों के द्वारा परेशान किया और रोजमर्रा पर अनावश्यक व्यय बढ़ने लगा। कालान्तर में कलकत्ता कॉरपोरेशन कानून, भारतीय यूनिवर्सिटी एक्ट, आफिशियल सीक्रेट्स एक्ट आदि अनेक कानून बनाकर देश में असन्तोष की ज्वाला को और भड़का दिया गया। इन ब्रिटिश शासकों की क्रूर नीति से उदारवादी हार गए और गरमपंथी शक्ति का प्रारम्भ हुआ। इसके अलावा इसका दूसरा प्रमुख कारण इंग्लैण्ड के अनुदार दल का खराब शासन था। 1882 से 1902 ई0 तक अधिकांश समय तक इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री सैलिसवरी रहा लेकिन साम्राज्यवादी नीति रोकने में वह असफल रहा था। इसी तथ्य को प्रकाशित करते हुए आर0 सी0 दत्त लिखते हैं– "सैलिसवरी स्वयं साम्राज्यवादी नहीं था, परन्तु वह समयानुसार बदल जाता और उसमें विरोध करने की शक्ति नहीं रह जाती थी। लार्ड हेमिल्टन, जो कि लन्दन में भारत के कार्यालय का प्रधान था, भारत की ओर कोई सहानुभूति नहीं रखता था। 20 सितम्बर सन् 1899 ई0 को उसने लार्ड कर्जन को लिखे पत्र में व्यक्त किया था, मेरा विचार है कि शासन को वास्तविक खतरा अब नहीं, 50 वर्ष के पश्चात् होगा। यदि हम शिक्षित हिन्दू दल को दो भागों में बाँट सकते हैं जिनके परस्पर विरोधी विचार हों तो हमें इस प्रकार की फूट से अपनी सरकार की स्थिति सुदृढ़ करने में सहायता मिलेगी। इस दौरान ब्रिटिश सरकार भारत में आनेवाले अकाल, महामारी के प्रति उदासीन रही जिससे भारी असन्तोष भारतीय जनमानस में व्याप्त हो गया।

भारत की आर्थिक विषमता और शोषण –

अठारहवीं शताब्दी में भारत में अनेक कुटीर उद्योग, पारम्परिक व्यवसाय एवं कृषि जोरों पर थी, लेकिन अंग्रेजों ने भारत में आते ही देश को कंगाल बना दिया। भारत को कच्चा माल का केन्द्र और इंग्लैण्ड के निर्मित माल को बेचने का बडा बाजार बना दिया जिससे भारत की स्थिति दयनीय हो गई। सोने की चिड़िया का देश विनष्ट हो गया और इसके परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के अन्त तक भारतीयों को भीषण आर्थिक संकट, अकाल एवं महामारियों का सामना करना पड़ा, लेकिन ब्रिटिश शासन सहयोग करने में उत्साहहीन रहा। लाखों–करोड़ों लोग भूख से मरते रहे और अंग्रेज अनाज को विदेशों में भेजते रहे। इससे भारतीयों को स्वशासन की आवश्यकता महसूस हुई। इस दौरान उदारवादियों की प्रार्थनाएँ एवं आवेदनों पर मात्र उपहास किया गया। इससे नवयुवकों और नेताओं के एक वर्ग में विश्वास होने लगा कि सिर्फ अनुनय–विनय से ब्रिटिश शासन

पर दबाव नही बनाया जा सकता है अपितु इसके लिए कुछ कठोर कदम उठाने पड़ेंगे और हमें अपना स्वशासन छीनना होगा।

जातीय कटुता और नस्लीय भेदभाव –

ब्रिटिश उपनिवेशों के प्रवासी भारतीयों के साथ जिस प्रकारा से रंग के आधार पर भेदभाव किया जाता था, उससे भी भारतीय जनमानस में आक्रोश तेजी से फैला। उन्हें बर्बर यातनाएँ, असभ्य और अभद्र व्यवहार से लगातार पीड़ित किया जाता था। दक्षिण अफ्रीका में बैरिस्टर की डिग्री प्राप्त मोहन दास करमचंद गॉधी के साथ जिस प्रकार का भेदभाव और अपमानजनक व्यवहार किया गयाए उससे भारतवासियों में उत्तेजना बढ़ती गई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कई प्रस्ताव पारित कर भारतवासियों के प्रति किये जा रहे इस असमानता और भेदभाव की निन्दा की और ब्रिटिश सरकार से हस्तक्षेप करने का अनुरोध किया परन्तु इसका कोई प्रतिफल नही निकला। गॉधीजी ने स्वयं अपने प्रवास के दौरान दक्षिण अफ्रीका में शान्तिपूर्ण प्रतिरोध और सत्याग्रह आन्दोलन चलाया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय कुछ रियायतें पाने में सफल हुये। इससे भारतीय नेताओं को भी यह विश्वास हुआ कि अनुनय–विनय के मुकाबले आन्दोलन और संघर्ष के तरीके में अधिक ताकत है। अतः भारतीय नेताओं व युवकों का गरमपंथीय विचारधारा के प्रति झुकाव बढ़ता गया और भारत में उग्रपंथी विचारधारा का जन्म हुआ।

पारिस्थितिकी विषमता, अकाल और प्लेग का आतंक –

1894–1898 ई0 में लार्ड एल्गिन के शासनकाल में भारत के विभिन्न हिस्सों में भयंकर अकाल पड़ा, जिससे लाखों लोग मारे गए। इसका प्रभाव 70,000 वर्ग मील तक पड़ा और लगभग दो करोड़ लोगों की जाने चली गई। अकाल की छाया दूर ही नहीं थी कि पूना में बड़ा भारी प्लेग फैल गया। प्लेग को दूर करने के लिए सरकारी अधिकारियों ने जनता का कोई सहयोग नहीं दिया। बाल गंगाधर तिलक ने अपने समाचार पत्र 'केसरी' में अकाल और प्लेग की रोकथाम के नाकाफी सरकारी प्रयासों की कटु आलोचना की। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र के एक नवयुवक दामोदर हरि चापेकर ने भड़क कर पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड और उसके सहायक लेफ्टीनेट एम्हर्स्ट की हत्या कर दी। इस घटना के आरोप में चापेकर एवं उसके छोटे दो भाइयों को फॉसी की सजा दे दी गई और उस नवयुवक को भड़काने के आरोप में बालगंगाधर तिलक को 18 माह की सख्ती से कैद की सजा दी गई। इससे भारतीय जनता में ब्रिटिश सरकार के प्रति आक्रोश छा गया। तिलक की कैद पर सारा राष्ट्र रो रहा था। इस घटना से उदारवादियों की नीतियों को लेकर कांग्रेस के एक वर्ग में मतभेद बढता गया जो कालान्तर में गरमपंथ के उदय का कारण बना।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव –

भारत में गरमपंथी विचारधारा के उदय और विकास में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विश्व इतिहास में आधुनिक जापान का अभ्युदय एक बहुत बडी घटना साबित हुई। इस काल में जापान ने आद्यौगिक और सैनिक दृष्टि से अपने आप को अत्यधिक शक्तिशाली बनाने में सफलता अर्जित की। 1905 तक आते–आते एक छोटे से एशियाई देश जापान ने एक युरोपीय

देश रूस को जिस तरह पराजित किया, इससे यह मिथ्या भ्रम टूट गया कि युरोपीय और गोरी जाति के लोग अपराजेय है। इससे भारतवासियों में भी एक नई आशा का संचार हुआ कि वे भी ब्रिटिश शासन का समाप्त करने में सफल हो सकते है। एकबार हीन भावना से छुटकारा पाने के बाद भारतवासी विदेशी शासकों से लड़ने के लिए संघर्षपूर्ण मार्ग अपनाने की बात सोचने लगे। इस सन्दर्भ में 18 जून 1905 को करॉची क्रानिकल नामक अखबार ने लिखा – ''.....यदि जापान रूस की पिटाई कर सकता है, तो भारत भी उतनी ही आसानी से इंग्लैण्ड की पिटाई कर सकता है ..... हमें अंग्रेजों को समुद्र में धकेल देना चाहिए और जापान के साथ विश्व के महान देशों में अपनी जगह बनानी चाहिए।''

इसके अतिरिक्त आयरलैण्ड, चीन, मिस्र आदि देशों में चलने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलनों और दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध, 1899 के बाद भारत के युवाओं और कांग्रेस के बडे दल का यह विश्वास हो गया कि किसी भी देश के दृढ़ निश्चयी और संगठित लोग सबसे शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश को भी चुनौती दे सकते है। इन वैश्विक घटनाओं से भारतवासी भाग्यवादी सिद्धान्त का परित्याग करने और नए तरीकों और दिशाओं में सोचने के लिए उत्साहित हुये। इस प्रकार भारत में गरमपंथीय और उग्र राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

लार्ड कर्जन और बंगाल का विभाजन –

1899 से 1905 ई0 तक लार्ड कर्जन के शासनकाल में उसकी प्रतिक्रियावादी नीति और नौकरशाही ने भारतीयों को पूरी तरह झकझोर दिया और पुराने नेताओं की अनुनय–विनय की नीति के अस्तित्व को ठुकरा दिया। इसके फलस्वरूप भारतीयों में एक नये वर्ग का उदय हुआ जो हिंसक और उग्र नीति पर आधारित था। लार्ड कर्जन ने अन्याय की एक श्रृंखला में ऑफिसिएल सीक्रेट्स बिल पास कर भारतीयों को भड़का दिया। सन् 1899 ई0 में लार्ड कर्जन ने कलकत्ता निगम विधेयक पास करवाया जिससे नगर निगम की स्वतन्त्रता को नष्ट हो गयी और उसपर ब्रिटिश अधिकारियों का नियंत्रण बढ़ गया। 1904 ई0 में उसने यूनिवर्सिटी एक्ट बनाया जिससे यूनिवर्सिटी की आन्तरिक एकता की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी गई और उन पर सरकारी नियंत्रण स्थापित किया। उसकी सीमान्त नीति से भी जनता उसके प्रति क्रोधित हो उठी थी। फरवरी 1905 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी के दीक्षान्त समारोह में उसने कहा था – "सत्य का उच्च आदर्श अधिकतर पश्चिमी विचार है। इस आदर्श ने पहले पश्चिमी नैतिक परम्परा में उच्च स्थान लिया। इसके बाद यह आदर्श पूर्व में आया जहाँ पहले चारों ओर चालाकी एवं कुटिलता विद्यमान थी।" इस भाषण को सुनते ही भारतीय जनता में आक्रोश छा गया। इसके बाद बंगाल विभाजन, 1905 की घोषणा ने भारत में हिंसक और उग्र राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिला। लार्ड कर्जन के समय बंगाल के विभाजन के नाम पर हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालने का प्रयास कर भारतीय राष्ट्रवाद को बाधित करने का प्रयास किया गया। उसने पूर्व के मुसलमानों में यह प्रचारित किया कि बंगाल के बाँटने से पूर्वी बंगाल में उनका बहुमत हो जायेगा और उन पर हिन्दुओं की प्रधानता नहीं रहेगी। बंगाल विभाजन के इस निर्णय से भारतीय जनमानस में यह भावना पैदा हो गई कि एक प्रकारा से उन्हे अपमानित किया जा रहा है। इस चुनौती का सामना करने के लिए लोगों ने प्रतिज्ञा की

और सभा, प्रार्थनाओं की अपेक्षा बहिष्कार और स्वदेशी जैसे प्रभावशाली उपायो की आवश्यकता बताई, जिससे उग्रवाद और गरमपंथीय विचारधारा का उदय हुआ।

इन सभी कारणों का मिला–जुला परिणाम यह हुआ कि काँग्रेस के भीतर एक नवीन वर्ग का उदय हुआ जो गरमपंथी या उग्रवादी कहा जाने लगा। यह नवीन वर्ग सिर्फ प्राथनाओं, प्रस्तावों और अनुनय–विनय में यकीन नही करता था अपितु यह विरोध और बहिष्कार जैसे साधनों को अपनाने पर बल देने लगा। बंगाल विभाजन के निर्णय के बाद कांग्रेस के भीतर का यह मतभेद उभरकर सामने आने लगा और उदारवादियों और गरमपंथियों के बीच विचारधाराओं का अन्तर और बढ़ गया। 1905 ई0 में काँग्रेस के बनारस अधिवेशन में लाला लाजपत राय ने भारतीयों का स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष का आह्वान किया। प्रिन्स ऑफ वेल्स का भारत भ्रमण 1906 में प्रस्तावित था और ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा थी कि शाही मेहमान का गर्मजोशी से स्वागत किया जाय और ऐसा करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रस्ताव पास करे। किन्तु बंगाल के प्रतिनिधि और गरमपंथी लोग इसके विरूद्ध थे। फिर भी बंगाल के प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में यह प्रस्ताव पास कर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप दोनों गुटों के बीच वैमनस्य और दरार अत्यधिक बढ़ गया। बनारस अधिवेशन के सभापति गोपाल कृष्ण गोखले ने यद्यपि बंगाल विभाजन की निन्दा की और स्वदेशी आन्दोलन का अनुमोदन किया परन्तु बाल गंगाधर तिलक के इस सुझाव को नही माना जिसमें यह कहा गया था कि एक प्रस्ताव पास करके सरकार के विरूद्ध शान्तिपूर्ण प्रतिरोध करने की अनुमति दी जाय। सन् 1906 ई0 में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उदारवादी व उग्रवादी दलों में मतभेद और उग्र हो गया। कांग्रेस अध्यक्ष पद की उम्मीदवारी के प्रश्न पर दोनो गुटों के आपसी सम्बन्ध और भी बिगड गये। हालॉकि दादाभाई नौरोजी के नाम पर समझौता हो जाने से स्थिति सॅभल गई किन्तु इससे यह संकेत अवश्य मिला कि गरमपंथियों की ताकत बढ़ रही थी। दोनों गुटों के बीच हुई यह सुलह ज्यादा दिन कायम नहीं रही और अगले वर्ष 1907 ई0 में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में काँग्रेस संगठन दो दलों – उदारवादी और उग्रवादी में स्पष्टतः विभाजित हो गया। इस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में उग्रवादी विचारधारा के नेताओं ने स्वराज्य, राष्ट्रीय शिक्षा और बहिष्कार सम्बन्धी प्रस्तावों के पास किए जाने का आग्रह किया लेकिन उदारवादियों ने उग्रवादियों का विरोध किया। इसके फलस्वरूप आपसी मतभेद की सीमा टूट जाने से उग्रवादी काँग्रेस से बाहर निकाल दिए गए और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहली बार औपचारिक विभाजन हुआ।

उग्र राष्ट्रवादियों की नीति और कार्यक्रम :

उग राष्ट्रवादियों का उद्देश्य पूर्ण स्वशासन एवं स्वराज्य की प्राप्ति था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कें शब्दों में – "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" उग्र राष्ट्रवादी चाहते थे कि भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के आधार पर ही शासन एवं संस्थाओं का निर्माण हो। उदारवादी विचारधारा को निरर्थक प्रयास मानते हुए वे सक्रिय विरोध की नीति अपना कर भारत के लिए स्वतन्त्रता पूर्ण राष्ट्रीय सरकार की स्थापना को उत्सुक थे। उग्र राष्ट्रवादियों के लिए स्वराज्य केवल राजनीतिक ही नहीं बल्कि नैतिक और धार्मिक आवश्यकता थी और इसे प्राप्त करना उनका सर्वोपरि एवं पवित्र लक्ष्य था। उग्र राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सक्रिय विरोध पर बल दिया। उदारवादियों के प्रतिकूल उग्र राष्ट्रवादियों का मानना था कि भारत और ब्रिटेन के

हितों में एक दुश्मन जैसी विरोधाभासी सम्बद्धता है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने के मार्ग पर चलकर भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता था। उग्र राष्ट्रवादियों की दृष्टि में ब्रिटिश शासन प्रतिगामी था, जिसका खुला विरोध करना अनिवार्य था और राजनीतिक भिक्षावृत्ति और अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर रहने के बजाए वे अपनी स्वयं की शक्ति एवं साहस पर विश्वास करते थे।

विरोध और अवज्ञा पर बल –

उग्रवादियों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोध अथवा अवज्ञा की नीति का प्रचार–प्रसार किया। लोकमान्य तिलक का मानना था कि – "राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा।" उदारवादी सोचते थे कि यह अधिकार समझाने–बुझाने से ही प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन उग्र राष्ट्रवादियों का विश्वास था कि ये बिना दबाव प्राप्त हो ही नहीं सकते। वे स्वराज्य के स्वतः दान करने की बातों में विश्वास नहीं करते थे । वे जनमत को जागृत कर तीव्र राजनीतिक आन्दोलन के माध्यम से विदेशी हुकूमत पर अधिक से अधिक दबाव डालकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति में विश्वास करते थे। उनकी पद्धति थी– मातृभूमि के लिए देशवासी कष्ट सहन करें, त्याग करें और आत्मनिर्भरता के सहारे अधिकारपूर्वक अपने हकों को प्राप्त करें। विपिनचन्द्र पाल ने अपने संदेश में कहा था कि – "हमें अपने राष्ट्र की शक्तियों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि जो शक्ति हमारे विरुद्ध हो वह हमारे समक्ष झुकने के लिए बाध्य हो जाए।" लोकमान्य तिलक ने ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग का निषेध करते हुए घोषणा की थी कि विदेशी शासन एक अभिशाप है और नौकरशाही की नींव हिलाने के लिए आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र कार्य करने की आवश्यकता है।

स्वदेशी और स्वराज्य सम्बन्धी विचार का अभ्युदय –

उग्र राष्ट्रवादियों ने यह अनुभव किया कि आजादी उपहार के रूप में मिलने वाली नहीं है, अपितु उसके लिए कठिन और लम्बा संघर्ष करना पड़ेगा। यद्यपि उदारवादियों ने भी स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया था किन्तु स्वदेशी आन्दोलन के प्रति इन दोनों गुटों के दृष्टिकोण में अन्तर था। जहॉ उदारवादी स्वदेशी आन्दोलन को केवल ऐसा माध्यम समझते थे जिसके द्वारा अंग्रेजों पर दबाव डाला जा सकता था वहीं उग्र राष्ट्रवादियों की दृष्टि में स्वदेशी आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन था जिसके द्वारा भारतीय शिल्प को पुनर्जिवित किया जा सकता था और जो भारत के प्राचीन मूल्यों के अनुरूप तथा भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल था। इस अनुभूति के फलस्वरूप भारत के राष्ट्रवादियों में आत्मविश्वास की भावना पैदा हुई। उनकी दृष्टि में यह अत्यंत आवश्यक था कि भारतवासियों के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति गर्व की भावना पैदा की जाए और अँग्रेज़ों द्वारा अपनी सांस्कृतिक मान्यताएँ लादने की नीति की निंदा की जाए क्योंकि यह नीति उपनिवेशों में रहने वाली जनता को गुलाम बनाकर रखने के विशेष उद्देश्य से अपनाई गई थी। एक प्रकार से उग्र राष्ट्रवादियों ने बाल गंगाधर तिलक, बिपिन चंद्र पाल, अरविंन्द घोष तथा लाला लाजपत राय के नेतृत्व में जन–विद्रोह का आह्वान करके संघर्षात्मक राष्ट्रवाद को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। 8 जून, 1906 को शिवाजी महोत्सव पर कलकत्ता में दिए गए अपने भाषण में तिलक ने कहा था कि – "इस समय स्वदेशी बहुत ज़रूरी है। हमें हर बात में स्वदेशी होना चाहिए, स्वदेशी की भावना माँ के

दूध के साथ ही ग्रहण की जानी चाहिए, नौजवान पीढ़ी के मन में हर विदेशी वस्तु के प्रति गहरी घृणा की भावना पैदा की जानी चाहिए और ऐसा विदेशी वस्तुओं को जलाकर किया जा सकता है। स्वदेशी को अपना आदर्श बनाने के लिए पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए।"

इसी प्रकार बिपिन चंद्र पाल ने आत्मसम्मान का संदेश दिया और भारतवासियों से आग्रह किया कि वे भारत के लोगों की क्षमता में विश्वास रखें। स्वामी विवेकानंद की बातों का उद्धरण देते हुये उन्होने भारतवासियों को इन शब्दों में निर्भीकता का संदेश दिया – "यदि संसार में कोई पाप है तो वह दुर्बलता ही है; सभी प्रकार की दुर्बलता से बचो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है और सत्य की यह पहचान है। जो कुछ तुम्हें शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाता है, उसका विष के समान परित्याग कर दो। उससे जीवन संभव नहीं है, वह सत्य नहीं हो सकता"।"

इस भावना को प्रोत्साहित करने के लिए उग्र राष्ट्रवादी नेताओं ने स्कूल के लड़कों से जिम्नास्टिक समितियों तथा अखाड़ों में शामिल होने का आह्वान किया। इस प्रथा का बंगाल, महाराष्ट्र तथा बाद में पंजाब में भी प्रचलन हुआ। ब्रिटिश इतिहासकारों ने इसका यह अर्थ लगाया कि इस कार्यवाही की आड़ में नवयुवकों को क्रांतिकारी उद्देश्य से प्रशिक्षण दिया जा रहा था। इस प्रकार उग्र राष्ट्रवादियों ने नरमदल की उस मूल धारणा को अलग कर दिया जिसका आधार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उच्च वर्ग के मुट्ठी भर पढ़े–लिखे लोगों तक सीमित रखना था। नए नेतृत्व का यह विश्वास था कि अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कांग्रेस को संकीर्ण घेरे से बाहर निकलकर बड़े वर्ग को शामिल करने के लिए उसका आधार विस्तृत करना जरूरी है। उग्र राष्ट्रवादियों ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नई नीति और कार्यपद्धति विकसित करने की कोशिश की। रंगभेद के कारण भारत के शिक्षित युवावर्ग की बढ़ती हुई निराशा, थोड़े वेतन और बेरोजगारी से उग्र राष्ट्रवादियों को अपनी नीति के कार्यान्वयन में सहायता मिली।

भारतीय जीवन, चिंतन और राजनीति के क्षेत्र में हुए बेतरतीब तथा ऊपरी पाश्चात्यीकरण ने संतुलित समन्वय की उस कल्पना को उलट–पलट कर दिया था जिसकी कल्पना राममोहन राय ने की थी। विपिन चन्द्र पाल और अरविंद घोष के नेतृत्व में गरमपंथी स्वामी विवेकानंद के नव–वेदांतिक आंदोलन से काफी प्रभावित थे। भारत में उग्रवाद की उत्पत्ति का यही कारण था। उग्रवाद तीन स्तरों पर विरोध के रूप में प्रकट हुआ–

1. आध्यात्मिक क्षेत्र में उसने पारंपरिक हिंदू धर्म और नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति ईसाई धर्म, उपयोगितावाद तथा ब्राह्मणवाद से पैदा हुए ख़तरे का मुक़ाबला किया।

2. सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने उस यंत्रवादी, भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी सभ्यता का मुक़ाबला किया जिससे विकास का स्वदेशी ताना–बाना नष्ट होता प्रतीत हो रहा था।

3. राजनीतिक क्षेत्र में उसने भारत के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को उस विशाल तथा अप्रतिष्ठित ब्रिटिश साम्राज्य में आहिस्ता–आहिस्ता समा जाने से रोका जो 'गोरें लोगों का भार'

(Whiteman's burden) की डींग तो मारता था किंतु जो अपने इस भार को काले और भूरे लोगों के कंधों पर ही लादता जाता था।

फलतः उग्र राष्ट्रवादियों ने व्यक्तिवाद और उदारवाद दोनों का ही खंडन किया जिनपर अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा पैदा की गई और अँग्रेज़ी क़ानून व्यवस्था द्वारा पोषित उन्नीसवीं सदी की यूरोपीय सभ्यता आधारित थी। सभी उग्रवादी नेताओं में भारतीय इतिहास तथा भारत की आध्यात्मिक विरासत के प्रति समान लगाव था, उन सभी में पश्चिम के भ्रमजाल को काटकर उससे बाहर निकलने की समान अभिलाषा थी और वे लोगों को भारतीय सभ्यता का पुरातन रूप अपनाने के लिए प्रेरित करते थे। वे वैदिक युग की पुरातन स्मृतियों को पुनर्जीवित करते थे और राणा प्रताप, शिवाजी और झाँसी की रानी की वीर गाथाओं की याद दिलाते थे। उन्हें भारतीय जनता की विशिष्ट प्रतिभा में पूरा विश्वास था। '

इसमें संदेह नहीं कि उग्र राष्ट्रवादियों के सामने जो राजनीतिक कार्य था वह बहुत कठिन था। लोगों को उस पश्चिमी प्रभाव से मुक्ति दिलाने, उनमें राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने और स्वराज्य की इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से राष्ट्रीय मान्यताओं को पुनर्जीवित करने के लिए यह आवश्यक था कि लोगों को भारत की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक श्रेष्ठता का विश्वास दिलाया जाए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत की नवोदित शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले संघर्षवादी नेताओं ने प्राचीन भारतीय परंपराओं तथा भारतीय संस्कृति के प्रति गर्व की भावना पैदा करने के लिए धर्म पर आधारित नारों को गढ़ा। इसी उद्देश्य से तिलक ने महाराष्ट्र में 'गणेश महोत्सव' तथा 'शिवाजी महोत्सव' को संगठित किया। अरविन्द घोष ने पूरे एक महीने तक चलने वाली 'काली पूजा का आरंभ किया और लाजपतराय ने पंजाब में आर्य समाज आंदोलन को सशक्त बनाने में सहायता दी। यह सब इन लोगों ने अपने ब्रिटिश–विरोधी कार्यक्रम के अंतर्गत किया। इन समारोहों को सामूहिक रूप देकर और उन्हें राष्ट्रीय उत्साह, धार्मिक चेतना और सामाजिक एकता उत्पन्न करने का प्रभावी माध्यम बनाकर नया नेतृत्व जनसाधारण को ब्रिटिश–विरोधी लहर में शमिल करने में सफल हुआ।

भारत के प्राचीन गौरव की पुनःस्थापना से राष्ट्रीय भावनाएँ पैदा करने में सहायता अवश्य मिली, किंतु पुनर्जागरणवादी नारों और धार्मिक–राजनीतिक मार्ग से भले ही ये लोग जनता के अधिक निकट आने में सफल हुए हों और भले ही उन्हें जन–साधारण को संगठित करने में सहायता मिली हो किंतु इससे वे नरमदल द्वारा अब तक अपनाए गए धर्मनिरपेक्षवाद के रास्ते से भी दूर चले गए। दूसरी ओर संघर्षवादियों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धार्मिक जोश को उभारा। नतीजा यह हुआ कि वे ब्रिटिश–विरोधी आंदोलन में बहुसंख्यक हिंदुओं का समर्थन प्राप्त करने में सफल तो अवश्य हुए किंतु उनकी विचारधारा दो प्रमुख समुदायों – हिंदू और मुसलिम के बीच परस्पर विरोध की प्रवृत्ति पैदा करने में सहायक हुई, क्योंकि दोनों समुदायों की दृष्टि में पुनर्जागरणवाद का महत्त्व अलग–अलग था। इस नए दृष्टिकोण ने भविष्य में होने वाले अलगाववादी आंदोलन का बीज बोया क्योंकि जब धार्मिक गौरव को राष्ट्रीय गौरव पर प्रधानता दी गई तो धार्मिक मतभेदों का बढ़ना अवश्यंभावी था। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीयता के बारे में धर्मनिरपेक्ष और बहुधर्मवादी दृष्टिकोण के विकास में बाधा आई और इस प्रवृत्ति ने मुसलमानों को स्वतंत्रता संघर्ष में सक्रिय रुप से भाग लेने के लिए अधिक प्रेरित नहीं किया। हालॉकि तिलक का राष्ट्रवाद न तो संकीर्ण था और न ही वह धर्म की परिधि में

सीमित था। यह सत्य है किं तिलक ने धर्म का राजनीतिक औज़ार के रूप में और स्वराज्य के संघर्ष में एक हथियार के रूप में प्रयोग किया लेकिन धार्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपनी राजनीति का प्रयोग नहीं किया। मेरी दृष्टि में गणेश और शिवाजी महोत्सव को मनाना, यहाँ तक कि काली पूजा, शुद्धि और संगठन का उपयोग हिंदुओं को संगठित करने के लिए किया गया था किंतु इनका भारत को राष्ट्र के रूप में संगठित करने से कोई विरोध नहीं था। इस प्रकार तिलक का दृष्टिकोण सांप्रदायिक नहीं था। वे हिंदू–मुसलिम एकता के बड़े इच्छुक थे और इस विषय में उनमें बहुत उत्साह था। वस्तुतः उन्होंने 1916 ई0 में लखनऊ में कांग्रेस–लीग योजना तैयार करने में प्रमुख भूमिका निभाई थी। इतिहासकारों का मानना है कि उन्होंने धार्मिक परंपराओं को केवल इसलिए पुनर्जीवित किया क्योंकि वह केवल अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों को ही नहीं वरन् अधिसंख्य अनपढ़ और रूढ़िवादी लोगों को भी आकर्षित करना चाहते थे।

रजनी पामदत्त, ए0 आर0 देसाई एवं उनकी विचारधारा के अन्य चिन्तक इस बात से तो सहमत हैं कि उग्र राष्ट्रवादी नेताओं का दृष्टिकोण सांप्रदायिक नहीं था; किंतु उनके द्वारा अपनाए गए तरीके परस्पर विरोधी साबित हुए। वे जनसाधारण को आंदोलन में शामिल करके उसे विस्तृत आधार देना चाहते थे, जो कि राजनीतिक दृष्टि से एक प्रगतिशील एवं मौलिक क़दम था– किंतु जो नारे उन्होंने गढ़े थे उनसे अनेक धर्मावलंबी समाज में ग़ैर–हिंदुओं और विशेषकर मुसलमानों के आंदोलन में शामिल होने में बाधा आई और इन नारों से राष्ट्रीय आंदोलन में रुकावट आई और यह कमजोर हुआ। इन लेखकों ने उग्र राष्ट्रवादी नेताओं को 'रूढ़िग्रस्त राष्ट्रवादी' की संज्ञा दी। इस प्रकार हिंदुओं और मुसलमानों द्वारा अँग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त रूप से संघर्ष करने की संभावना कम हो गई और इससे अलगाववादियों का काम आसान हो गया। स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में बाद में हुई घटनाएँ यह प्रमाणित करती है कि सांप्रदायिकता को संघर्षवादियों द्वारा अपनाई गई नीति से समर्थन मिला। इस नीति से सांप्रदायिक मुसलिम नेतृत्व को और ब्रिटिश शासकों को भी सहायता मिली। राष्ट्रवाद के राजनीतिक स्वरूप को आध्यात्मिकता की ओर मोड़े जाने के फलस्वरूप उस धर्मनिरपेक्षवाद का स्वरूप भी विकृत हो गया जिसका पोषण नरमदल अथवा उदारवादियों ने किया था।

उग्र राष्ट्रवादियों की रणनीति :

उल्लेखनीय है कि उग्र राष्ट्रवादी इस विषय में आश्वस्त थे कि भारत तथा इंग्लैंड के हितों में कोई मेल नहीं था वरन् वे एक–दूसरे के विपरित थे इसीलिए उनके लिए यह आवश्यक था कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी राजनीतिक पद्धति में परिवर्तन लाएँ। तिलक को यह स्पष्ट दिखाई देता था कि ब्रिटिश शासन का स्वरूप औपनिवेशिक शोषण पर आधारित खुला साम्राज्यवाद था। उन्होंने यह अनुभव किया कि भारत के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और रेलवे, टेलीग्राफ़, डाक–सेवाओं का शुरू किया जाना और सड़कों का विकास आदि सभी काम ब्रिटिश उत्पादकों को तथा शासक वर्ग को लाभ पहुँचाने के लिए किए जा रहे थे, भारतवासियों को लाभ पहुँचाने के लिए नहीं। तिलक ने उदारवादियों के वैधानिक आंदोलन की इस आधार पर आलोचना की कि भारत का अपना कोई संविधान न था। फलतः उन्होंने वैधानिक आंदोलन के स्थान पर शांतिपूर्ण प्रतिरोध को अपनाया। वे भारत को आज़ाद कराने के लिए आतंकवादी तरीक़े और हथियारों का प्रयोग किए जाने के विरुद्ध थे। उनके राजनीतिक हथियार बहिष्कार

(बायकाट), स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षण थे। उनका विश्वास था कि वे आत्मनिग्रह तथा संयम के द्वारा विदेशी शासकों से असहयोग कर उनका भारत में बने रहना अलाभकर बना सकते थे। चूँकि भारत में ब्रिटिश शासन इस देश के व्यापारिक शोषण पर आधारित था इसलिए उग्र राष्ट्रवादियों का विचार था कि ऐसा करके वे उस शासन की जड़ को हिला सकेंगे और साथ ही भारतीय उद्योग तथा व्यापार को सशक्त बनाकर भारत के लोगों में आत्मविश्वास की भावना बढ़ा सकेंगे। बहिष्कार (बायकाट) का अर्थ स्पष्ट करते हुए लाला लाजपत राय ने कहा –"सरकार की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है और बायकाट के द्वारा उस प्रतिष्ठा के आधार को समाप्त किया जा सकता है...।'

उग्र राष्ट्रवादी यथार्थवादी थे और इस बात को जानते थे कि वे सरकार की विशाल सैनिक शक्ति की बराबरी नहीं कर सकते थे। इसीलिए वे क्रान्तिकारी और हिंसात्मक तरीक़ों को पसंद नहीं करते थे। वे शांतिपूर्ण प्रतिरोध के माध्यम से जनसाधारण को आंदोलन में शरीक़ करने का समर्थन करते थे। किंतु वे नरमदल वालों की तरह क्रान्तिकारियों को 'बदमाश' और 'अपराधी' नहीं कहते थे और उनकी गतिविधियों की निंदा नहीं करते थे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि क्रान्तिकारी नवयुवकों में देश से ज़बरदस्त प्रेम था।

शिक्षा के क्षेत्र में भी उग्र राष्ट्रवादी नेताओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने यह अनुभव किया कि अँग्रेज़ लोग भारतीय संस्कृति और सामाजिक परंपराओं को ही नहीं दबा रहे थे वरन् उन्होंने यहाँ अपनी प्रगतिशील भूमिका को भी तिलांजलि दे दी थी। प्राथमिक एवं तकनीकी शिक्षा की बुरी तरह उपेक्षा की जा रही थी। उच्चतर शिक्षा के प्रति लोगों को हतोत्साहित किया जाता था और देश में शिक्षा के प्रसार को सामान्यतः सीमित रखा जाता था। 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम का उग्र राष्ट्रवादियों ने यही अर्थ लगाया कि उसके द्वारा विश्वविद्यालयों को कड़े सरकारी नियंत्रण में लाने का प्रयत्न किया जा रहा था। ये नए राजनीतिक नेता इस बात से भी चिंतित थे कि शैक्षणिक पाठ्यक्रम नौजवानों के मन में दासता की भावना पैदा करता था। इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा लोगों को "सामाजिक, प्राकृतिक–वैज्ञानिक एवं तार्किक दर्शन के साहित्य" के अध्ययन करने का अवसर मिलता था जिससे "जनतांत्रिक एवं राष्ट्रीय चिंतन का भंडार सुलभ होता था" किंतु यह लाभ केवल मुट्ठीभर बुद्धिजीवियों तक ही सीमित था। ऐसे पश्चिमी शिक्षा प्राप्त नवयुवक भारतीय संस्कृति एवं परंपरा को तुच्छ समझते थे और पश्चिमी रहन–सहन की ओर अधिक आकर्षित होते थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि भारत को अँग्रेज़ी की गुलामी से आज़ाद कराने से पहले यह ज़रूरी था कि युवा वर्ग को मानसिक दासता से मुक्त किया जाए। फलतः उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षण केंद्र खोलने का आंदोलन चलाया। इस दिशा में किए गए प्रयत्नों के रूप में बीसवीं सदी के पहले दशक में देश के विभिन्न भागों में थियोसॉफ़िकल स्कूल और कॉलेज, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, और डी0 ए0 वी0 स्कूल खोले गए। इन संस्थानों ने राष्ट्रीय विचारधाराओं के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। किंतु दूसरी ओर उनके कारण सांप्रदायिकता का भी प्रसार हुआ और अन्य धर्मों के नेताओं ने भी अपने–अपने धर्मों पर आधारित संस्थाएँ क़ायम करना शुरू कर दिया।

इस प्रकार 20वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारत का राष्ट्रवाद अपेक्षाकृत अधिक संघर्षशील, स्वतंत्र, आत्मचेतन और स्वाभिमानी होता जा रहा था। राष्ट्रवाद का यह

स्वरूप नरमदल की झिझक और लज्जा से पूर्ण आकांक्षाओं से बिलकुल भिन्न था। 1905 में हुए बंगाल के विभाजन से संघर्षवादियों का यह विश्वास और भी मजबूत हो गया था कि अँग्रेज़ों के इरादे बुरे थे। अतः युवावर्ग ने उग्र राष्ट्रवादी नेताओं के आह्वान के प्रति बहुत उत्साह दिखाया। उग्र राष्ट्रवादियों की कार्यप्रणाली को लाला लाजपतराय के इन शब्दों में अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है –

"हम अपने मुँह को राजभवन की ओर से हटाकर जनसाधारण की झोंपड़ियों की ओर मोड़ना चाहते हैं, हम चाहते हैं कि हम सरकार से अपील करने के लिए अपना मुँह न खोलें वरन् अपने जनसाधारण से अपील करने के लिए खोलें। बायकाट आंदोलन का यही मनोविज्ञान है, यही आचार है और यही आध्यात्मिक महत्त्व है।'' इस प्रकार उग्र राष्ट्रवादियों ने बायकाट, स्वदेशी, धार्मिक उत्सवों और राष्ट्रीय शिक्षण का राष्ट्रीय आत्मसिद्धि के उपकरणों के रूप में प्रयोग किया। जवाहरलाल नेहरू ने जो उस समय इंग्लैंड में विद्यार्थी थे, अपनी आत्मकथा में युवा वर्ग की प्रतिक्रिया को इन शब्दों में व्यक्त किया है –

"1857 के विद्रोह के बाद भारत पहली बार दब्बू बनकर शासन को स्वीकार करने के बजाए उससे लड़ रहा था। तिलक और अरविंद घोष की गतिविधियों से प्रभावित होकर जिस प्रकार बंगाल की जनता स्वदेशी को अपना कर बायकाट की शपथ ले रही थी, उसके समाचारों ने इंग्लैंड में रहने वाले हम सब लोगों को उत्साहित किया था। लगभग हम सभी भारत की भाषा में उग्रवादी अथवा तिलकवादी थे।''

उदारवादी एवं उग्रवादी विचारधारा में अन्तर :

उदारवादी विचारधारा के नेता ब्रिटिश सरकार को ईश्वरीय देन मानते थे और उनकी संघर्ष नीति संवैधानिक उपायों द्वारा क्रमिक विकास की थी, जबकि उग्रवादी विचारधारा के नेता विप्लवकारी और क्रान्तिकारी आन्दोलन में विश्वास रखते थे। वे ब्रिटिश सरकार को महज एक आर्थिक शोषक एवं स्वार्थ पूर्ति के साधक मानते थे। दोनों की कार्य–पद्धति एवं सिद्धान्तों में अन्तर निम्नलिखित हैं

1. उदारवादी या नरमपंथी ब्रिटिश शासन को भारत के लिए लाभप्रद समझते थे। उनकी इच्छा स्वराज्य प्राप्त करने की अवश्य थी पर वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही स्वशासन के इच्छुक थे। उनकी इच्छा ब्रिटिश शासन को भारत से अलविदा करने की कभी नहीं थी। इस दल से सम्बन्धित डॉ0 रासबिहारी घोष जो सन् 1907 ई0 में काँग्रेस के अध्यक्ष थे, ने अंग्रेजी शासन के प्रति आस्था प्रकट करते हुए कहा था– "हम जानते हैं कि एक राष्ट्र के रूप में हमारे स्वाभाविक विकास के लिए ब्रिटिश शासन का जारी रहना पूर्ण रूप से आवश्यक है। मैं भी विश्वास करता हूँ कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए अच्छा बना रहे। हमारे देश के प्रति हमारा कर्त्तव्य यह माँग करता है कि हम शासन करने के बजाए शासन की न्यायप्रियता एवं श्रेष्ठता के प्रति वफादार रहें।"

इसके दूसरी तरफ उग्रवादी विचारधारा के लोग ब्रिटिश शासन को कुष्ठ रोग की तरह स्वीकारते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि ब्रिटिश शासक पूर्णतः निकम्मे एवं पक्षपातपूर्ण न्याय, आर्थिक शोषण, साम्राज्यवादी शासन के जनक हैं। उनके प्रति वफादार

होने से बड़ी कोई मूर्खता हो ही नहीं सकती। उनकी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए विपिन चन्द्र पाल ने अपने एक भाषण में कहा था– "यदि हम ब्रिटिश सरकार के प्रति या इंग्लैण्ड में क्राउन के प्रति वफादारी दिखाते हैं, तो यह झूठ है। बुद्धिवादी वर्ग यह नहीं समझ सकता कि अन्याय व कुशासन के प्रति वफादार कैसे रहा जा सकता है, जबकि हमने दृढ़ता से यह आरोप उन पर प्रत्यारोपित किए हैं।"

2. उदारवादी या नरमपंथी नेता क्रमिक सुधारों के माध्यम से स्वशासन प्राप्त करने की इच्छा रखते थे। उनकी भावना पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं रही। वे सिर्फ आस्ट्रेलिया, कनाडा जैसी औपनिवेशिक स्थिति के पक्षधर थे। उनकी इच्छा थी कि स्वशासन भी उन्हें अंग्रेजी सरकार के अन्तर्गत ही प्राप्त हो। इसके दूसरी तरफ उपवादियों को प्रार्थनाएँ, आवेदन एवं याचिकाओं की नीति पसन्द नहीं थी। वे पूर्ण स्वराज्य के पक्षधर थे। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने इस सम्बन्ध में घोषणा भी की थी – "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसे हम लेकर ही रहेंगे।" स्वराज्य की आवश्यकता को प्रदर्शित करते हुए लोकमान्य तिलक ने आगे कहा था– "स्वराज्य या स्वशासन स्वधर्म के पालन की प्रथम आवश्यकता है और स्वराज्य के बिना यहाँ न सामाजिक सुधार हो सकते हैं और न औद्योगिक प्रगति, न ही उपयोगी शिक्षा और न ही राष्ट्रीय जीवन की पूर्ति।" इसी वक्तव्य को धुन देते हुए विपिनचन्द्र पाल ने भारतीयों से आत्मविश्वास को जाग्रत करने एवं विकसित करने पर बल दिया।

3. उदारवादी या नरमपंथी नेता संवैधानिक एवं शांतिपूर्ण उपायों के हिमायती थे। हिंसा, विप्लव, क्रान्ति से वे दूर रहना चाहते थे। वे प्रार्थनाओं, याचनाओं के जरिए अपनी माँग का महत्त्व समझाते हुए उसे लागू करने के लिए कहते थे और मात्र आशा करते थे कि न्याय के दाता अंग्रेज एक दिन उनकी माँग को मान ही लेंगे। उदारवादी बहिष्कार, असहयोग और उग्र प्रतिरोध की नीति के कट्टर विरोधी थे।

इसके विपरीत उग्रवादी विचारधारा के लोग संवैधानिक तरीकों, आवेदन, प्रार्थनाओं एवं याचनाओं को सिर्फ ढोंग समझते थे जिससे कोई लाभ मिलने वाला नहीं है। वे अपने कानूनी अधिकारों को प्राप्त करने के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक समझते थे। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने सक्रिय प्रतिरोध की वकालत की। तिलक ने इन तथ्यों को समाविष्ट कर अपनी अभिव्यक्ति में कहा था– "यह सम्भव है कि हम ब्रिटिश प्रशासन के समक्ष कठिनाइयाँ खड़ी कर दें, यदि हम अपने अधिकारों के लिए पूर्ण निश्चय व दृढ़ता के साथ लड़ें और बहिष्कार व हड़ताल का सहारा लें। भारत में संचालित होने वाले प्रशासन में हमसब शक्तिशाली कारक है, इसका अहसास हमसब को होना चाहिए। चाहे आप दलित हों, उपेक्षित हों, आपको अपनी उस शक्ति का बोध होना चाहिए कि यदि आप चाहें तो आप प्रशासन को ठप्प कर सकते हैं, यदि इसके लिए आप तैयार हों। ये आप लोग ही हैं जो रेल, सड़क व तार व्यवस्था का प्रबन्ध देखते हैं, व्यवस्थायें देखते हैं और कर एकत्रित करते हैं। वास्तव में आप ही हैं जो प्रशासन का सारा कार्य देखते हैं। यदि आप अपने आपको इससे अलग कर लें तो सारी कार्य–प्रणाली ठप्प हो जायेगी।

4. उदारवादी स्वदेशी के पक्ष में तो थे, लेकिन बायकाट को एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु लाला लाजपत राय जैसे नेताओं

का यह कहना कि अंग्रेज तभी भारतीयों की तकलीफों को समझेंगे जब उनकी जेब को खतरा पैदा होगा। यह मेनचेस्टर के उपर दबाव डालने का एक तरीका था और भारतीयों में आत्मनिर्भरता लाने का एक आवश्यक अंग था।

उग्रवादी विचारधारा के नेता बहिष्कार को एक अद्वितीय शस्त्र मानते थे और स्वदेशी के प्रति गहरा विश्वास रखते थे। प्रारम्भिक अवस्था में उग्रवादियों ने बहिष्कार का सहारा ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति ठप्प करने की दृष्टि से किया, ताकि सरकार बंगाल विभाजन को खत्म कर दे। मगर इसकी प्रभावशीलता ने उन्हें यह निश्चय करा दिया कि भारत के आर्थिक शोषण के विरोध में भी यह हथियार प्रयोग में लाया जा सकता है। बहिष्कार के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए लाला लाजपत राय ने विद्यार्थियों को उत्साहित किया कि वे सरकार द्वारा नियन्त्रित संस्थाओं को छोड़कर राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्पर्क करें तो राष्ट्रीय हित में होगा।

5. उदारवादी और उग्रवादी विचारधारा दोनों में अपने स्वयं के मामले निर्धारित करने में भी मतभेद था। उदारवादी सोचते थे कि भारतीय अभी स्वशासन के लिए तैयार नहीं हैं और उन्होंने कहा कि जिस समय भारतीयों में स्वशासन के लिए योग्यता हो जाएँ तभी वो अपनी माँग ब्रिटिश सरकार के सामने रखे। जबकि उग्र विचारधारा के लोगों का मानना था कि भारतीय स्वशासन के लिए पूर्णतः तैयार हैं। स्वशासन भारत को मिलना ही चाहिए। इस सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए गरमपंथी नेता विपिन चन्द्र पाल ने कहा – "स्वशासन की कला को सिखाने के लिए स्वयं स्वशासन से अच्छा शिक्षक कोई नहीं है। इसका मूल्य स्वतंत्रता है और यह तुरन्त व बिना शर्त स्वायत्तता चाहता है। लोगों की योग्यता व अयोग्यता का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि यह किसी भी रूप या आकार में दासता को पसंद नहीं करती है और वास्तविक स्वतंत्रता के लिए किसी विद्यालय की, किसी भी देश व किसी भी परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष ही स्वतन्त्रता का उच्चतम शिक्षक है।

6. उदारवादी विचारधारा के नेताओं की राजनीतिक मनोवृत्ति आध्यात्मिक समन्वयवादी थी। वे हिंसा, आत्म–बलिदान की प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण भाग नहीं मानते थे। इसके विपरीत उग्रवादी प्रवृत्ति के लिए बलिदान अत्यावश्यक तत्त्व था। उन्होंने स्पष्ट किया कि जिस कार्य को मेहनत व बलिदान के बिना ही प्राप्त किया जाए उसे अधिक सम्मान नहीं मिलता। इसके अलावा त्याग व पीड़ा से हासिल वस्तु की प्रियता अधिक बढ़ जाती है। अतएव किसी दिव्य वस्तु जैसे स्वतन्त्रता को हासिल करने के लिए अधिक बलिदान की जरूरत है।

उपलब्धियॉ और मूल्यांकन :

इस प्रकार उग्र राष्ट्रवादी नेताओं ने भारत के राजनीतिक जीवन के एक नए चरण का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने नरमवादियों की समझौतापरस्त राजनीति और ब्रिटिश न्यायप्रियता और ईमानदारी में विश्वास की नीति का परित्याग करने में पहल की। उन्होंने आर्थिक जंजीरों के बंधन को ढीला करने की ही माँग नहीं की अपितु स्वतंत्र आर्थिक विकास की योजना भी बनाई। इन्हीं नेताओं ने सर्वप्रथम खुलकर यह बात कही कि राजनीतिक आज़ादी ही राष्ट्र का जीवन है और स्वराज्य की प्राप्ति ही उस आज़ादी की चरम अवस्था है।

लाला लाजपतराय और बिपिन चंद्र पाल ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे स्वतंत्र भारत में ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें 90 प्रतिशत जनता के कल्याण को प्रमुखता दी जाए। इसी अवधि में किसानों में आंदोलन की झलक देखने को मिली जिसका राष्ट्रीय प्रेस ने प्रचार किया। इसी अवधि में तिलक को 6 वर्ष के कारावास का दंड दिए जाने के विरोध में एक राजनीतिक प्रश्न को लेकर वस्त्र उद्योग में पहली बार हड़ताल हुई। उग्र राष्ट्रवादी नेताओं ने आज़ादी के संघर्ष को अधिक विस्तृत करने की बात कहकर राजनीतिक चातुर्य और समझदारी का परिचय दिया। इस बात से समाज के ग़रीब वर्ग – किसान और मज़दूर, शिक्षित बेरोज़गार नवयुवक, असंतुष्ट निम्न मध्यवर्ग और कम वेतन पाने वाले बुद्धिजीवी तथा अन्य व्यवसायों में लगे लोग बहुत आकर्षित हुए और आम लोगों को यह विश्वास हो गया कि औपनिवेशिक व्यवस्था में उनका पहला काम यही है कि विदेशी शासकों को भारत भूमि से निकाल बाहर करें।

इस प्रकार संघर्षवादियों ने जनता की आर्थिक समस्याओं का औपनिवेशिक शासन से जुड़े होने का प्रचार कर जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके राजनीतिक दृष्टिकोण का यह पक्ष न केवल प्रगतिशील था वरन् क्रांतिकारी भी था।

लेकिन इन तमाम उपलब्धियों और अपनी सही राजनीतिक समझ के बावजूद उग्र राष्ट्रवादी नेता जनता के उत्साह को एक संगठित आंदोलन का रूप नहीं दे सके। यह कार्य आगे चलकर गाँधी जी के काल में हुआ। वास्तव में नरमपंथियों के विफल होते ही, ब्रिटिश सरकार ने सारे सरकारी तंत्र को उग्रवादियों की गतिविधियों का दमन करने में लगा दिया। ब्रिटिश साम्राज्यवादी मुख्यतः गरमदल वालों को अपना दुश्मन समझते थे और इसलिए गरमदल के चारों बडे नेताओं को उनके कोप का शिकार होना पडा। 1908 में समाचार–पत्रों का मुँह बंद करने के लिए समाचारपत्र विधेयक पारित किया गया, जिसका उद्देश्य अपराध के लिए भड़काने पर रोक लगाना था। आतंकवादी अभियोगों से निपटने के लिए 'दंडविधि संशोधन अधिनियम, 1908 (Penal Code Amendment Act) लागू किया गया और वाणी की स्वतंत्रता को समाप्त करने के लिए 'राजद्रोह सम्मेलन अधिनियम, (Sedicious Meeting Act) 1911 पारित किया गया। पंजाब के लाहौर में एक अंग्रेज पत्रकार द्वारा अपने नौकर को गोली मारने तथा रावलपिंडी में एक औरत का गोरे स्टेशन मास्टर द्वारा बलात्कार किये जाने के मामले में सम्बद्व अंग्रेजों को निर्दोष करार दिये जाने की घटना से पंजाब में हालात विस्फोटक होने लगा। लाला लाजपत राय के अंग्रेजी दैनिक पत्र 'पंजाबी' के लेखों और टिप्पणियों ने पंजाब के नौजवानों को नया जोश और नया स्वर दिया। जालंधर के सरदार अजीत सिंह पंजाब के नौजवानों के नेता बनकर सामने आये और उन्होने ''भारतमाता सोसायटी'' नामक संस्था की स्थापना की। यह संस्था पंजाब में गरमदल के लोगों का केन्द्र बन गई। इसी तरह के उग्र आन्दोलन बंगाल और महाराष्ट्र में भी हुये। इसके परिणामस्वरूप 1907 से 1909 के बीच तिलक, लाला लाजपतराय और अरविंद घोष को गिरफ्तार कर लिया गया जिससे गरमपंथियों को भारी धक्का लगा। जब ये नेता रिहा किए गए तब ऐसा लगा कि उनका मनोबल पूरी तरह टूट चुका है। लाजपतराय देश से बाहर जाने को तैयार हो गए, अरविंद घोष भागकर पांडिचेरी चले गए और केवल तिलक जो 1914 में रिहा हुए, श्रीमती एनी बेसेंट की सक्रिय सहायता से होमरूल आंदोलन चलाते रहे किंतु इस आंदोलन में

शुरू का आक्रामक जोश अब नहीं था। इस प्रकार गरमपंथी नेता न तो लोगों को सुस्पष्ट नेतृत्व प्रदान कर सके और न ही कोई ठोस संगठन खड़ा कर पाये।

एक प्रकार से हम कह सकते है कि गरमपंथी अथवा उग्र राष्ट्रवादी 20वीं सदी के आरंभ में पैदा हुई नई शक्ति का उपयोग करने में असफल रहे। उन्होंने लोगों को नींद से जगाया तो अवश्य किंतु उन्हें आज़ादी के सुनहरे प्रभात की ओर ले जाने में वे असफल रहे। नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच के अंतर को ए. त्रिपाठी ने बड़े सुन्दर शब्दों स्पष्ट किया है – "यह अंतर वर्ग का नहीं वरन् लक्ष्य की प्राथमिकता का था।'' दोनों भारत की गरीबी के लिए ब्रिटिश शासन को दोष देते थे, किंतु जहाँ उदारवादी ब्रिटिश राज की ईमानदारी पर संशय करके ही रह जाते थे, वहीं उग्रवादियों ने आर्थिक पुनर्निर्माण के ब्रिटिश राज से छुटकारा पाने का निर्णय किया, किंतु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनाए गए तरीके, ब्रिटिश प्रशासन की दमनकारी नीति, कार्यक्रम के प्रभावी क्रियान्वयन के विषय में नेतृत्व की अस्पष्टता और प्रथम महायुद्ध के आरंभ होने के फलस्वरूप इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनाए गए तरीके सफल नहीं हो सके।

लेकिन इन तमाम कमियों और दोषों के वावजूद उग्र राष्ट्रवादियों के उस योगदान का महत्त्व कम नहीं हो जाता जो उन्होंने जनजागरण और जनआंदोलन के युग का अग्रदूत बनकर किया। राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवादियों की सबसे महत्वपूर्ण देन यह थी कि उन्होने भारतीयों को सन्देश दिया कि वे राजनीतिक भिक्षावृति और अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर रहने की बजाय आत्मशक्ति और आत्मनिर्भरता पर भरोसा करें। उग्रवादी राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को आक्रामक स्वरूप प्रदान किया। इस आंदोलन को सफल बनाने के लिए बॉयकाट और हड़ताल जैसे शस्त्रों का इस्तेमाल किया गया और वंदेमातरम् गीत से सभी दिशाएँ गूंज उठीं। रवींद्रनाथ टैगोर के स्वदेशी गीतो ने जनता की भावनाओं को स्वर दिया। स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और सक्रिय प्रतिरोध के द्वारा जनता में आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीयता की नयी लहर का जो बीजारोपण हुआ, बाद में महात्मा गॉधी ने भी इसी स्वदेशी और बहिष्कार के साधनों को असहयोग आन्दोलन का प्रमुख आधार बनाया। उग्रवादियों की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली से भारत की युवा पीढ़ी में राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ और उनमें अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति निष्ठा उत्पन्न हुई। जिस राष्ट्रवादी भावनाओं के ज्वार को उग्र राष्ट्रवादियों ने उद्वेलित किया उससे भारतीय जनता राजनीति में निर्भीक तथा जुझारू रवैया अपनाना सीख चुकी थी और इसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के लिए रास्ता तैयार कर दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन को उग्रवादियों की जो देन रही उसने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाया तथा स्वाधीनता संग्राम में सभी वर्गों और जातियों को सम्मिलित कर दिया। गरमपंथियों के प्रयत्नों से सारे देश में ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी निरंकुश नीति के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया व्याप्त हो गई और विदेशी हुकूमत यह सोचने को मजबूर हो गई कि भारतीयों की माँगों की अधिक उपेक्षा करना उचित नहीं है। यह श्रेय गरमपंथियों को ही जाता है कि उन्होंने 'स्वराज्य' का मन्त्र फूँका। स्वराज्य प्राप्ति के लिए गरमपंथियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप को बहुमुखी बना दिया अर्थात् अनेक आन्दोलन छेड़ दिए जो संयुक्त रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन की विभिन्न धारा बन गए। तिलक और उनके साथियों ने अपने अथक प्रयासों से कॉंग्रेस को एक शक्तिशाली जन–आन्दोलन में परिणित कर दिया और

स्वाधीनता संग्राम केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित नहीं रहा। उदारवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की जो सैद्धान्तिक और वैचारिक आधारशिला रखी थी, उसे नया रूप देकर उग्र राष्ट्रवादियों ने मजबूती प्रदान की। उग्र राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुनरुत्थान और पुनर्निर्माणवाद की आधारशिलाएँ प्रदान कीं। गरमपंथियों ने इस बात पर बल दिया कि यदि भारत में सच्ची राष्ट्रीयता का प्रसार करना है तो प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण अनिवार्य है। उनकी दृष्टि में राष्ट्रवाद का सम्बन्ध तीव्र संवेगों और अनुभूतियों से होता है। वस्तुतः भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर इसका व्यापक और स्थायी प्रभाव पड़ा।

उग्र राष्ट्रवादी नेता (Extremist Leaders):

बाल गंगाधर तिलक (1856–1920)

भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास में उग्र राष्ट्रीयता के जन्मदाता तथा निर्भयता से राष्ट्र की वेदना को प्रकट करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति बाल गंगाधर तिलक थे। उन्होने उदारवादियों के वैधानिक आन्दोलन को एक राष्ट्रीय आन्दोलन तथा जन–आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। उनकी निःस्वार्थ देशभक्ति, अदम्य साहस, स्वतत्रंत और सबल राष्ट्रीय प्रवृति और सबसे उपर अपने देश और देशवासियों की एकनिष्ठ सेवा के कारण उन्हे स्वतंत्र भारत के निर्माताओं में बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। डा0 रमेश चन्द्र मजूमदार लिखते है कि – ''अपने देशप्रेम और अथक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बाल गंगाधर तिलक 'लोकमान्य' कहलाने लगे। वह जहॉ कहीं भी जाते थे उनका राष्ट्रीय सम्मान और स्वागत किया जाता था।''

B.G. Tilak

सार्वजनिक जीवन –

लोकमान्य तिलक का जन्म 1856 ई0 में एक ऐसे महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण परिवार में हुआ था जिनका सम्बन्ध इतिहास के गौरवशाली पेशवाओं से था। बचपन से ही तिलक मेघावी छात्र और प्रखर व्यक्तित्व के धनी थे। सन् 1879 ई0 में उन्होंने एल0 एल0 बी0 की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। कॉलेज के दिनों से ही वे सार्वजनिक कार्यों की ओर उन्मुख हो गये थे। चूँकि गणित के प्रतिभावान छात्र होने के नाते उनसे पूछा गया कि वे गणित में एम0एससी0 के बजाए एल0एल0बी0 क्यों कर रहे हैं ? तो उन्होंने उत्तर दिया था– "मैं अपना जीवन देश के जन–जागरण में लगाना चाहता हूँ और मेरा मानना है कि इस कार्य के लिए साहित्य अथवा किसी अन्य विज्ञान या गणित की उपाधि की अपेक्षा कानून का ज्ञान अधिक उपयोगी होगा। मैं एक ऐसे जीवन की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें मुझे ब्रिटिश शासकों से संघर्ष न करना पड़े।'' प्रारम्भिक दिनों के राष्ट्रीय मंच में उन्होंने

जो धूम मचायी उससे लोग स्नेह एवं सम्मान से अविभूत होकर उन्हें लोकमान्य, जनता के प्रिय नायक तथा सर्व सम्मानित कहकर पुकारते थे। उन दिनों लोकमान्य तिलक का राजनीतिक मन्त्र "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर ही रहूँगा" अधिकांश सजग भारतीयों के होठों पर था। तिलक ऐसे पहले नेता थे जिन्होंने राजनीतिक आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक जोश का प्रयोग किया। वे कॉंग्रेस के उग्र राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंने अपनी अनवरत साधना और महान बलिदान के द्वारा भारतीय स्वाधीनता के भव्य महल में नींव डालने की भूमिका अदा की थी। वे प्रत्येक पहलू में यथार्थ और आदर्श से घिरे हुए थे। 'गीता' दर्शन पर उनकी टिप्पणी और 'आर्कटिक होम इन द वेदाज' नामक वह ग्रन्थ जिसमें हिन्दुओं के आदिग्रन्थ वेदों में वर्णित आर्यों का जन्म स्थान आर्कटिक प्रदेश में सिद्ध किया गया है, उनके विस्तृत अध्ययन और अनुसन्धान में गहरी रुचि के प्रमाण है।

लोकमान्य तिलक ने एक शिक्षा शास्त्री के रूप में पूना न्यू इंग्लिश स्कूल, दक्षिण शिक्षा समाज तथा फर्ग्युशन कॉलेज के व्यवस्थापक के रूप में ख्याति अर्जित की। अपने अथक परिश्रम से उन्होंने वस्तुतः महाराष्ट्र में एक शैक्षणिक क्रान्ति ही उत्पन्न कर दी। ओरियन्टल सोसायटी के लिए ज्योतिष शास्त्र के आधार पर वेदों की प्राचीनता सिद्ध करने वाले एक विद्वतापूर्ण निबन्ध के कारण देश–विदेश में उनकी ख्याति फैल गई। 1896 ई0 में अकाल में लोगों को अपने अधिकारों के प्रति जागरुक बनाने की दिशा में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। 1889 ई0 में कॉंग्रेस में अपने प्रवेश के बाद से ही एक राजनीतिक नेता के रूप में कॉंग्रेस के कार्यकलापों में तिलक ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की। उदारवादियों की नीति से असन्तुष्ट तिलक ने अपनी शक्ति महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसंगठित करने में लगाई और भारतीय नवयुवकों में यह भाव भरने की चेष्टा की कि देश अपनी स्वतन्त्रता किसी की दया के बल पर नहीं अपितु अपने सामर्थ्य के बल पर अर्जित करे। अपने दो समाचार पत्र– 'केसरी' और 'मराठा' तथा शिवाजी और गणेश उत्सवों द्वारा उन्होंने जनता में देशभक्ति की भावना फूँक दी तथा उसने अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। 19 दिसम्बर 1893 ई0 के अपने प्रमुख समाचार पत्र 'केसरी' में लोकमान्य तिलक ने अपनी मनोवृत्ति को उद्घाटित करते हुए लिखा था– भारत में अंग्रेजी नौकरशाही से अनुनय–विनय कर हम कुछ नहीं पा सकते। ऐसे प्रयत्न करना पत्थर पर सिर टकराने के समान है। महाराष्ट्र में अकाल और पूना में प्लेग के समय जनता के कष्टों के प्रति सरकार के उपेक्षापूर्ण रवैये से क्षुब्ध होकर दो नवयुवकों ने पूना के प्लेग कमिश्नर रैंड तथा एक अन्य अंग्रेज अधिकारी की हत्या कर दी। तिलक का इस हत्याकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं था, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन पर हिंसा और राजद्रोह भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया और 18 मास का कठोर कारावास का दण्ड दे दिया। तिलक की गिरफ्तारी ने न केवल महाराष्ट्र को वरन् सम्पूर्ण भारत को उग्र बना दिया और सरकार को यह अनुभव हो गया कि तिलक का जनता पर कितना प्रभाव है। तिलक की महानता इस बात में थी कि सरकार के प्रतिशोधपूर्ण और बर्बर रवैये के बावजूद उन्होंने कभी सार्वजनिक जीवन से मुख नहीं मोड़ा और न वे कभी निराशावाद से अभिभूत होकर बौद्धिक अन्तर्मुखी ही बने। प्राचीन युग के महान ऋषियों की भाँति उन्होंने सब कुछ आश्चर्यजनक अविचलता के साथ सहन किया।

1905 ई0 में बंग–भंग के समय लोकमान्य तिलक का राजनीतिक कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र से बढ़कर सम्पूर्ण भारत हो गया। 'केसरी' के माध्यम से उन्होंने स्वदेशी, बहिष्कार और स्वराज्य का सन्देश जन–जन तक पहुँचाया। लाल–बाल–पाल ने देश में वस्तुतः एक संगठित उग्र राष्ट्रवादी दल को राष्ट्रीय रंगमंच पर ला खड़ा किया। काँग्रेस के उदारवादी नेता तिलक के उम्र और यथार्थवादी विचारों से सहमत नहीं हो सके। फलस्वरूप काँग्रेस के नरम और गरम दल में मतभेद की खाई चौड़ी होती गई और अन्ततः 1907 ई0 में 'सूरत की फूट' के रूप में सामने आई। इसके बाद 1915 ई0 तक अपने अलग अस्तित्व के साथ काँग्रेस उग्र राष्ट्रवादी स्वरूप में काम करती रही। 1908 ई0 में तिलक को राजद्रोह के मिथ्या आरोप में पुनः गिरफ्तार करके 6 वर्ष के कारावास का दण्ड देकर माण्डले जेल में भेज दिया जहाँ अपने दो विख्यात ग्रन्थों– 'गीता रहस्य', और 'दि आर्कटिक होम इन द वेदाज' की रचना की। ये दोनों ही ग्रन्थ लोकमान्य तिलक के विशाल ज्ञान, ऐतिहासिक शोध और विचारों की उत्कृष्टता के परिचायक बन गये।

सन् 1914 ई0 में कारावास से मुक्त होने पर तिलक पुनः राष्ट्रीय संगठन के कार्य में समर्पित हो गये। 1916 ई0 से सन् 1920 ई0 तक उन्होंने होमरूल लीग का प्रचार करके देश के स्वाधीनता संघर्ष को आगे बढ़ाया। एनीबेसेन्ट के प्रयत्नों से तिलक पुनः काँग्रेस में शामिल हो गए और अन्त तक इसी में रहे। 1918 ई0 में वे सर्वसम्मति से काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। लेकिन शिरोल केस के सिलसिले में इंग्लैण्ड में चले जाने से वे इस गौरवशाली पद को स्वीकार न कर सके। सितम्बर 1920 के कांग्रेस के कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में जब लोग तिलक के सभापति चुने जाने की आशा कर रहे थे तभी अचानक 21 जुलाई 1920 को मुम्बई में आकस्मिक बीमारी से स्वाधीनता संग्राम के इस विकट योद्धा का स्वर्गवास हो गया। पर इस समय तक तिलक सचमुच काँग्रेस का रूपान्तर कर चुके थे और उसे सुदृढ़ नौकरशाही विरोधी मोर्चे में परिवर्तित कर चुके थे।

लोकमान्य तिलक का राजनीतिक दर्शन

सच्चे अर्थों में बाल गंगाधर तिलक भारतीय उग्र राष्ट्रवाद के जनक थे, जिन्होंने भारतीय राजनीति को एक नई दिशा प्रदान करके काँग्रेस को एक जन–आन्दोलन में परिणित किया। तिलक ने जनता और नेताओं के सामने एक रचनात्मक कार्य विकसित किया और स्वतन्त्र भारत की भूमिका की ओर इन चिरस्मरणीय शब्दों में संकेत किया कि– "एशिया तथा संसार की शान्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारत को आत्मशासन प्रदान करके पूर्व में स्वतन्त्रता का गढ़ बना दिया जाए।' तिलक उग्र राष्ट्रवादी थे लेकिन उन्होंने हिंसा और रक्तपात को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया।

लोकमान्य तिलक के राजनीतिक चिन्तन के आधार

बान गंगाधर तिलक ने राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में एक यथार्थवादी और व्यावहारिक चरित्र की भूमिका का निर्वाह किया। उदारवादियों की निष्क्रिय नीति की प्रतिक्रिया के रूप में तिलक ने सम्पूर्ण देश को मूर्त और गतिशील विचार देकर अद्‌भुत जन–जागरण पैदा किया। यद्यपि तिलक के विचार और दृष्टिकोण में हमें व्यावहारिक यथार्थवाद के तत्त्व देखने को मिलते हैं। लेकिन वे मैकियावेली और हॉब्स की भाँति के यथार्थवादी नहीं थे अथवा उन्होंने प्लेटो, अरस्तु या सिसरो की भाँति सर्वोत्तम राज्य के लक्षणों और सम्भावना का विवेचन नहीं किया। जीवन में उनका मुख्य उद्देश्य भारत की राजनीतिक

दासता से मुक्ति था और इसी दिशा में एक व्यावहारिक राजनीतिक नेता के रूप में उनके कार्यकलाप रहे, उनकी चिन्तन–धारा बही। तिलक के राजनीतिक चिन्तन ने हमें भारतीय दर्शन को कुछ प्रमुख धारणाओं तथा आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक विचारों का समन्वय देखने को मिलता है। तिलक की आध्यात्मिक धारणाओं ने उनके राजनीतिक चिन्तन को विशेष रूप से प्रभावित किया। तिलक एक वेदान्तवादी थे और वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा का निर्माण किया।

वेदान्त दर्शन ने ही लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को स्वतन्त्रता की सर्वोच्चता की ललक जगाई। लोकमान्य तिलक ने स्वतन्त्रता को व्यक्ति का अति आवश्यक अधिकार माना और स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि स्वतन्त्रता के अभाव में नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है। तिलक का कहना था कि विदेशी साम्राज्यवाद का कोई भी स्वरूप स्वतन्त्रता के लिए घातक है क्योंकि वह राष्ट्र की आत्मा को विनष्ट कर सकता है। अपने एक भाषण में तिलक ने स्वतन्त्रता को स्वशासन आन्दोलन (होमरूल आन्दोलन) की आत्मा बताया। तिलक ने इस सम्बन्ध में कहा– ''स्वतन्त्रता व्यक्तिगत आत्मा का जीवन है जिसे वेदान्त ने ईश्वर से भिन्न नहीं अपितु उसका समरूप माना है। तिलक के राजदर्शन में आधारभूत दर्शन का अस्तित्व एवं आधुनिक पाश्चात्य राष्ट्रवादी एवं लोकतांत्रिक विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगत होता है। लोकमान्य तिलक की राष्ट्रीयता जॉन स्टुअर्ट मिल के समानान्तर थी। सन् 1919–1920 में उन्होंने विल्सन की आत्मनिर्णय की धारणा को स्वीकार करते हुए भारत में इसके व्यावहारिक प्रयोग की माँग की थी। तिलक के राष्ट्रवाद का दर्शन आत्मा की सर्वोच्चता के वेदान्तिक आदर्श और मैजिनी, बर्क, मिल, विल्सन की धारणाओं का समन्वय था। इन सबके समन्वय को तिलक ने 'स्वराज्य' शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया। तिलक का चिन्तन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित था, अतः यही कारण था कि उन्होंने स्वराज्य की नैतिक और आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। तिलक ने स्वराज्य को अधिकार और धर्म के रूप में स्वीकारा। राजनीतिक रूप में उन्होंने स्वराज्य का अर्थ स्वशासन (होमरूल) बताया; किन्तु नैतिक सन्दर्भ में इसका अर्थ आत्मनियन्त्रण की पूर्णता माना जो कि सबसे बड़ा स्वधर्म है। स्वराज्य का आध्यात्मिक महत्त्व बताते हुए तिलक ने कहा कि आशय स्वरूप इसका अर्थ आत्मिक स्वतन्त्रता है। इसी तरह वास्तविक रूप से तिलक ने राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता की कामना की।

लोकमान्य तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद

लोकमान्य तिलक की राष्ट्रीयता पुनरुत्थानवादी एवं पुनर्निर्माणवादी थी। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने के लिए भारतीयों को प्रेरित किया। भारत के अतीत की महानताओं के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद की स्थापना पर जोर दिया। उन्होंने इसी भावना को प्रदर्शित करते हुए 13 दिसम्बर 1919 को अपने एक प्रमुख राष्ट्रवादी समाचार पत्र मराठा में लिखा था, "सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता। हम अपनी संस्थाओं का अंग्रेजीकरण नहीं करना चाहते, राजनीतिक और सामाजिक सुधार के नाम पर हम उसका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते। स्वराज्य की स्थापना के लिए तिलक ने आध्यात्मिक

समन्वय तत्त्वों से परिपूर्ण राजनीति पर बल दिया। उन्होंने नवीनीकरण या सुधार के नाम पर अतीत को भुला देना राष्ट्रवाद के पतन का सूचक बताया। वे प्राचीन संस्कृति के प्रसार से एवं पुनर्जागरण से ही राष्ट्रीयता के उद्‌भव में विश्वास रखते थे।

बाल गंगाधर तिलक ने राष्ट्रवाद को एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा बताया। उन्होंने स्पष्ट किया कि प्राचीन काल में आदिम जातियों के मन में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति रहती थी उसी का आधुनिक नाम राष्ट्रवाद है। इस राष्ट्रवाद का सम्बन्ध तीव्र संवेगों और अनुभूतियों से होता है। पहले जो आत्मिक लगाव और प्रभाव एक क्षेत्र विशेष तक सीमित थे वे अब राष्ट्रवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो गए हैं। यही कारण है कि आज राष्ट्रवाद की भावना किसी क्षेत्र विशेष के प्रति नहीं वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अनुभव की जाती है। जो राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आधारित होता है वही सच्चा और स्वस्थ राष्ट्रवाद है। तिलक की मान्यता थी कि विभिन्न विचारधाराओं, जाति–भेदों, अस्वस्थ मत–मतान्तरों आदि के कारण देश में राष्ट्रीयता की भावना उस तेजी से नहीं पनप सकती जिस तेजी से यह समान भाषा, समान धर्म और समान संस्कृति वाले देश में पनप सकती है। इसलिए उन्होंने भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर बारम्बार बल दिया। ये तत्त्व प्राचीनकाल से ही भारत में विद्यमान थे पर अब आवश्यकता उन्हें फिर से जगाने और संगठित करने की है।

लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के आवेश को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने गणपति उत्सव को फिर से जाग्रत किया और साथ ही शिवाजी की उपासना के पंथ को प्रारम्भ किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक धार्मिक उत्सव को सामाजिक एवं राजनीतिक अर्थ दिया तथा शिवाजी उत्सव द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने एवं संगठित करने का काम किया। तिलक उत्सव को प्रतीक के रूप में स्वीकारते थे जिनसे राष्ट्रवाद पैदा होता है। उत्सवों के दोहरे महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए वे कहते थे कि उत्सवों के माध्यम से एकता की भावना अभिव्यक्त होती है और दूसरी तरफ उत्सव में भाग लेने वाले लोगों के मन में श्रेष्ठतर कार्य करने की इच्छा जाग्रत होती है।

बाल गंगाधर तिलक मुसलमानों के विद्रोही या कट्टर हिन्दू राष्ट्रवादी नहीं थे, लेकिन हिन्दुओं के अतीत के गौरव को वे नष्ट होने देना नहीं चाहते थे। वास्तविक रूप में तिलक एक महान् राष्ट्रवादी विचारक और देशभक्त थे जिन्होंने कभी भी भेदभाव, जातिगत या क्षेत्रीयता को सर्वोपरि नहीं समझा। वे एक यर्थाथवादी राजनीतिज्ञ थे जो अन्याय के प्रति कठोर एवं विद्रोही थे। स्वयं मोहम्मद अली जिन्ना ने उन्हें एक उत्कृष्ट राष्ट्रवादी कहते हुए कहा कि – "तिलक एक महान आध्यात्मिक एवं राजनीतिक समन्वय को एक साथ रखकर राष्ट्रवाद को जागृत करने वाले पहले देशभक्त थे।" 1916 ई0 का लखनऊ समझौता सिर्फ लोकमान्य तिलक के विवेकपूर्ण रवैये का ही परिणाम था। तिलक ने ही मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन में सहयोग का प्रस्ताव किया था। सभी तथ्यों का एक ही निष्कर्ष प्रतिपादित होता है कि तिलक व्यक्तिगत जीवन में हिन्दू प्रिय होते हुए भी और आंशिक रूप से पुनरुत्थानवादी होने पर भी तिलक को मुसलमानों या ईसाइयों से कोई द्वेष भाव नहीं था तथा एक राजनीतिक नेता की हैसियत से राष्ट्रीय मुक्ति के लिए उन्होंने सार्वजनिक नीति स्वीकार की थी।

लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में आर्थिक कारकों को भी पर्याप्त रूप से महत्त्व दिया और स्पष्ट किया कि अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण भारत अनवरत गरीब राष्ट्र होता जा रहा है। लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि जब तक देश की राजनीतिक शक्ति विदेशी हुकूमत के साथ है तब तक देशी उद्योग–धन्धों को संरक्षण मिलना असम्भव है, लेकिन जनता स्वयं पहल करके संरक्षण की भावना को जागृत कर प्रोत्साहन दे सकती है। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के इलाहाबाद समारोह में 1907 ई0 में लोकमान्य तिलक ने कहा था– "हम विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके अपने ढंग का संरक्षणार्थ आयात कर लगा सकते हैं। लोकमान्य तिलक तत्कालीन शिक्षा पद्धति को अव्यावहारिक और आर्थिक पतन का मूल कारण मानते थे।

तिलक का राजनीतिक उग्र राष्ट्रवाद –

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का राष्ट्रवाद बड़ा उग्र और तेजस्वी था और राजनीतिक क्षेत्रों में उन्हें उग्रवादी राजनीति तथा राष्ट्रवाद का अग्रदूत माना जाता है। लोकमान्य तिलक ने ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी निरंकुश नौकरशाही नीति को कभी सहन नहीं किया। 1905 ई0 के बंगाल विभाजन के दौरान लार्ड कर्जन की निरंकुश नीति की अपने राष्ट्रवादी समाचार पत्र 'केसरी' में तीखी आलोचनात्मक टिप्पणी लिखी। वे निवेदन, आवेदन या याचनाओं के आधार पर अपना अधिकार न लेकर अपनी माँगों को दबावकारी उग्र साधनों से अंग्रेजी शासकों को मजबूर कर उनसे माँगें मनवाने के पक्षधर थे। निवेदन एवं याचनाओं के बजाए महाराष्ट्र, पंजाब संगठित होकर ब्रिटिश सरकार की तानाशाही नीतियों पर उग्रवाद का वज्र बनकर टूट बंगाल पड़ा था। इन सबके बावजूद ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी नीति अपनाई पर उग्रवादी विचारधारा के नेताओं के उत्साह और जोश में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कट्टर एवं तीव्र राष्ट्रीयता के प्रति तिलक कभी नहीं झुके और इसी के फलस्वरूप भारतीय उदारवादियों से भी उनकी निभ नहीं पाई और इसका परिणाम 1907 ई0 में सूरत फूट के रूप में सामने आया।

लोकमान्य तिलक संगठन, शक्ति और आत्मनिर्भरता में विश्वास रखते थे। उन्होंने भारतीय जनता का आह्वान किया था कि वे कष्ट और त्याग सहन करें एवं राजनीतिक आन्दोलन के उग्र साधनों से ब्रिटिश सरकार को स्वराज्य, स्वशासन देने के लिए बाध्य कर है। 2 जनवरी 1906 ई0 को कलकत्ता में अपने भाषण के दौरान लोकमान्य तिलक ने घोषणा की थी कि – "प्रार्थनाओं और विरोध के दिन बीत गए हैं। हमारी प्रार्थनाओं को शासक कदापि नहीं सुनेंगे क्योंकि उनके पीछे दृढ़ संकल्प का अभाव है। शासन में परिवर्तन होगा इस उम्मीद को छोड़ दीजिए। प्रार्थना, प्रतिरोध से कोई कार्य होने वाला नहीं है। स्वदेशी हमारी अन्तिम पुकार है और इसी के सहारे हम आगे बढ़ेंगे चाहे शासक कितनी ही अनसुनी कर दे।

उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा के होने के बावजूद भी तिलक ने हिंसा और क्रान्ति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ रहते हुए उन्होंने भारतीयों को विश्वास दिलाया कि यदि सभी भारतीयजन संगठित होकर स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा को पूरे जोश से राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए काम में ले तो कोई कारण नही है कि हमें स्वराज्य न मिल सके।

स्वदेशी और बहिष्कार –

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने स्वदेशी और बहिष्कार को स्वाधीनता संग्राम के दो हथियारों के रूप में काम में लिया। लोकमान्य तिलक ने स्वदेशी के संदेश को पूरे भारत में प्रचारित–प्रसारित किया और उसकी व्यापकता और सफलता की सम्भावनाओं को जन–जन के हृदय में समाहित कर दिया। यद्यपि स्वदेशी का आरम्भ उदारवादियों ने अपने आर्थिक आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ किया, लेकिन आगे चलकर लोकमान्य तिलक और अन्य उग्रवादियों के लिए यह एक राजनीतिक हथियार बन गया। पश्चिम भारत में उनके नेतृत्व में बहिष्कार किया गया और पूना में उनके नेतृत्व में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। उन्होंने स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा के मुख्यांग के रूप में सहकारी भंडार खोले। तिलक ने केसरी में लिखा था– "हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएँ हैं।" वास्तविक रूप में स्वदेशी ने ही स्वराज्य का रास्ता दिखाया था। जो स्वदेशी आन्दोलन पहले केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित था उसे लोकमान्य तिलक एवं अन्य उग्र राष्ट्रवादियों के प्रयासों ने स्वदेशी में आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन जैसे तत्त्वों को समावेशित कर लिया।

लोकमान्य तिलक ने स्वदेशी का व्यापक अर्थ लेते हुए इसका प्रयोग शिक्षा, विचारों और जीवन पद्धति के रूप में किया। उन्होंने स्वदेशी के अर्थ को स्पष्ट करते हुए बताया कि भारतीय जनमानस से विदेशी विचारों को धीरे–धीरे मिटा देना ही स्वदेशी है। तिलक ने भारतीयों को स्वदेशी बनाने और उनके मनोमस्तिष्क में स्वाधीनता का भाव जाग्रत करने के लिए अथक परिश्रम किया। अपने समाचार पत्रों एवं लेखों के माध्यम से उन्होंने भारतीय लोगों में अपूर्व उत्साह और संकल्प युक्त वातावरण पैदा किया था।

स्वदेशी की तरह ही बहिष्कार भी स्वराज्य को प्राप्त करने का एक अस्त्र था। बहिष्कार का मूल उद्देश्य था कि ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हितों पर दबाव डालकर उसे माँगे मनवाने के लिए विवश कर दिया जाए। उन्होंने भारतीय जनता के समक्ष स्वीकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं पर जोर डाला और स्पष्ट किया कि इससे स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा मिलेगा और इसके दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार भारतीयों की माँगें मानने के लिए विवश होगी। वास्तविक रूप में बहिष्कार आन्दोलन पूर्णतः सफल रहा। इसका जीता जागता प्रमाण अंग्रेजी के समाचारपत्र इंग्लिश मैन के मुखपत्र के लिखा वह लेख है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि– "बहुत सी प्रमुख मारवाड़ी फर्मों का व्यवसाय नष्ट हो गया है और यूरोपीय वस्तुओं का आयात करने वाली बड़ी–बड़ी कम्पनियों को या तो अपनी शाखाएँ बन्द कर देनी पड़ी हैं या थोड़े से व्यवसाय से ही सन्तुष्ट होना पड़ रहा है। गोदामों में माल जमा होता रहा है। वास्तविक बात यह है कि अब समय आ गया है जब व्यापार को कितनी हानि हुई है यह स्पष्ट कर दिया जाए। बहिष्कार करने वालों को प्रोत्साहित करने का कोई प्रश्न ही नहीं, क्योंकि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि ब्रिटिश जनता और भारत सरकार को इस तथ्य के प्रति जागरुक कर दिया जाए कि बहिष्कार के रूप में ब्रिटिश राज के शत्रुओं के हाथ एक ऐसा हथियार आ गया है जो इस देश में ब्रिटिश हितों को गहरी चोट पहुँचाने में कारगर है बहिष्कार के प्रति ढिलाई या सहमति की गई तो यह किसी सशस्त्र क्रान्ति से भी अधिक खतरनाक साबित होगा जब भारत के साथ स्थापित ब्रिटेन का सम्बन्ध निश्चय ही टूट जायेगा।

मूल्यांकन –

वास्तव में भारत के किसी भी व्यक्ति ने इतने अधिक कष्ट नही सहे, किसी ने कष्टों और कुर्बानियों को इतने शान्त भाव से ग्रहण नही किया जितना बाल गंगाधर तिलक ने। तिलक अपने जीवन की अन्तिम सॉस तक भारतीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते रहे। 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में उन्होने अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन तथा अन्य नेताओं को अपने पत्र में लिखा था कि – एशिया और संसार के दृष्टिकोण से यह बात नितान्त आवश्यक है कि भरत को स्वायत्त शासन प्रदान करके पूर्व में उसे स्वतंत्रता का गढ़ बना दिया जाय।'' वे अपने जीवन काल में यद्यपि भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य को भले ही प्राप्त न कर सके लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन्होने भारतीय स्वतंत्रता को कई वर्ष निकट अवश्य ला दिया।

अन्ततः लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के सन्दर्भ में अरविन्द घोष के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि– ''श्री बाल गंगाधर तिलक का नाम राष्ट्रनिर्माता के रूप में आधा दर्जन महानतम राजनीतिक पुरूषों, स्मरणीय व्यक्तियों और भारतीय इतिहास के इस संकटमय काल में राष्ट्र के प्रतिनिधि व्यक्तियों में होने के नाते सदा अमर रहेगा और उन्हे लोग तबतक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण रखेंगे जबतक कि देश में अपने भूतकाल पर अभिमान और भविष्य के लिए आशा बनी रहेगी।

<u>लाला लाजपत राय (1865–1928)</u> –

'पंजाब केसरी' और 'शेर–ए–पंजाब' के नाम से विख्यात लाला लाजपत राय भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी सेनानियों में थे जिन्होंने व्यक्तिगत जीवन को क्षण भर महत्व न देते हुए राष्ट्र पर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। वे एक महान राष्ट्रवादी और आधुनिक भारत के महान राजनेता थे। उनका सारा जीवन त्याग, बलिदान और निष्ठा से भरा हुआ था। राष्ट्रीय मुक्ति के सन्दर्भ में उनकी धारण बहुत विशुद्ध और व्यापक थी तथा समाज सुधार और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति उनका प्रेम अनुकरणीय था। वे उच्च कोटि के लेखक व विद्वान थे और उनकी पुस्तकें उनकी ज्ञान की विशालता और राष्ट्रीयता की उत्कृष्ट भावना को प्रदर्शित करती है। लाला लाजपत राय ने अपने देशप्रेम व साहस से अंग्रेजों के अत्याचारों के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में स्वर्णिम अध्याय लिखा।

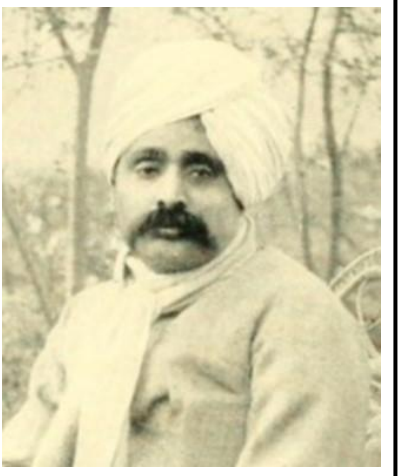

Lala Lajpat Rai

लाला लाजपत राय का जन्म 28 जनवरी 1865 को पंजाब के फिरोजपुर जिले के दुधिके नामक गांव में हुआ था। पिता राधाकृष्ण पेशे से एक शिक्षक थे, जिन्होंने अपना दायित्व

निभाते हुए बाल्यकाल में ही लाजपत को राष्ट्र भक्ति के संस्कार दिए। बचपन से ही मेधावी छात्र के रूप में जाने वाले लाजपत राय ने लाहौर के प्रसिद्ध सरकारी कॉलेज से 1885 ई0 में वकालत की परीक्षा पास की। प्रारंभिक जीवन में उन्होने हिसार से वकालत का कार्य प्रारंभ किया किन्तु अंग्रेजों की न्याय प्रणाली के अन्यायी स्वरूप के कारण जल्द ही उनका मन वकालत से उठ गया। युवा लाजपत ने बैंकिग की ओर रुख किया और पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना की। युवावस्था में ही लाजपत राय का झुकाव आर्य समाज की ओर हो गया। स्वामी दयानंद से प्रेरणा लेकर लाला जी ने आर्य समाज को पंजाब में लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूनिका निभाई।

शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज ने एक अभिनव प्रयोग किया। दयानंद एंग्लों वैदिक कॉलेज के नाम से भारतीय और अंग्रेजी शिक्षा का एक नया स्वरूप भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत किया गया जिसमें आधुनिक और पंरपरागत शिक्षा का मिश्रण था। पंजाब में डी0ए0वी0 स्कूलों की सफलता में लाला लाजपत राय का अभूतपूर्व योगदान था। लाहौर में डी0ए0वी0 कॉलेज की भूमिका राष्ट्र जागरण की दृष्टि से उल्लेखनीय रही जिसके विकास में लाला जी ने अभूतपूर्व योगदान दिया। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस एक मात्र ऐसा दल था जिसमें समाज के सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। लाला जी का जुड़ाव भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ और उन्होंने पंजाब की राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हुए अंग्रेजों का विरोध करना शुरू किया। लाला लाजपत राय ने देश की राजनीति में सक्रिय प्रवेश 1905 ई0 में किया जब बंग–भंग आन्दोलन जोरों पर था। उन्होने लार्ड कर्जन की कूटनीति और साम्राज्यवाद का डटकर सामना किया। 1905 ई0 में ही उन्हे गोपाल कृष्ण गोखले के साथ कांग्रेस के भारतीय दृष्टिकोण को ब्रिटिश शासन और जनता के सामने रखने के लिए इंग्लैण्ड भेजा गया। वहॉ से लौटने के बाद उन्होने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को बताया कि ब्रिटिश सरकार की भारतीय मामलों में कोई रूचि नही है। इसलिए भारतीयों को विदेशी सहायता पर निर्भर रहने के बजाय अपने बल पर अपनी जनशक्ति को संगठित कर स्वशासन और स्वराज्य का अधिकार प्राप्त करना चाहिए। लाला जी गरम विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे ऐसे में उनका कांग्रेस के ऐसे लोगों से टकराव स्वभाविक था जो अंग्रेजों से 'प्रार्थना' करते थे और 'सहयोग' करते थे। लाला जी को कांग्रेस में बाल गंगाधर तिलक और विपिन चंद्र पाल का साथ मिला और ये तीनों विभूतियां भारतीय इतिहास में 'लाल–बाल–पाल' के नाम से विख्यात हुई।

लाला जी के बढ़ते प्रभाव और सरकार विरोधी गतिविधियों के कारण उन्हें जल्द ही अंग्रेजों के कोप का भाजन बनना पड़ा। 1907 में लाला लाजपत राय ने सरदार अजीत सिंह के साथ मिलकर कोलोनाइजेशन बिल (Colonization Bill) के विरूद्ध एक आन्दोलन का नेतृत्व किया जिसके कारण अंग्रेजों ने लाला जी को देश निकाला देकर 6 महीने के लिए माण्डले जेल भेज दिया। 18 नवम्बर 1907 ई0 को उन्हे जेल से रिहा कर दिया गया और वे छूटकर लाहौर पहुँचे। उसी दौरान कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में बाल गंगाधर तिलक ने अध्यक्ष पद के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया लेकिन गोपाल कृष्ण गोखले के विरोध करने पर लाला लाजपत राय ने अपना नाम वापस ले लिया। धीरे–धीरे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में लाला जी का विरोध बढने लगा था लेकिन लाला जी कांग्रेस में मतभेद के आकांक्षी नही थे।

1914 ई0 में लाला लाजपत राय ने एक शैक्षणिक ट्रस्ट की स्थापना की और अपने गॉव में ही राधाकृष्ण हाईस्कूल की नींव रखी। इसी वर्ष उन्हे किसी काम से इंग्लैण्ड जाना पडा लेकिन दुर्भाग्यवश इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने के कारण प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक बाहर रहकर ही स्वराज्य आन्दोलन की दिशा में अपना योगदान देते रहे। 1917 ई0 में लाजपत राय ने अमेरिका के न्यूयार्क शहर में 'होमरूल लीग ऑफ अमेरिका' की स्थापना की और इसके द्वारा अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के लिए नैतिक समर्थन मॉगा। विदेश में रहते हुये उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में जनमत निर्माण का कार्य किया।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद लाला लाजपत राय वापस हिन्दुस्तान लौट आये। इस दौरान पंजाब में मार्शल लॉ और रॉलेट एक्ट जैसे काले कानून, जिसके बारे में कहा जाता था कि 'कोई अपील नहीं, कोई दलील नहीं, कोई वकील नहीं' को लेकर संघर्ष चल रहा था। पंजाब की संघर्षशील माटी ने रालेट एक्ट का पूरा विरोध किया और लाला लाजपत राय इस विरोध आन्दोलन में कूद पडे। झुझंलाई ब्रिटिश सरकार ने एक दिन जलियांवाला बाग में निहत्थे भारतीयों का नरसंहार कर दिया। मरने वालों में बच्चों और महिलाओं की बड़ी संख्या थी। समस्त घटनाओं पर विचार–विमर्श करने के लिए 1920 ई0 में कलकत्ता में एक विशेष अधिवेशन का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता लाजपत राय ने की। अन्ततः 1920 में गॉधीजी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलन को लाजपत राय ने अपना समर्थन देते हुये इसका डटकर प्रचार–प्रसार किया। असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाने के कारण लाजपत राय को अंग्रेज सरकार ने गिरफ्तार किया परन्तु बिगड़ते हालात के कारण अंग्रेजों ने उन्हे रिहा कर दिया। इसी बीच भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्र संघ के संगठन अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए 31 अक्टूबर 1920 को अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (All India trade union Congress) का गठन बम्बई में किया जिसके प्रथम अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाया गया। लाला जी ने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में श्रमिकों की मांगों और सुविधाओं के लिए निरन्तर प्रयास किया।

अपने विचारों की उग्रता और कांग्रेस के धीमे रवैये के कारण 1924 में लाला जी ने कांग्रेस छोड़ दी और अनततः स्वराज्य पार्टी में शामिल होकर केंद्रीय विधायिका के सदस्य चुने लिए गए। 1926 ई0 में लाला जी केंद्रीय विधायिका के उप नेता चुने गए जहां उन्होंने अपनी सक्रिय भूमिका निभाई। कालान्तर में स्वराज पार्टी की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से असन्तुष्ट होकर उन्होने स्वराज दल से अलग होकर पं0 मदन मोहन मालवीय के साथ हिन्दू महासभा का गठन किया। यद्यपि वे राष्ट्रवादी थे और राष्ट्रीय एकता के पक्षधर थे फिर भी हिन्दू हितों की उपेक्षा उन्हे कतई बर्दाश्त नहीं थी। वे पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में भारतीय सभ्यता संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे और उसकी रक्षा के लिए कटिबद्ध रहते थे।

लाला लाजपत राय ने 1921 ई0 में पुरूषोत्तम दास टंडन के साथ मिलकर लोक सेवक मण्डल की स्थापना की। वे समाचार पत्रों को राष्ट्रीय भावना की जागृति के लिए मूल अस्त्र या साधन के रूप में मानते थे। उन्होने स्वयं 'वन्दे मातरम्', 'उर्दु दैनिक' एवं 'पीपुल' नामक अंग्रेजी समाचार–पत्र निकालना शुरू किया था। मैत्सिनी और गैरीवाल्डी

पर लिखी उनके द्वारा जीवनियॉ राष्ट्रभक्ति को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण रही। उनकी उत्कृष्ट सेवाओं के कारण 1925 ई0 में उन्हे कलकत्ता में हिन्दू महासभा का अध्यक्ष चुना गया। लाला जी समाजसेवी, शिक्षाविद होने के साथ–साथ लेखक भी थे। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारत की जनता की आवाज को उन्होंने अपनी कई कृतियों में स्थान दिया। उनके द्वारा लिखित कृतियों में 'ईवोल्यूशन ऑफ़ जापान', 'भगवद् गीता का संदेश', 'भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या', 'भारत का राजनीतिक भविष्य', 'डिप्रेस्ड क्लासेज' आदि शामिल है। उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकें, जिनमें यंग इण्डिया (Young India) द स्टोरी ऑफ माइ डिपोर्टेशन (The Story of My Deportation,1908) आर्य समाज (Arya Samaj, 1915) द युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका : ए हिन्दू इम्प्रेशन (The United States of America : A Hindu's Impression, 1916) अनहैप्पी इण्डिया (Unhappy India, 1928) इंग्लैण्ड डेब्ट टू इण्डिया (England's Debt to India 1917) आदि प्रमुख है, उनके ज्ञान की विशालता और राष्ट्रीयता की उत्कृष्ट भावना को प्रदर्शित करती है।

लाला लाजपत राय की स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता के कारण समाज में विशेषकर क्रांतिकारियों के मन में बड़ा सम्मान था। वास्तव में वह इन क्रांतिकारियों की भावना के प्रमुख वाहक थे। 1928 में भारतीयों की इच्छाओं और भावनाओं को जानने–समझने का प्रयास करने के लिए अंग्रेजी साम्राज्य ने साईमन कमीशन को भारत भेजा। चूँकि साइमन कमीशन के सदस्यों में कोई भी भारतीय शामिल नहीं था अतः लाला लाजपत राय के सक्रिय नेतृत्व में लाहौर की जनता ने साइमन कमीशन का विरोध किया। जहॉ भी साइमन कमीशन गया, वहां जनता ने 'साईमन कमीशन गो बैक' या 'साईमन कमीशन वापिस जाओ' के नारे लगाए। लाहौर में 30 अक्टूबर 1928 को ऐसे ही शान्तिपूर्ण प्रदर्शन और जुलूस का नेतृत्व लाला लाजपत राय ने किया। इस प्रदर्शन के दौरान पुलिस अधिकारी साण्डर्स ने अचानक पुलिस को लाठीचार्ज करने का आदेश दिया। इस लाठी चार्ज के दौरान पुलिस के लाठियों से लाला लाजपत राय बुरी तरह चोटिल हुये। इस समय इन्होंने कहा था – "मेरे शरीर पर पड़ी एक–एक लाठी ब्रिटिश सरकार के ताबूत में एक–एक कील का काम करेगी।" इस प्राणघातक चोट के कारण अन्ततः 17 नवम्बर 1928 को उनकी मृत्यु हो गई। इसकी प्रतिक्रिया पूरे देश में हुई। जन आक्रोश भड़क उठा और क्रांतिकारियों ने लाला जी की हत्या का बदला लेने की कसम खाई। जल्द ही क्रांतिकारियों ने लाला जी की हत्या का बदला अंग्रेजी पुलिस अधिकारी सांडर्स का वध कर ले लिया।

इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में लाला लाजपत राय का नाम स्वर्ण अक्षरों में अंकित है क्योंकि उन्होंने समाज के हर क्षेत्र में विधायी दृष्टि से कार्य किया। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में लाला लाजपत राय का योगदान और उनका बलिदान भारत की स्वतंत्रता और न्याय व समानता के आदर्शों की खोज में पीढ़ियों को सदैव प्रेरित करता रहेगा।

विपिन चन्द्र पाल (1858–1932) –

Bipin Chandra Pal

हमारे देश की आजादी में 'गरम दल' के 'लाल–बाल–पाल' की मशहूर तिकड़ी की बहुत ही अहम भूमिका मानी जाती है। इस महान तिकड़ी में 'लाल' थे लाला लाजपत राय, 'बाल' थे बालगंगाधर तिलक और 'पाल' थे बिपिन चन्द्र पाल। इन सभी महान क्रांतिकारियों के नाम भारतीय स्वाधीनता संग्राम आंदोलन के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखे गए हैं। इस तिकड़ी के बिपिन चन्द्र पाल को एक राष्ट्रवादी दिव्यद्रष्टा नेता होने के साथ–साथ, क्रांतिकारी, समाज–सुधारक, शिक्षक, निर्भीक पत्रकार, उच्च कोटि का लेखक व कुशल वक्ता माना जाता था। बिपिन चन्द्र पाल ने अपना सम्पूर्ण जीवन माँ भारती की सेवा में समर्पित कर दिया था, वो देश की आजादी के लिए समर्पित एक महान क्रांतिकारी योद्धा थे। उन्होंने अपने सशक्त प्रयासों से देश में अंग्रेजी हुकुमत की चूलें हिला देने का कार्य किया था, उनको देश में क्रांतिकारी विचारों का जनक माना जाता था, वो देश में स्वदेशी आंदोलन के सूत्राधार व उसके अग्रणी महानायकों में से एक थे। क्रांतिकारी बिपिन चन्द्र पाल देश की उन महान विभूतियों में शामिल हैं जिन्होंने भारत के स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन की मजबूत बुनियाद रखने में अपनी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इन्होंने अपने ओजस्वी पूर्ण भाषण और लेखन कार्य ने ना केवल क्रांतिकारी विचारधारा को बढ़ाने का कार्य किया बल्कि भारत में एक सशक्त स्वदेशी आंदोलन की नींव भी रखी। इन्हीं उपलब्धियों से इन्हें 'बंगाल का टाइगर' के उपनाम से भी लोग इन्हें संबोधित करते थे। एक कुशल वक्ता के रूप में अपने ओजस्वी भाषण के कारण ही इन्हें भारत का दिव्यद्रष्टा भी कहा जाता है।

बिपिन चन्द्र पाल जी का जन्म 7 नवंबर 1858 में बंगाल के एक धनवान जमींदार कायस्थ हिन्दू परिवार में हुआ था। इनका जन्म स्थान अविभाजित भारत के हबीबगंज जनपद के सिलहट के पोइल गाँव में हुआ था, वर्तमान में इस जनपद का कुछ भाग बांग्लादेश एवं कुछ भाग असम में आता हैं। इनके पिता रामचन्द्र पाल फारसी के विद्वान थे और इनकी माता नारायणी देवी थी।

बिपिन चन्द्र पाल की प्रारम्भिक शिक्षा एक मौलवी के सानिध्य में हुई थी, बाद में उन्होंने सेंट पॉल कैथेड्रल मिशन कॉलेज कलकत्ता में अध्यन किया था, लेकिन कुछ कारणों की वजह से उनको पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ी थी, वह वर्ष 1879 में एक विद्यालय मे पढ़ाने का कार्य करने लगे, उन्होंने कोलकाता में पुस्तकालय में भी काम किया था। वह

एक बहुत ही विद्वान व्यक्ति थे उन्हें पढ़ने व लिखने का बहुत शौक था, उन्होंने गीता, उपनिषद आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया था।

उन्होंने अपने जीवनकाल में कलमकार के रूप में लेखन व संपादन का बहुत कार्य किया था। उनकी कुछ प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं – इंडियन नेस्नलिज्म, नैस्नल्टी एंड एम्पायर, स्वराज एंड द प्रेजेंट सिचुएशन, द बेसिस ऑफ़ रिफार्म, द सोल ऑफ़ इंडिया, द न्यू स्पिरिट, स्टडीज इन हिन्दुइस्म, क्वीन विक्टोरिया आदि का लेखन किया था।

उन्होंने अपने जीवन में एक पत्रकार व संपादक के रूप में बहुत कार्य किया था। उन्होंने सिलहट से निकलने वाले 'परिदर्शक' नामक साप्ताहिक में कार्य आरम्भ किया। उनके द्वारा संपादित कुछ प्रमुख पत्रिकाएं इस प्रकार हैं – परिदर्शक, बंगाल पब्लिक ओपिनियन, लाहौर ट्रिब्यून, द न्यू इंडिया, द इंडिपेंडेंट इंडिया, बन्देमातरम, स्वराज, द हिन्दू रिव्यु , द डैमोक्रैट, बंगाली आदि थी।

बिपिन चन्द्र पाल बहुत ही छोटी आयु में ही ब्रह्म समाज में शामिल हो गए थे और समाज के अन्य सदस्यों की भांति वो भी उस समय देश में व्याप्त सामाजिक बुराइयों, जातिवाद और रुढ़िवादी परंपराओं का खुलकर विरोध करने लगे। उनका विरोध केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं था, अपितु उनके आचरण में भी यह स्पष्ट रूप से साफ दिखाई देता था। उन्होंने बहुत ही छोटी उम्र में देश में जाति के आधार पर होने वाले भेदभाव के खिलाफ दमदार ढंग से आवाज उठायी और अपने से ऊंची जाति वाली एक विधवा महिला से विवाह किया था, हालांकि उनके परिवार ने इस विवाह का बहुत अधिक विरोध किया था, लेकिन उन्होंने अपनी पत्नी को मान–सम्मान दिलाने और अपने विचारों को मान देने की खातिर अपने परिवार तक को भी त्याग दिया था। बिपिन चन्द्र पाल अपनी धुन के बहुत पक्के थे, इसलिए उन्होंने बहुत अधिक पारिवारिक और सामाजिक दबाओं के बावजूद भी कोई समझौता नहीं किया था।

महान क्रांतिकारी बिपिन चन्द्र पाल ने 1905 के बंगाल विभाजन के विरोध में अंग्रेजी हूकूमत के खिलाफ चलने वाले आंदोलन में बहुत बड़ा योगदान दिया था, उन्होंने अंग्रेजों की सत्ता को हिला दिया था, इस आंदोलन को उस समय जन समुदाय का बहुत बड़े पैमाने पर व्यापक समर्थन मिला था। बिपिन चंद्र पाल 1886 में कांग्रेस में शामिल हुए। उन्होंने देश में स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की नीति को अपनाकर आजादी की लड़ाई के नयी धार देने का काम किया था।

अंग्रेजों की औपनिवेशिकवाद नीति के खिलाफ पहले लोकप्रिय जनांदोलन को शुरू करने का श्रेय इन्हीं तीनों की महान तिकड़ी को ही जाता है। इन लोगों ने ब्रिटिश शासकों तक भारत की जनता व अपना सन्देश पहुंचाने के लिए विरोध के बेहद कठोर उपायों को अपनाकर अंग्रेजी शासकों को सबक सिखाने का काम किया था, उस समय लाल–बाल–पाल की महान तिकड़ी ने महसूस किया था कि भारत में बिकने वाले विदेशी उत्पादों से देश की अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है और भारत के लोगों का काम भी छिन रहा है। अपने 'गरम' विचारों के लिए मशहूर बिपिन चन्द्र पाल ने लाला लाजपतराय व बाल गंगाधर तिलक के साथ मिलकर, देश में स्वदेशी आन्दोलन को भरपूर बढ़ावा दिया और ब्रिटेन में तैयार सभी वस्तुओं का बहिष्कार भारतीयों से करवाया, उन्होंने मैनचेस्टर की मिलों में बने कपड़ों से परहेज करने के लिए देश के

लोगों को प्रेरित किया, विदेशी कपडों की सार्वजनिक रूप से होली जलवायी और औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में हड़ताल, तालाबंदी आदि के अपने सशक्त हथियारों से ब्रिटिश हुकुमत की नीद उड़ाकर भारत में उनकी सत्ता को हिलाकर अंग्रेजों को जबरदस्त चुनौती दी थी।

देश की आजादी के लिए राष्ट्रीय आंदोलन के शुरूआती सालों में 'गरम दल' की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही थी, क्योंकि इनकी भूमिका से देश में आजादी के आंदोलन को एक नई दिशा मिली थी और उनके प्रयासों से देश के लोगों के बीच आजादी प्राप्त करने के लिए जागरुकता बढ़ी। बिपिन चन्द्र पाल ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान देश की आम जनता में जागरुकता पैदा करने में बहुत अहम भूमिका निभाई थी। उनका मानना था कि 'नरम दल' के हथियार 'प्रेयर–पीटिशन' से देश को स्वराज नहीं मिलने वाला है, बल्कि स्वराज के लिए हमकों विदेशी हुकुमत पर करारा प्रहार करना पड़ेगा। इसी कारण उन्हें देश की आजादी के इतिहास में क्रांतिकारी विचारों का जनक कहा जाता है। उनका भारत पर राज करने वाली अंग्रेजी हुकुमत में बिलकुल भी विश्वास नहीं था और उनका हमेशा मानना था कि विनती और असहयोग जैसे हथियारों से अंग्रेजों जैसी विदेशी ताकत को पराजित नहीं किया जा सकता। इसी कारण उनका महात्मा गाँधी जी के साथ वैचारिक मतभेद था। वो किसी के विचारों से असहमत होने पर वह उस से अपने विचार व्यक्त करने में पीछे नहीं रहते। यहाँ तक कि विचारों से सहमत नहीं होने पर उन्होंने महात्मा गाँधी जी के कुछ विचारों का विरोध भी किया था।

उन्होंने क्रांतिकारी पत्रिका 'बन्दे मातरम' की स्थापना भी की थी। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की गरफ्तारी और स्वदेशी आन्दोलन के बाद, अंग्रेजों की दमनकारी निति के बाद वे इंग्लैंड चले गए। वहाँ जाकर वह क्रान्तिकारी विचार धारा वाले 'इंडिया हाउस' से जुड़ गए, जिसकी स्थापना श्यामजी कृष्ण वर्मा ने की थी और उन्होंने वहां 'स्वराज' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। जब क्रांतिकारी मदन लाल ढींगरा ने सन 1909 में अंग्रेज अधिकारी कर्ज़न वाइली की हत्या कर दी तब 'स्वराज' का प्रकाशन बंद कर दिया गया और लंदन में बिपिन को बहुत परेशानियों का सामना करना पड़ा था।

वो केशवचंद्र सेन, शिवनाथ शास्त्री, एस0एन0 बनर्जी और बी0के0 गोस्वामी, महर्षि अरविंद, लाला लाजपतराय व बाल गंगाधर तिलक आदि जैसे नेताओं से बहुत अधिक प्रभावित थे, उन्होंने 1904 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बम्बई सत्र, 1905 के बंगाल विभाजन आंदोलन, देश के महत्वपूर्ण स्वदेशी आंदोलन, असहयोग आंदोलन और 1923 की बंगाल की संधि में पूर्ण उत्साह के साथ भाग लिया था। उनको वंदे मातरम् राजद्रोह के मामले में अरविन्द घोष के खिलाफ गवाही देने से इंकार करने पर छह महीने की सजा हुई थी। लेकिन इसके बाद भी उन्होंने गवाही देने से इंकार कर दिया था। अपने जीवन के अंतिम समय में वो कुछ सालों के लिए कांग्रेस से अलग हो गए थे। जीवन भर भारत की आजादी के लिए संघर्ष करने वाले यह स्वतंत्रता संग्राम सेनानी स्वतन्त्र भारत के स्वप्न को अपने मन में लिए 20 मई 1932 को कलकत्ता में स्वर्ग सिधार कर हमेशा के लिए चिरनिद्रा में सोकर अमर हो गये, और इस प्रकार भारत ने अपना एक महान और जुझारू राष्ट्रवादी स्वतंत्रता सेनानी खो दिया। जिसको तत्कालीन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के युद्ध में एक अपूरणीय क्षति के रूप में माना जाता है।

विपिन चन्द्र पाल की कुछ प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं :

Indian Nationalism, Swaraj and the present Situation, Nationality and Empire, The Basis of Reforms, The Soul of India, The New Spirit, Studies in Hinduism, Queen Victoria : Biography.

विपिन चन्द्र पाल ने लेखक और पत्रकार के रूप में बहुत समय तक कार्य किया। 1886 में उन्होने सिलहट से निकलने वाले 'परिदर्शक' नामक साप्ताहिक में कार्य आरम्भ किया। **उनकी कुछ प्रमुख पत्रिकाएं इस प्रकार हैं –**

Paridarshak (1880), Bengal public opinion (1882), Lahore Tribune (1887), The New India (1892), The Independent India (1901), Vandematram (1906-07), Swaraj (198-11), The Hindu Review (1913), The Democrates (1919-20), Bengali (1924-25)

स्वदेशी आन्दोलन और सूरत में कांग्रेस की फूट
Swadeshi Movement and Congress split at Surat.

बीसवीं शताब्दी के भारत का उदय स्वदेशी आंदोलन के उदय के साथ जुड़ा है। नयी सदी के साथ जन्मे इस आंदोलन से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को बहुत बल मिला और देश में एक सशक्त आंदोलन छिड़ गया। बंगाल व देश के अन्य हिस्सों के ग्रामीण व शहरी छात्र, युवक और महिलाएँ पहली बार सक्रिय राजनीति में आये। इस आंदोलन का दायरा काफ़ी बड़ा था और केवल आधे दशक में ही इस आंदोलन में वे तमाम राजनीतिक संघर्ष दिखाई पड़े, जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सामान्यतया अगले 45 वर्षों में आने वाले थे।

उदारतावाद से लेकर राजनीतिक अतिवाद, आतंकवाद से लेकर प्रारंभिक समाजवादी विचारधारा, अदालती लड़ाई व जनसभाओं में भाषणबाजी से लेकर बहिष्कार, प्रतिरोध और यहाँ तक कि हड़ताल; व्यापक जनांदोलन छेड़ने की कोशिश से लेकर व्यक्तिगत रूप से क्रांतिकारी आंदोलन छेड़ने जैसी चीजें इस आंदोलन में दिखाई पड़ीं। आंदोलन की विशेषता यह थी कि इसका दायरा महज़ राजनीति तक सीमित नहीं था बल्कि कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान, उद्योग व अन्य क्षेत्रों में भी इस आंदोलन का असर पहुँचा। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज का हर तबका इस आंदोलन से किसी–न–किसी रूप में जुड़ गया।

स्वदेशी का अर्थ और इतिहास –

'स्वदेशी' भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का एक महत्वपूर्ण आंदोलन, सफल रणनीति व दर्शन था। स्वदेशी का अर्थ है– अपने देश का। इस रणनीति का उद्देश्य था– ब्रिटेन में बने माल का बहिष्कार करना, भारत में निर्मित माल का अधिकाधिक प्रयोग करके साम्राज्यवादी ब्रिटेन को आर्थिक हानि पहुँचाना और भारत के लोगों के लिये रोजगार सृजन करना। यह ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने और भारत की समग्र आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए अपनाया गया एक सशक्त माध्यम था। अरबिंद घोष, रवींद्रनाथ ठाकुर, वीर सावरकर, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय स्वदेशी आंदोलन के मुख्य उद्घोषक थे। कालांतर में यही स्वदेशी आंदोलन गांधीजी के स्वतंत्रता आंदोलन का भी केंद्र–बिंदु बना। गांधीजी ने स्वदेशी को 'स्वराज की आत्मा' बताया है।

स्वदेशी आंदोलन विशेषकर उस आंदोलन को कहते हैं जो बंग–भंग के विरोध में न केवल बंगाल अपितु पूरे ब्रिटिश भारत में चला गया था। इसका मुख्य उद्देश्य अपने देश की वस्तु को अपनाना और दूसरे देश की वस्तु का बहिष्कार करना था। भारत में स्वदेशी का नारा सबसे पहले बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने 1872 ई0 में वंगदर्शन के विज्ञानसभा का प्रस्ताव रखते हुए दिया था। उन्होंने कहा था– "जो विज्ञान स्वदेशी होने पर हमारा दास होता, वह विदेशी होने के कारण हमारा प्रभु बन बैठा है, हम लोग दिन–प्रतिदिन साधनहीन होते जा रहे हैं। अतिथिशाला में आजीवन रहनेवाले अतिथि की तरह हम लोग

प्रभु के आश्रम में पड़े हैं, यह भारतभूमि भारतीयों के लिए भी एक विराट अतिथिशाला बन गई है।"

इसके बाद भोलानाथ चंद्र ने 1874 में शंभुचंद्र मुखोपाध्याय द्वारा प्रवर्तित मुखर्जीज मैग्जीन में स्वदेशी का नारा दिया था। उन्होंने लिखा था– "आइए हम सब लोग यह संकल्प करें कि विदेशी वस्तु नहीं खरीदेंगे। हमें हर समय यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत की उन्नति भारतीयों के द्वारा ही संभव है।

बंगाल विभाजन, 1905 –

स्वदेशी आंदोलन वास्तव में बंगाल विभाजन के विरोध में एक आंदोलन के रूप में पैदा हुआ। अँग्रेज़ी हुकूमत के बंगाल–विभाजन के निर्णय से बंगालवासी जितने क्रोधित और क्षुब्ध हुए, वह अप्रत्याशित था। उस समय बंगाल की आबादी 7 करोड़ 85 लाख थी, गुलाम भारत की कुल आबादी का लगभग एक चौथाई। उड़ीसा और बिहार भी इसी राज्य के हिस्से थे। असम 1874 में ही इससे अलग हो गया था। इतने बड़े राज्य का प्रशासन चलाना वास्तव में कठिन था, लेकिन सच तो यह है कि अँग्रेजों ने इस राज्य के बँटवारे का फ़ैसला प्रशासनिक कारणों से नहीं, बल्कि राजनीतिक कारणों से लिया।

19वीं सदी ज्यों–ज्यों ढलती जा रही थी, भारत में राष्ट्रवाद का ज्वार तेजी से विकसित होती जा रही थी और जुझारू रुख अख्तियार कर रही थी। उस समय भारतीय राष्ट्रीय चेतना का केंद्र था बंगाल। अँग्रेज़ों ने इसी जुझारू चेतना पर आघात करने के उद्देश्य से ही बंगाल के बँटवारे का निर्णय किया। तात्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्जन के अनुसार – "अँग्रेज़ी हुकूमत का यह फैसला बंगाली आबादी का बँटवारा करना था, एक ऐसी एकता को समाप्त करना था, जहाँ से बंगाल व पूरे देश में कांग्रेस पार्टी का संचालन होता था, साज़िशें रची जाती थीं।

भारत सरकार के तत्कालीन गृहसचिव राइसले का कहना था– "अविभाजित बंगाल एक बड़ी ताकत है। विभाजित होने से यह कमज़ोर हो जाएगी, कांग्रेसी नेताओं की यह आशंका सही है और इनकी यह आशंका हमारी योजना की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण चीज़ है। हमारा मुख्य उद्देश्य बंगाल का बँटवारा करना है, जिससे हमारे दुश्मन बँट जाएँ, कमज़ोर पड़ जाएँ।"

बंगाल विभाजन के प्रस्ताव की ख़बर बंगाल में आग की तरह फैली और विरोध की आवाज़ें उठनें लगीं। कर्जन इस पर बहुत तिलमिलाया और गृहसचिव को लिखा– यदि हमने इस विरोध को अभी नहीं दबाया तो हम बंगाल को कभी विभाजित नहीं कर पाएँगे। बंगाल विभाजन का मकसद सिर्फ यह नहीं था कि बंगालवासियों को दो प्रशासनिक हिस्सों में बाँटकर उनके प्रभाव को कम किया जाय बल्कि अँग्रेजी हुकूमत का मकसद मूल बंगाल में बंगालियों की आबादी कम कर उन्हें अल्पसंख्यक बनाना था। मूल बंगाल में 1 करोड़ 70 लाख बंगाली और 3 करोड़ 70 लाख उड़िया व हिंदी भाषी लोगों को रखने की योजना थी।

इस विभाजन योजना में एक और विभाजन अंतर्निहित था और वह था– धार्मिक आधार पर विभाजन। 19वीं सदी के अंत में अँग्रेज़ों ने कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर करने के लिए मुसलिम सांप्रदायिकता को भड़काने का काम शुरू किया था। अब एक

बार फिर उन्होंने इस हथकंडे को अपनाने की कोशिश की। ढॉका में विभाजन के पक्ष में मुसलमानों को रिझाने के लिए कर्ज़न का भाषण उनकी कुटिल चाल का भंडा फोड़ता है। उसने कहा था– "बंगाल विभाजन से ढॉका, बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी वाले नए प्रांत की राजधानी बन जाएगा (1 करोड़ 80 लाख मुसलमान और 1 करोड़ 20 लाख हिंदू)। इससे पूर्वी बंगाल में मुसलमानों में एकता स्थापित होगी। मुसलमानों को बेहतर सुविधाएँ मिल सकेंगी और पूर्वी ज़िले कलकत्ता की राजशाही से मुक्त भी हो जाएँगे।"

इस प्रकार बंगाल–विभाजन की योजना भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर एक सुनियोजित हमला थी। कर्ज़न के उत्तराधिकारी लार्ड मिण्टो शुरू–शुरू में विभाजन के विरोधी थे और कहा करते थे कि जनमत के खिलाफ विभाजन उचित नहीं है। बाद में इन्हीं महाशय ने कहा– "केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से ही देखें तो बंगाल का विभाजन ज़रूरी था, प्रशासनिक दिक्कतों को तो दरकिनार रख दीजिए।" इस तरह भारतीय राष्ट्रवादियों को विभाजन के पीछे अँग्रेज़ी हुकूमत के असली मंतव्य का पता चल गया, वे एक स्वर से इसके विरोध में उठ खड़े हुए और बंग–भंग विरोधी आन्दोलन अर्थात स्वदेशी आंदोलन शुरू हो गया।

देशव्यापी विरोध की लहर –

जैसे ही दिसंबर 1903 में बंगाल विभाजन के प्रस्ताव की जानकारी सबको मिली, पूरे देश में जबरदस्त विरोध की लहर चल पडी। विरोध कितना ज़बरदस्त था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पहले दो महीनों में ही केवल पूर्वी बंगाल में विभाजन के खिलाफ़ 500 बैठकें हुईं और लगभग 50 हजार पर्चे पूरे बंगाल में बॉटे गये जिनमें विभाजन से होने वाले खतरे के बारे में विस्तृत दी गई। इनमें से ज़्यादातर बैठकें ढॉका और चटगाँव में हुई। सुरेंद्रनाथ बनर्जी, कृष्णकुमार मित्र व अन्य नेताओं ने विभाजन–प्रस्ताव के खिलाफ 'बंगाली', 'हितवादी', 'संजीवनी' जैसे समचार–पत्रों व पत्रिकाओं के माध्यम से आंदोलन छेड़ा। मार्च 1904 और जनवरी 1905 में कलकत्ता के टाउन हाल में कई विशाल विरोध सभाएँ हुई जिनमें दूर–दराज से आए अनेक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भारत सरकार व गृहसचिव के नाम तमाम विरोध याचिकाएँ भेजी गई। इनमें से कुछ याचिकाओं पर तो 70 हज़ार से भी ज्यादा लोगों के दस्तखत थे। आज भले ही यह संख्या कम दिखती हो पर उस ज़माने की राजनीतिक चेतना को देखते हुए यह संख्या बहुत अधिक थी। बंगाल विभाजन के विरोध में बडे–बड़े ज़मींदार भी कांग्रेस के साथ हो लिए जो अब तक ब्रिटिश सरकार के साथ खडे रहे थे। इन सब कार्यो का मुख्य उद्देश्य विभाजन प्रस्ताव के खिलाफ भारत व ब्रिटेन में जनमत तैयार करना था क्योंकि आंदोलनकारियों को विश्वास था कि इससे ब्रिटिश सरकार पर दबाव पड़ेगा और वह विभाजन के फैसले पर पुनर्विचार करेगी।

लेकिन इन सब प्रयासों का ब्रिटिश सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा और 19 जलाई 1905 ई0 को बंगाल विभाजन के निर्णय की घोषणा कर दी गई। यह आंदोलनकारियों और बंगभंग विरोधी जनता के मुँह पर तमाचा था। देश की जनता और नेताओं ने महसूस किया कि ज्ञापनों और आवेदनों की लड़ाई में कुछ हासिल होनेवाला नहीं है। संघर्ष का कोई दूसरा तरीका अपनाना ही होगा। परिणामस्वरूप समूचे आंदोलनकारियों ने एक नई राह पर चलते हुये विदेशी सामानों के बहिष्कार का निर्णय लिया। विभाजन के

निर्णय की घोषणा के तुरंत बाद दिनाजपुर, पाबना, फरीदपुर, जैसोर, ढॉका, वीरभूमि, बारीसाल व अन्य कस्बों में विरोध सभाएँ आयोजित की गई, जहाँ विदेशी माल के बहिष्कार की प्रतिज्ञा की गई।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन –

7 अगस्त 1905 ई0 को कलकत्ता के टाउन हाल में एक ऐतिहासिक बैठक में स्वदेशी आंदोलन की विधिवत घोषणा की गई। विभाजन के विरोध में अचानक फूटा और बिखरा यह आंदोलन अब संगठित होने लगा। 7 अगस्त 1905 ई0 की बैठक में ऐतिहासिक 'बहिष्कार प्रस्ताव' पारित हुआ। सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे अनेक नरमपंथी नेता भी देश के दौरे पर निकल गए और लोगों से मैनचेस्टर के कपड़े और लिवरपूल के नमक के बहिष्कार की अपील करने लगे। 1 सितम्बर 1905 ई0 को सरकार ने घोषणा की थी कि विभाजन 16 अक्टूबर 1905 से प्रभावी होगा। इस घोषणा के बाद तो बहिष्कार आंदोलन ने और ज़ोर पकड़ा। हर रोज़ विरोध बैठकें होने लगीं और विदेशी माल के बहिष्कार का नारा बुलंद होने लगा। विरोध बैठकों में भारी जनसमूह एकत्रित होता और बारीसाल की बैठक में तो 10 से 12 हज़ार लोग तक इकट्ठा हुए थे। विदेशी माल के बहिष्कार का आह्वान घर–घर पहुँच गया। 16 अक्तूबर 1905 का दिन, जिस दिन विभाजन प्रभावी हुआ, पूरे बंगाल में शोक दिवस के रूप में मनाया गया। इस दिन लोगों ने उपवास रखा, घरों में चूल्हा नहीं जला, जनता ने जुलूस निकाला और कलकत्ता में हड़ताल घोषित की गई। सवेरे जत्थे के जत्थे लोगों ने गंगा स्नान किया और फिर सड़कों पर वंदे मातरम् गाते हुए प्रदर्शन करने लगे। लोगों ने एक–दूसरे के हाथ पर राखियाँ बाँधकर यह जताने का प्रयास किया कि बंगाल को बाँटकर अँग्रेज़ उनकी एकता में दरार नहीं डाल सकते। कुछ दिनों के बाद आनंद मोहन बोस और सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने दो विशाल जनसभाओं को संबोधित किया जिसमें क्रमशः 50 हज़ार और 75 हज़ार लोग एकत्रित हुए। शायद इससे पहले राष्ट्रीय आंदोलन के झंडे तले इतनी बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे नहीं हुए थे।

बहिष्कार और विरोध की लहर –

बंगाल विभाजन के विरोध से उत्पन्न यह बहिष्कार और स्वदेशी आंदोलन अब नए लक्ष्य के लिए नए संघर्ष की राह पर चल पडा था और इसका आधार भी बहुत तेज़ी से मज़बूत होने लगा था। एस0 अब्दुल रसूल ने कहा था – "पिछले 50 से 100 सालों के दौरान हम जो हासिल नहीं कर सके, वह हमने विगत छह महीनों में हासिल कर लिया है और हमें यहाँ तक पहुँचाया है बंगाल–विभाजन ने। विभाजन जैसी शर्मनाक घटना ने महान राष्ट्रीय आंदोलन, स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया है।''

बहरहाल 1906 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने कलकत्ता अधिवेशन में राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा में एक सही कदम उठाया। दादाभाई नौरोजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य ब्रिटेन या उसके उपनिवेशों की तरह भारत में अपनी सरकार का गठन करना है– अर्थात् स्वराज़ की स्थापना। फ़िलहाल कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी खेमे में आंदोलन की गति और संघर्ष के तरीके को लेकर मतभेद चलता रहा और 1907 में सूरत अधिवेशन में स्वदेशी आंदोलन को लेकर पार्टी विभाजित हो गई। इस विभाजन का स्वदेशी आंदोलन पर गंभीर प्रभाव पड़ा।

1905 के बाद बंगाल से उत्पन्न हुये इस स्वदेशी आंदोलन पर उग्रवादियों की पकड़ मजबूत हो गई। जनता को आंदोलन के लिए तैयार करने और संघर्ष के तमाम नए तरीके अपनाए जाने लगे। गरमपंथी राष्ट्रवादियों ने जनता के सामने अनेक विचार, योजना और तरीके रखे। व्यापक जनांदोलन के ज़रिए राजनीतिक स्वाधीनता हासिल करने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए 'बहिष्कार आंदोलन' को असहयोग आंदोलन और शांतिपूर्ण प्रतिरोध तक ले जाना था। केवल विदेशी कपड़े का ही बहिष्कार नहीं, बल्कि सरकारी स्कूलों, अदालतों, उपाधियों, सरकारी नौकरियों का बहिष्कार इसमें शामिल था। हड़ताल को भी एक प्रमुख अस्त्र के रूप में स्वीकार किया गया। इन समस्त कार्यकलापों का एकमात्र उद्देश्य यह था कि प्रशासन एकदम पंगु हो जाए।

कुछ आंदोलनकारियों का मानना था कि यदि चौकीदार, सिपाही, सहायक, मुंसिफ और क्लर्क काम करना बंद कर दें, तो मिनटों में देश में अंग्रेजी हुकमत ख़त्म हो जायेगी। इनका मानना था कि गोली, बंदूक और सिपाहियों को प्रशिक्षित करने की नौबत ही नही आयेगी और शांतिपूर्ण असहयोग आंदोलन से सफलता मिल जाएगी। लेकिन अरविंद घोष जैसे गरमपंथी नेता इस बात की वकालत करते रहे कि यदि ब्रिटिश सरकार दमन का रास्ता अपनाएगी, तो उसका हिंसक प्रतिरोध जायज होगा।

इस आंदोलन में संघर्ष की जितनी भी धाराएँ फटीं, उनमें सबसे अधिक सफलता विदेशी माल के बहिष्कार आंदोलन को मिली। यह आंदोलन सबसे अधिक लोकप्रिय और काफी सफल रहा। बंगाल व देश के दूर–दराज के हिस्सों में विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई और विदेशी कपड़े बेचनेवाली दुकानों पर धरने दिए गए। औरतों ने विदेशी चूड़ियाँ पहनना व विदेशी बर्तन का इस्तेमाल करना बंद कर दिया, धोबियों ने विदेशी कपड़े धोने से इनकार कर दिया। यहाँ तक कि महंतों ने विदेशी चीनी से बने प्रसाद को लेने से इनकार कर दिया। इस आंदोलन के चलते विशाल जनसभाओं और प्रदर्शनों की बाढ़ आ गई। जनमत तैयार करने का यह सबसे सशक्त तरीका सिद्ध हुआ। बड़े–बड़े शहरों से लेकर जिलों, कस्बों, गाँवों में जनसभाओं के आयोजन से जनता में राजनीतिक चेतना आई और स्वराज्य प्राप्ति के लिए आम जनता का मन मचलने लगा।

आत्म निर्भरता और स्वावलंबन का जयघोष –

स्वदेशी आंदोलन ने स्वयंसेवी संगठनों की सहायता से आंदोलन के लिए जनजागरण और जनमत तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण संगठन था 'स्वदेश बांधव समिति'। बारीसाल के एक अध्यापक अश्विनी कुमार दत्त के नेतृत्व में गठित इस समिति की 159 शाखाएँ पूरे जिले के दूर–दराज इलाकों में फैली थीं। अश्विनीकुमार दत्त बहुसंख्यक मुसलमान किसानों को आंदोलन के लिए प्रेरित करने में सफल हुए। जनता में राजनीतिक चेतना पैदा करने के लिए समिति ने उत्तेजक भाषणों और स्वदेशी गीतों का सहारा लिया, अपने सदस्यों को शारीरिक और नैतिक प्रशिक्षण दिया, अकाल और महामारी में राहत कार्य किया, स्कूल खोले, स्वदेशी दस्तकारी का प्रशिक्षण दिया और मुकद्दमे निबटाने के लिए पंच अदालतें बनाईं। अगस्त 1906 ई0 तक बारीसाल समिति ने 89 पंच अदालतों के ज़रिए 523 विवादों का निपटारा किया। बारीसाल समिति की जड़ें केवल बारीसाल तक ही सीमित नहीं थीं बल्कि ये बंगाल के

अन्य हिस्सों में भी फैली हुई थीं। अँग्रेजी हुकूमत इस समिति की बढ़ती लोकप्रियता और प्रभाव से बहुत चिंतित थी।

स्वदेशी आंदोलन ने अपने प्रचार के लिए पारंपरिक त्यौहारों, धार्मिक मेलों, लोक परंपराओं, लोक संगीत, लोक नाट्य मंचों का भी सहारा लिया। गणपति महोत्सव और शिवाजी जयन्ती को तिलक ने बहुत लोकप्रिय बनाया और इसके माध्यम से स्वदेशी आंदोलन का प्रचार–प्रसार किया। यह महज़ पश्चिमी भारत तक ही सीमित नहीं था, बंगाल में भी इन त्यौहारों के माध्यम से स्वदेशी आंदोलन का संदेश जनता तक पहुँचाया गया। लोक नाट्य परंपराओं के माध्यम से स्वदेशी आंदोलन का संदेश गाँवों, कस्बों व देश के दूर–दराज के इलाकों में भी पहुँचा। ऐसे लोगों तक भी पहुँचा, जो पहली बार आधुनिक राजनीतिक विचारों से परिचित हो रहे थे।

स्वदेशी आंदोलन की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने 'आत्म–निर्भरता', 'आत्मशक्ति' का नारा दिया। आंदोलनकारी नेताओं का मानना था कि सरकार के खिलाफ संघर्ष चलाने के लिए जनता में स्वावलंबन की भावना भरना बहुत जरूरी है। स्वावलंबन व आत्मनिर्भरता का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान, आदर और आत्मविश्वास के साथ जुड़ा था। गाँवों के आर्थिक व सामाजिक पुनरुत्थान के लिए गाँवों में रचनात्मक कार्य शुरू करने की ज़रूरत महसूस की गई। रचनात्मक कार्यों में सामाजिक सुधार लागू करना तथा जाति प्रभुत्व, बाल–विवाह, दहेज, शराबखोरी जैसी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ जिहाद छेड़ना शामिल था। आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी अथवा राष्ट्रीय शिक्षा की भी ज़रूरत बड़ी शिद्दत के साथ महसूस की गई। टैगोर के शांतिनिकेतन की तर्ज पर बंगाल नेशनल कॉलेज की स्थापना की गई और इसके प्राचार्य बने अरविंद घोष। देखते ही देखते बहुत थोड़े समय में ही पूरे देश में अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हो गई। अगस्त 1906 ई0 में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का गठन हुआ। जिसका उद्देश्य था "राष्ट्रीय नियंत्रण के तहत जनता को इस तरह का साहित्यिक, वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा देना, जो राष्ट्रीय जीवनधारा से जुड़ी हो।" शिक्षा का माध्यम वे देशी भाषाएँ बनीं, जो क्षेत्र विशेष में प्रचलित थीं। इन समस्त कार्यकलापों का उद्देश्य था कि शिक्षा घर–घर पहुँचे। तकनीकी शिक्षा के लिए 'बंगाल इंस्टिट्यूट' की स्थापना की गई। चंदा इकट्ठा कर कोष बनाया गया, जिससे छात्रों को ऊँची शिक्षा के लिए जापान भेजा जा सके।

आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी उद्योगों की ज़रूरत महसूस की गई। लगभग इसी समय पूरे देश में तमाम स्वदेशी कल–कारखाने स्थापित होने लगे। कपड़ा मिलें, साबुन, माचिस के कारखाने, चर्म उद्योग, बैंक, बीमा कंपनियाँ अस्तित्व में आई। हालाँकि इनमें से अधिकतर चल नहीं पाईं, क्योंकि इनके मालिक व्यापारिक चतुराई और जोड़–तोड़ जानते नहीं थे। उन्होंने तो महज़ देशभक्ति के नाते स्वावलंबन के उद्देश्य से इन कारखानों की स्थापना की थी। कुछ कारखाने अवश्य ज़िंदा रह पाए और अच्छा काम किया, जैसे आचार्य बी0सी0 राय की बंगाल केमिकल्स फैक्ट्री।

स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव –

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन का असर यह हुआ कि ब्रिटिश माल की खपत बहुत घट गई। कलकत्ता से प्रकाशित समाचारपत्र स्टेट्समैन ने उस वक्त जो रिपोर्ट छापीं, वह इस आंदोलन की सफलता पर बड़ा प्रकाश डालती हैं। एक बड़े व्यापारी ने उसके

प्रतिनिधि को बताया कि बाजार की हालत खराब है। कोई मी आदमी अंग्रेजी कपड़ा खरीदना नहीं चाहता। उसने यह भी कहा कि सितंबर 1904 के पहले पंद्रह दिनों में उसने 500 गांठ अंगरेजी कपड़ा बेचा था, लेकिन 1905 के उसी महीने के पहले पंद्रह दिनों में सिर्फ 125 गांठें ही बिकीं, और वह भी कीमत घटा देने पर। बंगाल के बटवारे के बाद ब्रिटिश माल की खपत और भी कम हो गई। कलकत्ता के चुंगी कलक्टर ने अपनी 8 सितंबर, 1906 की गुप्त रिपोर्ट में लिखा कि बायकाट आंदोलन की धार खासकर नमक, सूती कपड़े और संभवतः सूत, बूटों और जूतों तथा सिगरेटों के खिलाफ थी। उसने अगस्त 1905 और अगस्त 1906 के आंकड़े देकर बताया कि किस तरह ब्रिटिश माल का आयात कम पड़ गया है। इस रिपोर्ट से पता चलता है कि विदेशी नमक का आयात 1,40,000 मन कम पड़ गया, जबकि भारतीय नमक की खपत 48 हजार मन से बढ़कर 77 हजार मन हो गई। विदेशी कपड़ा 3 करोड़ गज कम मंगाया गया और रुई, और सूत के आयात में जो कमी हुई वह लगभग 1 करोड़ रुपए की थी। विदेशी जूतों का आयात 75 प्रतिशत और सिगरेट का आयात लगभग 50 प्रतिशत कम हो गया। स्टेट्समैन में सितंबर 1905 के मध्य काल में छपी निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है कि बंगाल के जिलों में किस प्रकार ब्रिटिश कपड़े की खपत कम पड़ गई थी –

जिला	सितम्बर 1904 में खरीदे गये माल का मूल्य (रू0 में)	सितम्बर 1905 में खरीदे गये माल का मूल्य (रू0 में)
जैसोर	30000	2000
बगुड़ा	1700	200
ढ़ॉका	5000	2000
आरा	1500	200
हजारीबाग	10000	500
नदिया	15000	2500
मालदा	8000	1300
बर्द्धमान	6000	1000

स्पष्टतः यह भारत के बायकाट और स्वदेशी प्रांदोलन के बढ़ते असर का परिणाम था। पुलिस रिपोर्ट के अनुसार इसी आंदोलन के प्रभाव से बर्न एण्ड कं०, भारत सरकार के प्रेस, बंगाल सरकार के प्रेस, फोस्ट ग्लोस्टर जूट मिल आदि में हड़ताल हुई। इस आंदोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम देशी उद्योगों का विकास था।

बायकाट और स्वदेशी आंदोलन की जान छात्र और नौजवान थे, इसलिए सरकार ने छात्रों को इस आंदोलन से अलग करने के लिए फौरन कदम उठाए। बंगाल सरकार की तरफ से सब जिला मजिस्ट्रेटों और कलक्टरों के पास 10 अक्टूबर, 1905 को एक गुप्त गश्ती पत्र भेजा गया। चूंकि इस पर बंगाल सरकार के कार्यवाहक चीफ सेक्रेटरी आर० डब्ल्यू० कारलाइल के हस्ताक्षर थे, इसलिए यह 'कारलाइल सरकुलर' के नाम से मशहूर

है। इस सरकुलर में मजिस्ट्रेटों और कलक्टरों को हिदायत दी गई थी कि वे सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों और कालेजों के प्रधानों को लिख भेजें कि अगर उन्होंने अपने विद्यार्थियों को इस आंदोलन में भाग लेने से न रोका तो सरकारी सहायता बंद कर दी जाएगी, उनके विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता में नहीं बैठने दिया जाएगा, विद्यार्थियों की छात्रवृत्तियां बंद कर दी जाएंगी और विश्वविद्यालय को हुक्म दिया जाएगा कि वह इन संस्थाओं को दी गई मान्यता वापस ले ले। इस सरकुलर में मजिस्ट्रेटों और कलक्टरों को यह भी आदेश दिया गया था कि वे छात्रों की तरफ से शांतिभंग की आशंका देखें तो स्कूलों और कालेजों के प्रधानों, शिक्षकों और व्यवस्थापकों को स्पेशल कांस्टेबुल के रूप में भरती कर लें और शांति स्थापना का भार उन पर दें। 24 अक्तूबर, 1905 को अब्दुल रसूल की अध्यक्षता में जनसभा हुई जिसमें विपिनचंद्र पाल जैसे प्रमुख नेताओं ने कारलाइल सरकुलर की निंदा की और स्वाधीन राष्ट्रीय शिक्षा का नारा बुलंद किया। इसके बाद 27 अक्तूबर को पटलडांगा में चारुचंद्र मल्लिक के निवासस्थान पर एक सभा रवींद्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में हुई। इस सभा में भूपेंद्रनाथ वसु, कृष्णकुमार मित्र, सतीशचंद्र मुखर्जी, विपिनचंद्र पाल, मनोरंजन गुह ठाकुरता जैसे प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। इस सभा में उपस्थित थे विभिन्न कालेजों के एक हजार से ज्यादा विद्यार्थी, जिन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे कारलाइल सरकुलर की धमकियों से न डरेंगे। इस सभा में विद्यार्थियों के इस फैसले का हार्दिक समर्थन किया गया। कुछ इसी प्रकार के सरकुलर ईस्टर्न बंगाल और असम सरकार ने भी जारी किये। इस सरकुलर के प्रतिक्रियास्वरूप 8 नवम्बर 905 ई0 को रंगपुर नेशनल स्कूल की स्थापना की गई जो उन दिनों सफल स्वदेशी आन्दोलन का प्रतीक बन गया।

बंगाल के विभिन्न जिलों में ब्रिटिश सरकार ने व्यापक रूप से दमन चक्र प्रारंभ कर दिया। सरकार शिक्षा विभाग का पूरा इस्तेमाल छात्रों को बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन से दूर रखने के लिए कर रही थी। शिक्षकों को पुलिस का काम करने का हुक्म दिया जा रहा था और इनकार करने वाले को बर्खास्त करने की धमकी दी जा रही थी। सरकार के इस दमन कार्यवाही के चलते कितने ही छात्र और शिक्षक स्कूलों से हटा दिये गये। लेकिन इन सबके बावजूद स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन का दायरा बढ़ता ही गया।

अन्य प्रदेशों में स्वदेशी आंदोलन –

बंगभंग को लेकर बायकाट, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा का जो आंदोलन चला, वह सिर्फ बंगाल तक सीमित नही था। देखते ही देखते बहिष्कार व स्वदेशी आंदोलन का संदेश पूरे देश में फैल गया। लोकमान्य तिलक ने पूरे देश में, विशेषकर बंबई और पुणे में, इस आंदोलन का प्रचार किया। अजीत सिंह और लाला लाजपतराय ने पंजाब व उत्तरप्रदेश के अन्य क्षेत्रों में इस आंदोलन को पहुँचाया। उत्तर भारत में रावलपिंडी, काँगड़ा, मुल्तान और हरिद्वार में स्वदेशी आंदोलन ने खूब जोर पकड़ा। सैयद हैदर रजा ने दिल्ली में इस आंदोलन का नेतृत्व किया। चिदंबरम पिल्लै ने मद्रास प्रेसीडेंसी में इसका नेतृत्व किया जहाँ बिपिनचंद्र पाल ने अपने भाषणों से इस आंदोलन को और मज़बूत बनाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी स्वदेशी आंदोलन के लिए काम करना शुरू किया। 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के बनारस अधिवेशन ने स्वदेशी आंदोलन का समर्थन किया। लोकमान्य तिलक, बिपिनचंद्र पाल, लाला लाजपतराय और अरविद घोष

जैसे गरमपंथी नेताओं के समर्थक इस आंदोलन को पूरे देश में फैलाना चाहते थे। वे महज स्वदेशी आंदोलन व बहिष्कार आंदोलन से ही संतुष्ट नहीं थे वरन् इसे एक राजनीतिक जनसंघर्ष का रूप देना चाहते थे। बदली हुई परिस्थितियों में बंगाल विभाजन को समाप्त करने की माँग अब अब कोई बडा मसला नही था बल्कि अब आन्दोलनकारियों का लक्ष्य था 'स्वराज्य' लेकिन नरमपंथी नेता अभी इसके लिए तैयार नहीं थे।

बंगाल सरकार के गुप्तचर विभाग की गुप्त रिपोर्ट में स्पष्ट स्वीकार किया गया कि – 'बायकाट और स्वदेशी आंदोलन ने 1905 के अंत तक अखिल भारतीय चरित्र धारण कर लिया। गुप्तचरों की इन रिपोर्टों में कहा गया है कि बंबई प्रेसीडेंसी में इस आंदोलन के नेता बाल गंगाधर तिलक और एस०एम० परांजपे, तिलक की पुत्री श्रीमती केतकर और एक अन्य महिला श्रीमती ए० वी० जोशी आदि थे। इसके प्रचार में विष्णु गोविंद बीजापुरकर और महादेव राजाराम बोदास सक्रिय थे। पंजाब में इसके चार प्रधान नेता थे– जयपाल, राम गंगाराम, आर्यसमाज के पं० चंद्रिकादत्त और मुंशीराम, जो उस वक्त जालंधर में आर्यसमाजी वकील थे और बाद में स्वामी श्रद्धानंद के नाम से विख्यात हुए। मद्रास प्रेसीडेंसी में इसके नेता सुब्रह्मण्यम अय्यर, पी० आनंद चालू और टी० एम० नायर थे। स्वदेशी आंदोलन के कारण बंबई और अहमदाबाद की कपड़ा मिलों के कपड़े की मांग बेहद बढ़ गई। इन मिलों ने सिर्फ कलकत्ता के व्यापारियों के हाथों अगस्त–सितंबर 1905 में 1,00,000 गांठ कपड़ा बेचा। इतना कपड़ा पहले छः–सात महीने में बिकता था। लाहौर और हरद्वार के पंडों ने विदेशी चीनी की बनी मिठाइयां लेने से इनकार किया। पुरी के 100 साधुत्रों ने सभा कर सारे भारत में स्वदेशी का प्रचार करने की प्रतिज्ञा की। जगन्नाथ मंदिर के हाल में सभा कर पंडों ने विदेशी वस्तुओं का बायकाट करने और स्वदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल करने की प्रतिज्ञा की। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार बंगाल के बाहर तिलक और लाजपतराय जैसे नेता काफी पहले से करते आ रहे थे।

सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

स्वदेशी आंदोलन का सबसे अधिक प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र में दिखाई पडता है। बॉग्ला साहित्य, विशेषकर काव्य के लिए तो यह स्वर्णकाल था। रवींद्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन, द्विजेंद्रलाल राय, मुकुंद दास, सैयद अबू मुहम्मद इत्यादि के उस समय के लिखे गीत, क्रांतिकारी आतंकवादियों, नरमपंथियों, गाँधीवादियों और साम्यवादियों सबके लिए प्रेरणास्रोत बने और आज भी ये गीत उतने ही लोकप्रिय हैं। टैगोर ने उस समय 'बाँग्लादेश' के स्वाधीनता संघर्ष को और तेज़ करने के लिए प्रेरणास्रोत जो गीत लिखा था – 'आमार सोनार बांगला' वह 1971 में बाँगलादेश का राष्ट्रगान बना। ग्रामीण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उस समय लोकप्रिय बॉग्ला लोक संगीत पर स्वदेशी आंदोलन की गहरी छाप पड़ी और तमाम लोककथाएँ लिखी गई। दक्षिणारंजन मित्र मजुमदार की लिखी हुई 'ठाकुरमार झुली' (दादी माँ की कथाएँ) आज भी बंगाली बच्चों को आह्लादित करती हैं।

कला के क्षेत्र में यही वह समय था, जब अवनींद्रनाथ टैगोर ने भारतीय कला पर पाश्चात्य आधिपत्य को तोड़ा और मुग़लों, राजपूतों की समृद्ध स्वदेशी पारंपरिक कलाओं व अजंता की चित्रकला से प्रेरणा लेनी शुरू की। 1906 ई0 में स्थापित 'इंडियन सोसाइटी

ऑफ ओरिएंटल आर्ट्स' (भारतीय प्राच्यकला संस्था) की पहली छात्रवृत्ति भारतीय कला के मर्मज्ञ नंदलाल बोस को मिली। विज्ञान के क्षेत्र में जगदीशचंद्र बोस, प्रफुल्लचंद्र राय इत्यादि की उल्लेखनीय सफलताएँ, आविष्कार, स्वदेशी आंदोलन को और भी मजबूत बनाने लगे।

बहुआयामी कार्यक्रमों और गतिविधियों वाले इस स्वदेशी आंदोलन ने पहली बार समाज के एक बहुत बड़े तबके को अपने दायरे में लिया। जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा पहली बार सक्रिय राष्ट्रवादी राजनीति में भागीदार बना। राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक दायरा काफी फैला और इसमें कुछ जमींदार शहरी निम्न मध्यवर्ग के लोग तथा छात्र शरीक हुए, पहली बार औरतें घर से बाहर निकली, प्रदर्शन में हिस्सा लेने लगीं, धरने पर बैठने लगीं। यही वह समय था, जब पहली बार मजदूर वर्ग की आर्थिक कठिनाइयों को राजनीतिक स्तर पर उठाया था था और उसे राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा गया। आंदोलनकारी नेता, जिनमें कुछ तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी लहर (जर्मनी और रूस) से प्रभावित थे, विदेशी मालिकों के कारखानों में हड़ताल आयोजित कराने लगे। ईस्टर्न रेलवे और क्लाइव जूट मिलें इसका उदाहरण हैं।

जहाँ तक किसानों, विशेषकर निचले तबके के किसानों को आंदोलन के लिए तैयार करने की बात है, कहा जाता है कि स्वदेशी आंदोलन इस मामले में असफल रहा। केवल बारीसाल इसका अपवाद माना जाता है। लेकिन स्वदेशी आंदोलन ने छिटपुट जगहों पर जितने किसानों को आंदोलन के लिए तैयार किया या उनमें राजनीतिक चेतना जगाई वह अपने आप में आंदोलन की बहुत बड़ी सफलता थी क्योंकि स्वदेशी आंदोलन वास्तव में भारत में आधुनिक राजनीति की शुरुआत थी। समूचे किसान तबके को राजनीतिक संघर्ष के लिए तैयार न कर पाने की बात केवल स्वदेशी आंदोलन के साथ ही नहीं जुड़ी है। स्वदेशी आंदोलन के बाद भारत में जो भी आंदोलन हुए वे समूचे किसान तबके को प्रभावित नहीं कर सके। इनकी गतिविधियाँ भी क्षेत्र विशेष में सिमट कर रह गईं। यह सच है कि किसान आंदोलनों के लिए, किसानों की माँगों के लिए किसानों को बड़े पैमाने पर संगठित नहीं किया जा सका, और किसान राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से जुड़ नहीं सके। लेकिन इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वदेशी आंदोलन ने बैठकों, जनसभाओं, यात्राओं, प्रदर्शनों इत्यादि के माध्यम से किसानों के एक बड़े तबके को आधुनिक राजनीतिक विचारधारा से परिचित कराया।

सांप्रदायिकता का दंश –

जहाँ तक मुसलमानों का सवाल है, स्वदेशी आंदोलन समाज के विभिन्न तबकों के कुछ मुसलमानों को ही अपने साथ ले सका। बहुसंख्यक मुसलमानों ने साथ नहीं दिया, विशेषकर खेतिहर मुसलमानों ने। इसका प्रमुख कारण अँग्रेजी हुकूमत द्वारा मुसलमानों में सांप्रदायिकता का ज़हर घोलना था। ब्रिटिश सरकार स्वदेशी आंदोलन को कमज़ोर करने के लिए समय–समय पर मुसलमानों को भड़काती रही और उनमें सांप्रदायिकता का ज़हर घोलती रही। दरअसल बंगाल की तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत उस समय बंगाल के अधिकतर हिंदू भूस्वामी थे और मुसलमान खेतिहर मजदूर। अँग्रेज़ों ने मुसलमानों को खूब भड़काया और यही वह समय था, जब ब्रिटिश सरकार के इशारे पर 'आल इंडियन मुस्लिम लीग' का गठन हुआ। ढाका के नवाब सलीमुल्लाह खाँ का

इस्तेमाल स्वदेशी आंदोलन के विरोधी के रूप में किया गया। सांप्रदायिक ताकतों ने स्वदेशी आंदोलन को कमजोर करने के लिए मुल्लाओं और मौलवियों का इस्तेमाल करना शुरू किया और जब स्वदेशी आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ रहा था तभी बंगाल में सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे।

सांप्रदायिकता के ज़हर ने तो स्वदेशी आंदोलन को नुकसान पहुँचाया ही, खुद इस आंदोलन के कुछ गलत तरीकों से भी इसे क्षति पहुँची हालाँकि आंदोलनकारियों ने इन तरीकों का इस्तेमाल बड़ी ईमानदारी से अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया था। ऐसे पारंपरिक रीति–रिवाज़ों, त्यौहारों और संस्थाओं का सहारा लेना, जिनका चरित्र बहुत हद तक धार्मिक था आंदोलन के लिए नुकसानदेह साबित हुआ। हालाँकि दुनिया में हर जगह जनता में पहली बार राजनीतिक चेतना पैदा करने के लिए इन्हीं चीज़ों का सहारा लिया जाता रहा है, किंतु तत्कालीन भारत की सामाजिक व्यवस्था शेष दुनिया से काफ़ी भिन्न थी। जिस देश में स्वयं सरकार सांप्रदायिकता को भड़का रही हो, वहाँ धार्मिक रीति–रिवाजों और धार्मिक संस्थानों का सहारा लेना खतरनाक होता है। भारत में यही हुआ, सांप्रदायिक ताकतों ने स्वदेशी आंदोलन के उद्देश्यों को विकृत ढंग से पेश किया। सदियों के भाई–चारे व मेल–मिलाप से उपजी सांस्कृतिक परंपराओं पर भी इन सांप्रदायिक ताकतों ने सांप्रदायिक रंग चढ़ा दिया। इसी कारण दुर्भाग्य से बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमान स्वदेशी आंदोलन में शरीक नहीं हुए और कुछ तो सांप्रदायिक राजनीति के शिकार हो गए।

आन्दोलन समाप्ति की ओर –

1908 के मध्य तक आते–आते अनेक कारणों से स्वदेशी आंदोलन की ऊर्जा खत्म हो गई। पहली बात तो यह कि आंदोलन के ख़तरे को सरकार भाँप गई और उसने इसे निर्ममतापूर्वक दबाना शुरू किया। दमनचक्र शुरू हो गया। सार्वजनिक सभाओं, प्रदर्शनों और प्रेस पर प्रतिबंध लगाए जाने लगे। आंदोलन के समर्थक छात्रों को सरकारी स्कूलों से निकाला जाने लगा, सरकारी नौकरियों के दरवाज़े इनके लिए बंद होने लगे, इन पर जुर्माना किया गया और पुलिस ने बेरहमी से पिटाई की। बारीसाल सम्मेलन (1906) में पुलिस ने जिस निर्ममता से लोगों की पिटाई की थी वह अपने आप में इस बात का सबूत है कि सरकार आंदोलन के प्रति क्या रवैया अपनाए हुए थी।

दूसरा कारण था कांग्रेस पार्टी में आपसी मतभेद। 1907 के कांग्रेस विभाजन ने स्वदेशी आंदोलन को बहुत क्षति पहुँचाई हालाँकि स्वदेशी आंदोलन का दायरा बंगाल के बाहर तक फैला था, लेकिन बंगाल को छोड़ देश का बाकी हिस्सा आधुनिक राजनीतिक विचारधारा व संघर्ष को अपनाने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। अँग्रेजी हुकूमत ने इसका फायदा उठाया और दमनचक्र चालू हो गया। 1907 से 1908 के बीच बंगाल के नौ बड़े नेता जिनमें अश्विनीकुमार दत्त और कृष्णकुमार मिश्र भी थे, निर्वासित कर दिए गए। तिलक को छह वर्ष की कैद हुई। पंजाब के अजीत सिंह और लाजपतराय को निर्वासित किया गया, तथा मद्रास के चिदंबरम पिल्लै एवं आंध्र के हरिसर्वोत्तम राव को गिरफ्तार कर लिया गया। बिपिनचंद्र पाल और अरविंद घोष ने सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया। इस प्रकार एकाएक समूचा आंदोलन नेतृत्वविहीन हो गया।

तीसरा कारण यह था कि स्वदेशी आंदोलन के पास कोई प्रभावी संगठन नहीं था। आंदोलन ने तमाम गाँधीवादी तरीके, जैसे अहिंसक असहयोग, जेल भरो आंदोलन, सामाजिक सुधार, गाँवों में रचनात्मक कार्य इत्यादि अपनाए लेकिन संगठन के अभाव में आंदोलन इन तरीकों को कोई अनुशासित केंद्रीय दिशा देने में असफल रहा। इन तमाम तरीकों को अनुशासित ढंग से अमली जामा नहीं पहनाया जा सका, जैसा कि बाद में गाँधीजी ने किया।

आखिरी बात यह है कि कोई जनांदोलन लगातार नहीं चल सकता। इसमें एक ठहराव आता ही है, जब क्रांतिकारी शक्तियाँ अगले संघर्ष के लिए तैयारी करती हैं, जनमत तैयार करती हैं। इस स्वदेशी आंदोलन के बाद भी ऐसा ही हुआ।

1908 के मध्य में जब यह आंदोलन खत्म हुआ तो इसके कुछ समय बाद क्रांतिकारी आतंकवाद की शुरुआत हुई। स्वदेशी आंदोलन ने नौजवानों के भीतर संघर्ष की चिनगारी सुलगाई थी। राष्ट्रीयता व सामूहिक राजनीतिक संघर्ष का पाठ पढ़ाया था, लेकिन इस समय ये क्रांतिकारी युवक अपने को अकेला पा रहे थे। स्वदेशी आंदोलन समाप्तप्राय था और अँग्रेजी हुकूमत बेइंतहा जुल्म ढाती जा रही थी। निराश युवकों ने अलग–अलग अपने–अपने ढंग से आतंकवादी गतिविधियों का सहारा लिया।

इस प्रकार स्वदेशी आंदोलन की समाप्ति के साथ भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक युग समाप्त हो गया। यह कहना गलत होगा कि स्वदेशी आंदोलन असफल रहा। आंदोलन ने समाज के उस बड़े तबके में राष्ट्रीयता की चेतना का संचार किया जो उससे पहले राष्ट्रीयता के बारे में अनभिज्ञ था। इसने राष्ट्रवाद को एक नई और स्पष्ट शक्ल दी। स्वदेशी से जुडी भावनाओं ने लोगों में देशप्रेम की भावना उत्पन्न की। कांग्रेस में गरम दल का अभ्युदय भी इसी आन्दोलन का परिणाम था। इस आन्दोलन को कुचलने के सरकारी प्रयासों से भारत में हिंसात्मक राष्ट्रवाद को बल किया। इस आंदोलन ने औपनिवेशिक विचारधारा तथा ब्रिटिश हुकूमत को काफ़ी हद तक क्षति पहुँचाई और सांस्कृतिक जीवन को जितना प्रभावित किया उसकी इतिहास में मिसाल मिलनी मुश्किल है।

इस आंदोलन ने जनमत तैयार करने के अनेक नए तरीके ईजाद किए हालाँकि इन तरीकों को वह खुद अच्छी तरह इस्तेमाल न कर सका लेकिन स्वदेशी आंदोलन की सफलता को सिर्फ इसी तर्क पर नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यही संघर्ष भावी राष्ट्रीय आंदोलन की नींव बना। स्वदेशी आंदोलन उपनिवेशवाद के खिलाफ़ पहला सशक्त राष्ट्रीय आंदोलन था, जो भावी संघर्ष का बीज बोकर ही ख़त्म हुआ। इस प्रकार बंगभंग विरोधी मुहिम में बहिष्कार व स्वदेशी आन्दोलन से राष्ट्रीय आन्दोलन को सुदृढ़ता प्राप्त हुई और इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन में इसे शीर्ष स्थान प्राप्त है।

सूरत में कांग्रेस का विभाजन, 1907

भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ कांग्रेस का सूरत विभाजन था। बंगभंग के बाद उत्पन्न परिस्थिति का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि इंडियन नेशनल कांग्रेस के अंदर उदारवादियों और उग्र राष्ट्रवादियों के बीच विरोध तीव्र हो गया और 1907 ई0 में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गए। उन दोनों ने अलग अलग रास्तों

पर चलना शुरू किया और नौ साल तक वे अलग–अलग काम करते रहे। बंगाल के विभाजन के बाद ही 1905 ई0 में कांग्रेस का अधिवेशन बनारस में गोखले की अध्यक्षता में हुआ। यह अधिवेशन उस वक्त हुआ जब ब्रिटिश शासकों के मनमाने कारनामों के कारण सारे देश में इतना असंतोष पैदा हो गया था जितना लिटन के शासनकाल के बाद कभी पैदा न हुआ था। लार्ड कर्जन के दुबारा प्रशासन काल में भारत के जनमत को बुटों तले रौंदते हुए एक के बाद एक काले कानून पास किए गए थे। ब्रिटिश शासकों की इस मनमानी के कारण कितने ही नरमदली नेता मी गरम हो गए थे। किंतु इतने पर भी कांग्रेस के तथाकथित उदारवादी नेता बंगाल में शुरू हुए आंदोलन को सारे देश में फैला देने को तैयार न थे। वे बहिष्कार और स्वदेशी आंदोलन को बंगाल तक ही सीमित रखना चाहते थे। फलतः उनके और गरपंथियों के बीच विरोध बढ़ना स्वाभाविक था।

कांग्रेस विभाजन की पृष्ठभूमि :

बनारस कांग्रेस में उदारवादियों और उग्र राष्ट्रवादियों के बीच पहली भिड़ंत सब्जेक्ट्स कमेटी की बैठक में प्रिन्स आफ वेल्स जार्ज पंचम के स्वागत के प्रस्ताव पर हुई। उदारवादी प्रिंस आफ वेल्स का हार्दिक स्वागत करते हुए एक प्रस्ताव पास कराना चाहते थे। उन्होंने इस प्रस्ताव का मसविदा सब्जेक्ट्स कमेटी में पेश किया। लाला लाजपतराय और तिलक ने इसका विरोध किया। लंबी और कटु बहस के बाद उदारवादियों ने प्रस्ताव पास करा लिया। इस पर उग्र राष्ट्रवादियों ने ऐलान किया कि वे इस प्रस्ताव का विरोध कांग्रेस के खुले अधिवेशन में करेंगे। उनकी इस घोषणा के बाद कांग्रेस के बनारस अधिवेशन ने बंगाल के बायकाट आंदोलन पर प्रस्ताव पास किया। मदनमोहन मालवीय ने इसे पेश किया श्रौर लाजपतराय ने इसका समर्थन किया। इस प्रस्ताव में बंगभंग के विरुद्ध आंदोलन पर सरकारी दमन के खिलाफ प्रतिवाद किया गया था। प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ, लेकिन बायकाट के संबंध में उदारवादियों और उग्र राष्ट्रवादियों के बीच विरोध छिपा न रहा। कांग्रेस की रिपोर्ट में स्वीकार किया गया है कि सब्जेक्ट्स कमेटी की बैठक में ये फर्क उभरकर आ गए थे और खुले अधिवेशन में मालवीय जी ने स्पष्ट कहा कि वह बायकाट के पक्ष में नहीं हैं।" नरमपंथियों के सुर के बिल्कुल खिलाफ सुर उग्र–राष्ट्रवादियों का था।

नरमपंथियों और उग्र–राष्ट्रवादियों के बीच दरार 1906 ई0 में और भी बढ़ गई। उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था। इस अधिवेशन के प्रायः छः महीने पहले तिलक ने 'कांग्रेस के काम की दिशा' शीर्षक लेख 'केसरी' के 10 जुलाई, 1906 के अंक में लिखा । इस लेख में उन्होंने आवेदन निवेदन के तरीके की व्यर्थता की ओर संकेत किया और कांग्रेस की नीति में परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होंने अनुरोध किया कि कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर फैसला लिया जाना चाहिए। उन्होंने लिखा कि– कोई भी कांग्रेस को तोड़ना नहीं चाहता, लेकिन प्रश्न है कि क्या कांग्रेस को यह कहने के लिए कि 'हम ये चीजें चाहते' वर्ष में एक बार सम्मेलन कर और ज्यादा मांगने के लिए इंग्लैंड एक प्रतिनिधिमंडल भेजकर ही संतुष्ट रहना चाहिए ? बाल गंगाधर तिलक का सुझाव था कि लाला लाजपतराय को कलकत्ता कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाए। खापर्डे इस सुझाव का समर्थन कर रहे थे। विपनिचंद्र पाल और उनके विचार के लोग तिलक को इसका अध्यक्ष बनाना चाहते थे किंतु उग्र–राष्ट्रवादियों को कांग्रेस के अध्यक्ष पद से दूर रखने के लिए उदरवादियों ने इस बार भी बड़ी

तिकड़मबाजी की। स्वागत समिति की राय लिए बिना ही उसके अध्यक्ष भूपेंद्रनाथ वसु ने दादाभाई नौरोजी को कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बनने को लिख भेजा। इस प्रकार 81 वर्ष के इस वयोवृद्ध नेता को तिकड़म से उदारवादियों ने कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बना दिया। खासकर इस अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए दादाभाई नौरोजी विलायत से भारत आए। ऐसी स्थिति में उग्र–राष्ट्रवादियों ने इनका विरोध करना अनुचित समझा।

कलकत्ता अधिवेशन में उग्र–राष्ट्रवादी चाहते थे कि बहिष्कार के अस्त्र को सारे भारत में इस्तेमाल करने का फैसला किया जाए, लेकिन उदारवादी उसे सिर्फ बंगाल तक ही सीमित रखना चाहते थे। दोनों पक्षों में इस बात को लेकर सब्जेक्ट्स कमेटी में खूब गरमागरम बहस हुई। नरम और गरम दल के बीच उस वक्त झगड़े ने किस तरह उग्र रूप धारण कर लिया था, इसका खुलासा होमी मोदी के लेख में मिलता है जो उस समय अधिवेशन में उपस्थित थे। उदारवादियों के दृष्टिकोण को उपस्थित करते हुए होमी मोदी ने फीरोजशाह मेहता की जीवनी में लिखा है कि –

''बंगाल के प्रतिनिधि नागपुर और दक्षिण के प्रतिनिधियों के एक हिस्से की सहायता से राजनीतिक अस्त्र के रूप में बायकाट के इस्तेमाल को न्यायसंगत ठहराना चाहते थे और उसके इस्तेमाल के दायरे को विस्तृत कर अन्य प्रांतों में भी ले जाना चाहते थे। लेकिन फिरोजशाह के नेतृत्व में उदारवादियों ने एक प्रस्ताव पास कर बायकाट के दायरे को घटाकर उसे प्रतिवाद के एक कदम के रूप में, जो बंगभंग की वजह से न्यायसंगत था, स्वीकार कराने में सफल हुए। सब्जेक्ट्स कमेटी में बायकाट प्रस्ताव के पास होने के साथ–साथ तुफानी दृश्य देखे गए। फीरोजशाह और दूसरों का बुरी तरह अपमान किया गया और यहां तक कि वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी भी उग्रवादियों के कटु तीरों की बौछार से न बच सके। नए दल के ज्यादा गरम तत्व गुस्से से होहल्ला मचा रहे थे। आखिर में वे विपिनचंद्र पाल और उनके सहायक खापर्डे के नेतृत्व में एक साथ उठकर सभा से चले गए।"

लाला लाजपतराय ने दोनों पक्षों में समझौता कराने की कोशिश की। गरम दल की बैठक में उन्होंने धैर्य और शांति से काम लेने की सलाह दी, लेकिन बंगाल के उग्र–राष्ट्रपंथियों ने उनकी इस सलाह की अवहेलना की। वह स्वीकार करते हैं कि फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले औौर मदनमोहन मालवीय पर खुलकर हमला किया गया। उन्होंने लिखा है कि– ''मुझे लगा कि दोनों गुटों के रुख के बीच सिर्फ शब्दों का अंतर था। इसलिए मैंने एक संशोधन पेश किया जिसे यद्यपि उग्रवादी नेतात्रों ने स्वीकार नहीं किया, लेकिन बहुमत ने पास कर दिया। विपिनचंद्र पाल और उनका दल सभा छोड़कर चला गया। नरमपंथियों के नेता गोखले मुझसे प्रसन्न हुए और बोले, आपने स्थिति संभाल ली है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर दादाभाई नौरोजी ने अध्यक्ष बनना स्वीकार न कर लिया होता और अगर मैंने हस्तक्षेप न किया होता, तो आगामी वर्ष जो कुछ सूरत हुआ, वह कलकत्ता कांग्रेस में ही हो जाता।''

विपिनचंद्र पाल का मानना था कि बायकाट सिर्फ ब्रिटिश माल तक ही सीमित नहीं है। इसका तात्पर्य यह भी है कि सरकार के साथ सारे संबंध त्याग दिए जाएं, सब अवैतनिक पद छोड़ दिए जाएं, स्थानीय निकायों और विधानसभा से इस्तीफा दे दिया जाए। गोखले ने इस व्याख्या पर ऐतराज किया और प्रस्ताव को फिर से सुनाकर कहा – 'अगर आप

लोगों में से कोई इससे आगे जाना चाहते हैं तो खुशी से जाइए, लेकिन कांग्रेस का नाम लेकर मत जाइए। अन्य प्रांतों में बायकाट के इस्तेमाल का विरोध पंडित मदनमोहन मालवीय, एल0 ए0 गोविंदराघव अय्यर और ए0 चौधुरी ने किया। मालवीय जी ने विपिनचंद्र पाल की व्याख्या का तीव्र विरोध किया। इसी तरह स्वदेशी प्रांदोलन के संबंध में स्वीकृत प्रस्ताव की व्याख्या और सीमा को भी लेकर भी नरम और गरम दल में मतभेद देखा गया। नरम दल की तरफ से आनंद चार्लू ने यह प्रस्ताव पेश किया और धनिकों से स्वदेशी माल के इस्तेमाल की अपील की। लेकिन तिलक ने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए बताया कि विदेशी माल का सबसे ज्यादा इस्तेमाल करनेवाले मध्यवर्ग के लोग हैं। इन लोगों को चाहिए कि वे विदेशी माल को छोड़कर स्वदेशी माल का इस्तेमाल करें। तिलक ने भारतवासियों से अपील की कि वे अपने नीहित स्वार्थों को छोड़ दें और आत्मनिर्भर बनें।

उदरवादियों और उग्र–राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोणों और उद्देश्यों का अंतर स्पष्ट था। उग्र–राष्ट्रवादियों को ब्रिटिश शासकों के वादों में कोई भी विश्वास नहीं रह गया था, किंतु उदारवादी अब भी उनमें विश्वास करते थे। उग्र–राष्ट्रवादी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आंदोलन के रास्ते पर जाना चाहते थे, लेकिन उदारवादी आवेदन निवेदन से आगे नहीं जाना चाहते थे। उग्र–राष्ट्रवादी कांग्रेस पर अधिकार कर उसे ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध संग्राम का हथियार बना देना चाहते थे, लेकिन उदारवादी उस पर अपना कब्जा छोड़ने को कतई राजी न थे। ये मतभेद ज्यादा दिन तक छिपे न रह सके और बाल गंगाधर तिलक ने 2 जनवरी 1907 ई0 को कलकत्ते में भाषण देते हुए स्पष्ट घोषणा की कि– हम लोगों ने सरकार के परोपकारी इरादों में विश्वास किया था, लेकिन राजनीति में परोपकार के लिए कोई स्थान नहीं होता। परोपकार का इस्तेमाल अपने स्वार्थों की घोषणाओं पर चीनी की परत चढ़ाने में किया जाता है। उन दिनों हमें उन इरादों ने ठगा जो ऊपर से देखने में परोपकारी लगते थे, लेकिन जिनके नीचे घोर स्वार्थ छिपे हुए थे।..... मैं अपने घर की चाभी अपने हाथ में लेना चाहता हूँ, सिर्फ परदेसियों को घर से निकालना ही नहीं चाहता। स्वराज्य हमारा लक्ष्य है और हम अपने प्रशासन तंत्र पर अपना कब्जा चाहते हैं।

उग्र–राष्ट्रवादियों के दूसरे बड़े नेता विपिनचंद्र पाल ने 1887 ई0 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में ग्राम्स ऐक्ट के वापस लेने की मांग करते हुए भी ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी वफादारी का इजहार किया था। लेकिन उन्हीं विपिनचंद्र पाल का सुर 1907 में बिल्कुल बदल गया और मद्रास में भाषण देते हुए उन्होंने साफ स्वीकार किया कि इतने दिन तक वह भ्रम में थे कि इंग्लैंड ईमानदारी से भारत की राजनीतिक मुक्ति के लिए काम कर रहा है और एक दिन भारत को वह स्वतंत्र राष्ट्र बना देगा, लेकिन अब वह भ्रम पूरी तरह दूर हो गया है। अरविंद घोष ने स्पष्ट स्वीकार किया कि उनका लक्ष्य कांग्रेस पर कब्जा करना और उसे क्रांतिकारी संग्राम के अस्त्र का रूप देना था।

कांग्रेस की गतिविधि पर नजर रखनेवाले वेडरबर्न ने लंदन से ही देख लिया था कि उग्र–राष्ट्रवादी कांग्रेस पर कब्जा करने की कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने 8 अगस्त, 1906 को गोखले को पत्र लिखकर सलाह दी थी कि तिलक और उनके दोस्तों को भी कांग्रेस को चलाने का अवसर दिया जाए। किंतु फिरोज शाह मेहता और डी0 वाचा कांग्रेस के अध्यक्ष का पद तिलक और लाजपतराय को देना तो दूर उलटे वे परोक्ष रूप से धमकी

देते थे कि अगर अध्यक्ष का पद किसी भी उग्र–राष्ट्रवादी के हाथ में गया तो वे अपना संबंध कांग्रेस से विच्छेद कर लेंगे।

सूरत में कांग्रेस का औपचारिक विभाजन –

कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन, 1906 के समाप्त होने के बाद से ही उसके आगामी अधिवेशन पर कब्जे के लिए उदरवादियों और उग्र–राष्ट्रवादियों के बीच प्रतियोगिता शुरू हो गई। नरम दल वाले हर तरह से कांग्रेस पर अपना कब्जा बनाए रखने पर तुले थे और गरम दल वाले उन्हें हटाकर कांग्रेस का नेतृत्व अपने हाथ में लेने पर तुले थे। बंगाल के उग्र–राष्ट्रवादियों का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए अरविंद घोष अपने जीवन में पहली बार खुलकर राजनीति के मैदान में आए। कलकत्ता कांग्रेस में फैसला हुआ था कि कांग्रेस का 1907 का अधिवेशन नागपुर में होगा। उदारवादियों ने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए अब उग्र–राष्ट्रवादियों को कार्यकारिणी समिति से, जिसका गठन पहले ही हो चुका था, निकालना प्रारंभ किया जिसके परिणामस्वरूप दोनों के बीच झगड़ा बढ़ गया। 22 सितंबर को स्वागत समिति की बैठक में दोनों के बीच इतना झगड़ा हुआ कि उदारवादियों ने कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में करने का विचार छोड़ दिया और उसे अपने गढ़ सूरत में करने का फैसला किया।

वास्तव में सूरत बी0जी0 तिलक का गृहनगर था और कांग्रेस के नियमों के अनुसार, वह अपने गृह प्रांत में अध्यक्ष नहीं हो सकते थे। सूरत की स्वागत समिति में उदारवादियों का प्रबल बहुमत था और उन्होने रासबिहारी घोष को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना। उग्र–राष्ट्रवादी मांडले में छः महीने नजरबंदी के दिन बिताकर आनेवाले लाला लाजपतराय को इस पद के लिए खड़ा करना चाहते थे, लेकिन स्थिति प्रतिकूल देखकर उन्होंने अनिच्छा जाहिर की। ऐसी हालत में उग्र–राष्ट्रवादियों ने बारीसाल के अश्विनी कुमार दत्त का नाम पेश किया।

उदारवादियों के अनुसार उग्र–राष्ट्रवादी कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में लड़ाई के लिए पूरी तैयारी करके आए थे। इतिहासकार अयोध्या सिंह ने ''भारत का मुक्ति संग्राम'' में लिखा है कि – एक तरफ उग्रवादी लाठियों से लैस कुछ लोगों को ले आए थे तो दूसरी तरफ स्वागत समिति ने भी बोहरा मुस्लिम गुंडे मंगाए थे और उन्हें पंडाल के भीतर और चारों तरफ तैनात कर रखा था। उनके हाथ में भी मोटी–मोटी लाठियां थीं। लगता है कि पुलिस को भी बुलाकर पहले ही से तैयार रखा गया था। उग्र–राष्ट्रवादियों को संदेह था कि उदारवादी स्वदेशी, बायकाट, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य के बारे में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के फैसलों को बदल देना चाहते हैं। उग्र–राष्ट्रवादियों को यह भी संदेह था कि उदारवादी अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए कांग्रेस के विधान में ही परिवर्तन करना चाहते हैं।

लाला लाजपतराय, मोतीलाल घोष, बी०सी० चटर्जी, लाला हरिकिशनलाल आदि ने दोनों दलों के बीच समझौता कराने की भरसक कोशिश की। 28 दिसंबर को सुबह तिलक राजी हो गए कि वह डा० रासबिहारी घोष के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव का विरोध न करेंगे अगर उनकी दो शर्तें मान ली जाएं। पहली यह कि कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन ने स्वराज, स्वदेशी, बायकाट और राष्ट्रीय शिक्षा के बारे में जो प्रस्ताव पास किए थे, उन पर डटा रहा जाए और फिर उन्हें पास किया जाए। दूसरा यह कि डा० घोष के भाषण

के जिस अंश में उग्र–राष्ट्रवादियों पर आक्रमण किया गया हो, उसे हटा जाए। किंतु उदारवादी नेता कोई भी समझौता करने को तैयार न हुए और उन्होंने तिलक से मिलने से इनकार कर दिया। ऐसी हालत में उग्र–राष्ट्रवादियों के सामने सिर्फ एक ही रास्ता रह गया था कि जब ऐसे अध्यक्ष के चुनाव का प्रस्ताव आए जो उनका मित्र न था, तब वे बाकायदा इसका प्रतिवाद करें। तिलक ने स्वागत समिति के अध्यक्ष के पास ऐसा प्रस्ताव पेश करने का नोटिस भेजा।

ऐसा प्रतीत होता है कि अगर उदारवादियों ने तिलक को अपना प्रतिवाद प्रकट करने दिया होता, तो शायद सबकुछ शान्तिपूर्ण सम्पन्न हो गया होता परन्तु उस वक्त दोनों ही दल के नेता अपने मस्तिष्क का संतुलन खो बैठे थे। अध्यक्ष के पद के लिए रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित और समर्थित होने के बाद ही तिलक अपना प्रस्ताव पेश करने के लिए मंच पर गए। जब उन्हें अपना प्रस्ताव पेश करने की इजाजत न दी गई तो उन्होंने मंच छोड़ने से इनकार कर दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि वे मंच पर से तभी हटेंगे यदि उन्हें प्रस्ताव पेश करने दिया जाए या फिर उन्हें बलपूर्वक हटा दिया जाए। देखते ही देखते कितने ही उदारवादी नेता तिलक पर टूट पड़े और उन्हें पकड़कर खींचने लगे। तभी एक मराठा जूता सर फीरोजशाह मेहता को जा लगा और सुरेंद्रनाथ बनर्जी के मुंह को छूता हुआ जमीन जा गिरा। फिर तो सब जगह गड़बड़ी मच गई। एक–दूसरे पर कुर्सियां फेंकी जाने लगीं, लाठियॉ भाजी जाने लगी, लोग जान बचाकर भागने लगे और इस हंगामें के दौरान ही कांग्रेस का अधिवेशन स्थगित कर दिया गया।

कांग्रेस की एकता को बचाने और उसके अधिवेशन को जारी रखने का प्रश्न सामने था। मोतीलाल घोष आदि ने इसके लिए प्रयास आरंभ किया। उनके अनुरोध पर तिलक ने कांग्रेस की एकता बचाने की गरज से यह लिखकर दे दिया– 'इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना की सारी जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ अगर दूसरा पक्ष अधिवेशन जारी रखने को सहमत हो।' इस लिखित स्वीकृति को लेकर मोतीलाल घोष आदि उदारवादियों के शिविर में गए, लेकिन उनसे बात करने की जगह फीरोजशाह मेहता और दूसरे नरम दल के नेताओं ने उन्हें वहां से दुत्कार कर भगा दिया। इस तरह कांग्रेस के दो टुकड़े हो गए और उदारवादी और उग्र–राष्ट्रवादी अब अलग–अलग रास्तों पर चलने लगे। उदारवादी राष्ट्रवादियों की आपत्ति के बावजूद अपने को इंडियन नेशनल कांग्रेस कहते रहे, जबकि राष्ट्रवादी अपने को नेशनलिस्ट पार्टी कहने लगे। तथाकथित उदारवादी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग और समझौते के रास्ता पर चले जबकि उग्र–राष्ट्रवादियों उनसे संघर्ष का रास्ता अख्तियार किया।

शीध्र ही अरविंद घोष की गिरफ्तारी और बी0जी0 तिलक की कैद, विपिनचंद्र पाल के यूरोप गमन श्रौर लाला लाजपतराय की उदासीनता के कारण राष्ट्रवादियों का पक्ष दुर्बल पड़ गया, पर उनकी जनप्रियता बढ़ती गई। इस हालत को स्पष्ट करते हुए अरविंद घोष ने 31 जुलाई, 1909 को 'अपने देशवासियों के नाम खुला पत्र' में लिखा – नेशनलिस्ट पार्टी की स्थिति कठिन है किंतु असंभव नहीं। कुछ लोगों का यह ख्याल कि पार्टी समाप्त हो गई है, इसलिए कि उसके नेताओं को या तो सजा हो गई है या वे निर्वासित कर दिए गए हैं, गलत है। यह तो सिर्फ ऊपर से देखने में लगता है। पार्टी अब भी है और वह पहले से कम शक्तिशाली और व्यापक नहीं, किंतु उसको एक नीति और एक नेता की जरूरत है।

इसी के साथ उन्होंने फिर जोर देकर कहा – हमारा आदर्श विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्र स्वराज्य या पूर्ण स्वायत्तशासन है। हम देखते हैं कि प्रशासन नौकरशाही है, हम उसे जनतांत्रिक बनाना चाहते हैं। हम देखते हैं कि सरकार विदेशी है, हम उसे देशी बनाना चाहते हैं। हम देखते हैं कि नियंत्रण विदेशी है, हम उसे भारतीय बनाना चाहते हैं। राष्ट्रवादियों की इन बातों की तुलना उदारवादियों के एक नेता मदनमोहन मालवीय के भाषण से कीजिए जो उन्होंने 1909 ई0 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष के पद से दिया था। उनका कहना था कि – कांग्रेस के निर्माण का आधार ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी है। यह हमेशा कांग्रेस का सिद्धांत रहा है। कांग्रेस ने कभी ऐसा काम नहीं किया और न करने की इजाजत दी है जिससे यह ख्याल जरा भी पैदा हो कि वह ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकना चाहती है। मेरा विश्वास है कि भारत के विचारशील लोगों के बहुत बड़े हिस्से का, अवश्य ही मेरा मतलब उन लोगों से है जो ऐसे प्रश्नों को समझ सकते हैं और समझते हैं, आज भी उतना ही विश्वास है जितना कांग्रेस की स्थापना के समय विश्वास था कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए अच्छा है और उसका चिरकाल तक बने रहना हमारे लिए फायदे की बात है।

नरम दल के नेताओं की यह नीति उनके ही लिए घातक हुई। आठ साल के अंदर उन्हें राष्ट्रवादियों को कांग्रेस में वापस लेना पड़ा और 1916 में इस संयुक्त कांग्रेस के नेता कोई उदारवादी नहीं, बी0जी0 तिलक बने। उसके बाद दो साल में ही माडरेटों को कांग्रेस छोड़कर भागना पड़ा।

सरकारी दमन चक्र –

ब्रिटिश साम्राज्यवादी मुख्यतः गरम दलवालों को अपना दुश्मन समझते थे और इसलिए गरम दल के चारों बड़े नेताओं को उनके कोप का शिकार होना पड़ा। उन्हें छह–छह साल तक लंबी सजाएं दी गईं।

1906 ई0 के प्रारंभ में पंजाब में सरगर्मी दिखाई पड़ने लगी। लाहौर में एक अंग्रेज पत्रकार ने अपने नौकर को गोली मार दी। इतने संगीन अपराध के लिए भी उसे सिर्फ छह महीने की सजा हुई। जूरियों ने राय दी थी कि उक्त अंग्रेज ने जानबूझकर गोली नही चलाई थी। रावलपिंडी में रात के समय एक ट्रेन से उतरकर दूसरी ट्रेन की प्रतीक्षा करनेवाली एक औरत को स्टेशन मास्टर के कमरे में ले जाकर गोरे असिस्टेंट स्टेशन मास्टर ने बलात्कार किया। उस पर और उसके नौकर पर मुकदमा चला, किंतु दोनों निर्दोष करार देकर छोड़ दिए गए। न्यायालय के फेसले में कहा यह गया कि सब कुछ औरत की रजामंदी से हुआ, अतः यह बलात्कार नहीं था।

इसी तरह की घटनाओं ने बंगाल की घटनाओं के असर के साथ मिलकर पंजाब में विस्फोटक हालत पैदा कर दी। लाला लाजपतराय के अंग्रेजी दैनिक पत्र 'पंजाबी' के लेखों और टिप्पणियों ने पंजाब के नौजवानों को नया जोश और नया स्वर दिया। सरकार ने क्रुद्ध होकर उसके संचालक लाला जसवंत राय और संपादक आठवले को गिरफ्तार कर लिया और उन पर मुकदमा चलाना शुरू किया।

इसी समय शासकों ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिनसे पंजाब की जनता के विभिन्न हिस्सों में असंतोष फैला। लायलपुर की जमींदारियों से संबंधित नए विधेयक से जमींदार नाराज

हुए, इनमें हिंदू, मुसलमान और सिख सभी थे। व्यापारी वर्ग इसलिए नाराज हो गया कि सरकार ने एक अन्य विधेयक पेश किया था जिसकी वजह से वे अपने कर्ज के बदले में जमींदारपेशा लोगों से जमीन नहीं खरीद सकते थे। काश्तकार इसलिए नाराज हुए कि सरकार ने जल कर बढ़ाने का निश्चय किया। पढ़े–लिखे नौजवानों में असंतोष इसलिए फैल रहा था कि अंग्रेज उन्हे नीच, दागी, भिखमंगा आदि कहकर सम्बोधित कर रहे थे।

अप्रैल 1907 में लाला जसवंतराय को 6 महीने की कड़ी सजा और 1000 रु० के जुर्माने तथा संपादक आठवले को 6 महीने की सजा और 200 रु० जुर्माने का दंड दिया गया। इससे लाहौर में हंगामा मच गया। कई अंग्रेजों की पिटाई कर दी गई। उन्हीं दिनों गोखले लाहौर पहुंचे थे और वहां के हालात देखकर कुछ समय के लिए वह भी गरमदली बन गए थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा – 'मैं अपने देशवासियों की महत्वाकांक्षा पर कोई सीमारेखा नहीं खींचना चाहता। हम अपने देश में वही दर्जा चाहते हैं, जो दूसरों को अपने देश में प्राप्त है।'

लाला लाजपत राय ने पंजाब का दौरा कर शासकों के खिलाफ शिकायतों की जांच प्रारंभ की। इसी बीच जालंधर के सरदार अजीतसिंह जोशीले नौजवानों की मंडली के नेता बनकर सामने आए। अंबाप्रसाद के साथ मिलकर उन्होंने 'भारतमाता सोसायटी' नामक संस्था स्थापित की और यह संस्था पंजाब में गरमदल के लोगों का केंद्र बन गई। पंजाब के सिखों में अजीतसिंह की जनप्रियता बहुत बढ़ी। जिस तरह 'वंदेमातरम् गीत बंगाल में जनप्रिय हुआ था, उसी प्रकार पंजाब में भी एक स्थानीय भाषा का गीत जनप्रिय हुआ। इस गीत को गाने के कारण गांवों की सभाओं में उस वक्त बांकेदयाल जी की बड़ी मांग थी।

पंजाब में जन आंदोलन को बढ़ता देख ब्रिटिश शासकों ने दमन का सहारा लिया। उन्होंने रावलपिंडी के छहः नामी वकीलों को गिरफ्तार कर लिया। इसके प्रतिवाद में शहर में हंगामा मच गया। इस संबंध में सरकार ने लगभग साठ आदमियों को गिरफ्तार किया जिनमें से पांच को सात–सात साल की सजा दी गई। पंजाब में जननसंतोष इतना बढ़ गया कि शासक 10 मई को प्रदेशव्यापी विद्रोह की आशंका करने लगे। यह भी कहा जाता है कि बंबई के लिए एक खाली ट्रेन स्टेशन पर बिल्कुल तैयार रखी गई थी ताकि विद्रोह आरंभ होते ही अंग्रेज नागरिकों को पंजाब से हटाया जा सके। इसी विद्रोह को रोकने के लिए 9 मई को लाला लाजपतराय को लाहौर से और सरदार अजीत सिंह को अमृतसर में गिरफ्तार किया गया और बर्मा ले जाकर मांडले में कैद कर दिया गया।

'वंदे मातरम' पत्र पर चलनेवाले मुकदमें में गवाही देने से इनकार करने के कारण सितंबर 1907 ई0 में विपिनचंद्र पाल पर सरकार ने मुकदमा चलाया उन्होंने इनकार करने का कारण बताते हुए कहा था कि मैं एक ऐसे अभियोग में भाग लेना अपराध समझता हूँ जो अन्यायपूर्ण है और जो देशवासियों की स्वाधीनता और सार्वजनिक 'शान्ति के लिए घातक है। विपिनचंद्र पाल पर मुकदमा चलाने से जन आक्रोश की आग में घी पड़ गया और कलकत्ता में उसने विस्फोट का रूप धारण किया। सरकार की तरफ से इसे हंगामा नाम दिया गया ।

24 जून, 1908 ई0 को सवेरे सरकार ने तिलक को गिरफ्तार कर लिया और उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाना शुरू किया। इस अभियोग का आधार 'केसरी' में प्रकाशित

दो लेख बनाए गए। उन्हें छह वर्ष के कारागार और 1000 रुपये के जुर्माने की सजा दी गई। दूसरे दिन इस सजा के प्रतिवाद में बंबई के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। पुलिस ने जन असंतोष को दबाने के लिए लाठियों और गोलियों का सहारा लिया जिससे 15 आदमी मारे गए और 38 घायल हुए। बंबई के मजदूरों की यह हड़ताल भारत के मजदूरों की पहली राजनीतिक हड़ताल थी। भारत के मजदूरों के इस जागरण का स्वागत करते हुए लेनिन ने कहा था कि यह घटना स्पष्ट संकेत करती है कि भारत में ब्रिटिश शासन बहुत दिन न रह सकेगा।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की इस पहली उत्ताल तरंग को दबाने के लिए सरकार ने कठोर दमन का सहारा लिया। नवम्बर 1907 में उसने रोजद्रोहात्मक सभा कानून (सेडीशस मीटिंग्स ऐक्ट), और 1910 में प्रेस ऐक्ट लागू किया। उसने बिना मामला मुकदमा निर्वासन के लिए 1818 के रेगुलेशन का सहारा लिया और यह सब तब हुआ जब ब्रिटेन में लिबरल पार्टी की सरकार थी, यानी उन लोगों की सरकार जिनसे हमारे माडरेट यानि उदारवादी नेताओं को बहुत आशाएँ थीं।

मूल्यांकन –

उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि 1907 के 'सूरत विभाजन' की पृष्ठभूमि तो बंग–भंग आंदोलन से ही बननी शुरू हो गई थी। किन्तु, यह विभाजन महज़ इन दोनों पक्षों के मध्य के विवादों का ही परिणाम नहीं था। इसके पीछे सरकार की भी सोची समझी रणनीति अपना कार्य कर रही थी। सरकार ने कांग्रेस के प्रारंम्भिक वर्षों से ही उदारवादियों के साथ सहयोगात्मक रूख बनाये रखा था। किन्तु, बाद के वर्षों में स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलनों के उभरने से कांग्रेस के प्रति सरकार का मोह भंग हो गया तथा उसने 'अवरोध, सांत्वना एवं दमन' की त्रिचरणीय रणनीति बनाई। अपनी रणनीति के प्रथम चरण में सरकार ने उदारवादियों को डराने हेतु अतिवादियों के साधारण दमन की नीति अपनाई। द्वितीय चरण में सरकार ने उदारवादियों की कुछ मांगों पर सहमति जताकर उन्हें आश्वासन दिया कि यदि वो खुद को अतिवादियों से दूर रखें तो देश में संवैधानिक सुधार संभव हो सकते हैं। इस प्रकार उदारवादियों को अपने पक्ष में करने के तथा उन्हें अतिवादियों के खिलाफ करने के बाद सरकार के लिये अतिवादियों का दमन करना आसान हो गया।

इस दमन के साथ ही ब्रिटिश शासकों ने भारत को कुछ सुविधाएं देने का भी रास्ता अपनाया। 1909 के मार्ले–मिंटो सुधार इसी का परिणाम था। इन सुधारों के द्वारा वाइसराय की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य को लिया गया, प्रदेशों के गवर्नरों की कार्यकारिणी में भारतीयों की संख्या बढ़ाई गई, विधानसभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। उन्हें बजट और अन्य विषयों पर बहस करने और प्रस्ताव पेश करने का अधिकार दिया गया। किंतु इनके साथ ही मुसलमानों, जमींदारों और व्यापारियों को अलग प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया। यह 'फूट डालो और राज करो' की पुरानी चाल थी। किंतु 1909 के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में उदारवादियों ने इसका जोरदार स्वागत किया और मार्ले तथा मिटो सुधार का बड़ा गुणगान किया। अवश्य ही बाद में उन्हें भी निराश होना पड़ा।

दुर्भाग्य से उस दौर में जब पूरे राष्ट्र को अपने सभी राष्ट्रवादियों के समन्वित प्रयासों की जरूरत थी, उसी वक्त ये दोनों पक्ष (उदारवादी व उग्र–राष्ट्रवादी) ब्रिटिश नीति के शिकार हो गए एवं उसकी परिणिति सूरत विभाजन, 1907 के रूप में शामिल आई। कालान्तर में अपना मन्तव्य पूरा करने के पश्चात् सरकार ने उदारवादियों की भी घोर उपेक्षा की। अतः यह कहना उचित प्रतीत होता है कि सूरत विभाजन अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार की रणनीति का प्रतिफल था।

मुस्लिम लीग का उदय : मॉगें और कार्यक्रम
Rise of Muslim League : Demands and Programme.

विषय प्रवेश–

भारत में मुस्लिम लीग की स्थापना भारतीय इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है जिसका असर भारत और भारतीय इतिहास पर वर्षो तक बना रहा। यह तो सभी जानते है कि भारत में साम्प्रदायिक तत्व को बढ़ावा देने में ब्रिटिश अधिकारियों का बहुत बडा योगदान था। इसके अतिरिक्त हिंदू राष्ट्रवाद के उदय से मुसलमानों के बीच भय उत्पन्न हो गया था। मुसलमानों के सामजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को उन्नत बनाने में सर सैयद अहमद की भूमिका उल्लेखनीय थी। 20वीं सदी में भाषाई–विवाद, काउन्सिल में प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने, मुसलमानों को सरकारी सेवा में नियुक्ति दिलाने के लिए लगातार प्रयास किया जा रहा था। हिन्दुओं के बीच सरकार विरोधी रुख को देखकर ब्रिटिश अधिकारियों ने मुसलमानों के प्रति पुरानी दमन–नीति को छोड़कर उन्हें संरक्षण देने की नीति अपना ली थी। बंगाल विभाजन ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया था। लॉर्ड कर्जन ने कई बार पूर्वी बंगाल का दौरा कर यह स्पष्ट कर दिया था कि वह मुस्लिम बहुल क्षेत्र के लिए ही पूर्वी बंगाल का निर्माण करने जा रहे है, जहाँ मुसलमानों को विकास करने का पर्याप्त अवसर मिलेगा। कर्जन के बाद लार्ड मिण्टो भारत का वायसराय बना। लार्ड मिण्टो भारतीय जागरण के वेग को रोकना चाहते थे। इस उद्देष्य से उन्होने अपने निजी सचिव को अलीगढ के प्राचार्य से मिलने के लिए भेजा और मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमण्डल भेजने का सुझाव दिया। इस मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डल को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मॉग पेश करने का सन्देश दिया गया था जिसके आधार पर कालान्तर में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई।

मुस्लिम लीग की स्थापना को लेकर लेडी मिण्टो ने अक्टूबर 1906 में अपनी डायरी में कुछ बातें दर्ज करते हुये लिखा था कि – इस शाम को मुझे एक अफसर से निम्नलिखित पत्र मिला है : मैं महामान्या को यह समाचार दिए बगैर नहीं रह सकता कि आज एक बहुत, बहुत बड़ी घटना हो गई है। यह राजनीतिज्ञता का ऐसा काम है जिसका असर भारत और भारतीय इतिहास पर बहुत वर्षो तक बना रहेगा। यह छः करोड़ बीस लाख लोगों को राजद्रोही प्रतिपक्ष की कतारों में शामिल होने से रोककर पीछे खींच लेने से किसी भी प्रकार कम नहीं।

यह कौन सी घटना थी जो भारतीय इतिहास को बहुत बहुत वर्षो तक प्रभावित करने जा रही थी और जिससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को इतना लाभ होने जा रहा था जिसका अनुमान लगाना असंभव था ? यह घटना थी 1 अक्टूबर 1906 को आगा खां के नेतृत्व में मुसलमानों के एक प्रतिनिधि मंडल का वाइसराय मिंटो से मिलना, ब्रिटिश शासकों के प्रति मुसलमानों की वफादारी का इजहार करना, कुछ विशेषाधिकारों का आवेदन करना और मिंटो द्वारा उनके आवेदन को स्वीकार करना। ब्रिटिश शासक इसको अपनी बड़ी भारी सफलता समझते थे और आशा करते थे कि इसके जरिए वे भारत के 6.2 करोड़

मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखने और भारतवासियों को आपस में लड़ाकर अपना राज बनाए रखने में समर्थ होंगे। उनकी प्रत्यक्ष प्रसन्नता का यही कारण था। यह घटना कैसे घटी ? इसका वास्तविक महत्व क्या था ? क्या मुसलमानों को राष्ट्रीय ग्रांदोलन की धारा से अलगरखा जा सका ? क्या साम्राज्यवादियों की आशा पूरी हुई? इन प्रश्नों का हल ढूढ़ने से पहले इस घटना की पृष्ठभूमि पर विचार किया जाना समीचीन होगा।

मुसलमान और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस –

सर सैयद अहमद खॉ ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध आरंभ से ही किया था और कांग्रेस पर प्रारंभ में ब्रिटिश शासकों की मेहरबानी उन्हे जरा भी अच्छी नही लगती थी। उस वक्त वह कांग्रेस की बुराई करते और उसपर मेहरबानी दिखाने के लिए ब्रिटिश शासकों को उलाहना देते। कालान्तर में जब ब्रिटिश शासकों का रुख कांग्रेस के खिलाफ होने लगा तो सैयद अहमद खॉ ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर अपना हमला और भी तेज कर दिया और उन्होंने सभी देशवासियों को, खासकर मुसलमानों को, कांग्रेस से दूर रखने की कोशिश की। सर सैयद अहमद खॉ का यह अभियान कितना सफल हुआ और राष्ट्रीय आंदोलन से मुसलमानों को अलग रखने में वह कहां तक कामयाब हुए – यह कहना तो मुश्किल है परन्तु साम्राज्यवादियों और मुस्लिम सांप्रदायिकतावादियों ने यह दिखाने की कोशिश जरूर की कि कांग्रेस सिर्फ हिंदुओं का संगठन था। मुसलमान इससे अलग रहे हैं, जो थोडे बहुत मुसलमान कांग्रेस में थे वे मुसलमानों के प्रतिनिधि न थे। दूसरी तरफ हिंदू सांप्रदायिकतावादियों ने यह दिखाने की कोशिश की कि मुसलमान राष्ट्रीय आंदोलन से आम तौर पर अलग रहे। वे सबसे पहले मुसलमान थे, उसके बाद भारतीय। अमरीकी कांग्रेस का प्रकाशन समझी जानेवाली अपनी शोधपूर्ण पुस्तक में प्रोफेसर हफीज मालिक ने लिखा है कि– ''रहमतुल्ला, एम० सयानी और बदरुद्दीन तैयबजी जैसे लोग, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मुस्लिम सहयोग के एकमात्र उदाहरण के तौर पर देखे जाते थे, अपने धर्मबंधुओं को मनाने में असफल रहे।"

प्रोफेसर गिरिजा मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'कांग्रेस का उदय और विकास' में लिखा है कि–''कांग्रेस का विरोध करने के सर सैयद अहमद खां के फैसले और इससे अलग रहने की उनकी सलाह ने 1898 में उनकी मृत्यु के बाद धार्मिक प्रतिबंध का रूप धारण कर लिया।" अपनी पुस्तक 'स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास' में प्रसिद्ध इतिहासकार रमेशचंद्र मजुमदार ने 'मुस्लिम राजनीति' पर विचार करते हुए बंगाल विभाजन के बाद की हालत के बारे में लिखा है कि – सर सैयद अहमद खॉ का प्रेत अब भी व्यक्तिगत मुसलमानों के कभी–कभार विरोध के बावजूद मुस्लिम समाज पर हावी था। वे सब मुसलमान पहले और भारतीय बाद में थे।"

ब्रिटिश शासकों और सर सैयद अहमद का विरोध मुसलमानों के एक हिस्से को डराने और राष्ट्रीय आंदोलन तथा कांग्रेस से अलग रखने में सफल हुआ, लेकिन लाख कोशिशों के बावजूद वे आम मुसलमानों को उनसे अलग न रख सके। कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन (1887) के अध्यक्ष बदरुद्दीन तैयबजी इसमें शामिल होनेवाले एकमात्र मुसलमान नही थे। इसके प्रतिनिधियों की सूची में 79 मुसलमानों के नाम मिलते हैं। इसी प्रकार कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1896) की अध्यक्षता करनेवाले रहमतुल्ला एम० सयानी भी इसमें

शामिल होने वाले अकेले मुसलमान न थे। उसमें अन्य 33 मुसलमान प्रतिनिधि शामिल थे जो हिंदुस्तान के विभिन्न हिस्सों से आए थे। संभवतः सैयद अहमद खॉ के कांग्रेस विरोधी प्रचार से ही सेंट्रल नेशनल मोहम्डंस एसोसिएशन और मोहम्डन लिटरेरी सोसाइटी के नेता कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1886) से अलग रहे। कांग्रेस के इस अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिए दादाभाई नौरोजी के नाम का समर्थन करते हुए लखनऊ के नवाब रजाअली खां ने कहा था –

जिस एसोसिएशन ने हमें अपना प्रतिनिधि बनाकर सम्मानित किया है, वह ज्यादातर प्रमुख मुसलमानों, नवाबों और वसीकादारों, राजनीतिक पेंशन पानेवालों और अवध के किसी समय के शाही घराने के वंशजों का एसोसिएशन है। मैं आप लोगों को आश्वासन देता हूं कि ऐसे बेबुनियाद बयानों के जरिए कि मौजूदा आंदोलन के साथ हमारी कोई हमदर्दी नहीं, हमारी कतारों में फूट डालने की किसी भी नापाक कोशिश को हमारा एसोसिएशन और आमतौर से अवध के मेरे मुस्लमान बिरादर एकदम ठुकरा देंगे और उसकी निंदा करेंगे। हिंदू हो या मुसलमान, पारसी हो या सिख, हम सब अब एक जाति, एक राष्ट्र हैं, हमारे सार्वजनिक स्वार्थ अभिन्न और समान हैं। सज्जनों, आपसे अनुरोध करता हूं कि आप लोग ऐसे घिनौने प्रचार पर ध्यान ही मत दीजिए। इन सार्वजनिक प्रश्नों पर हम मुसलमान उसी तरह सोचते हैं जैसे सब विचारशील हिंदू सोचते हैं। मेरी इस बात का विश्वास कीजिए कि आप हम सब के सम्मिलित घर और मुल्क की जनता की राजनीतिक स्थिति को ऊपर उठाने की हरएक कानूनी वैधानिक कोशिश में हम लोगों को अपने साथ पाइएगा।

1887–88 में सैयद अहमद खॉ ने कांग्रेस विरोधी प्रचार और भी तेज किया। उन्होंने कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन (1885) को नाकाम बनाने के लिए एड़ी–चोटी का जोर लगा दिया और अंग्रेजपरस्त हिंदू तालुकदारों से भी हाथ मिलाया। उन्होंने कांग्रेस से लड़ने के लिए अंग्रेजपरस्त मुसलमानों और हिन्दुओं को मिलाकर अगस्त 1888 ई0 में 'यूनाइटेड पैट्रियाटिक एसोसिएशन' स्थापित की। लेकिन तमाम कोशिशों के वावजूद यह संगठन कुछ वर्षों में ही मर गया जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जिंदा रही और दिन प्रतिदिन लोकप्रिय होती चली गई।

सर सैयद अहमद खॉ का प्रचार इतना शक्तिशाली था कि उससे बदरुद्दीन तैयबजी जैसे कांग्रेसी भी एक हद तक प्रभावित हुए। उन्हें भी लगने लगा कि मुसलमानों का प्रबल बहुमत कांग्रेस के आंदोलन के खिलाफ है और इसलिए कांग्रेस को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कहना अर्थहीन है। उन्होंने 27 अक्तूबर, 1888 को ह्यूम के नाम पत्र में लिखा – 'मुसलमानों का प्रबल बहुमत आंदोलन के खिलाफ है। इस व्यूह रचना के खिलाफ यह कहना निरर्थक है कि बुद्धिमान और शिक्षित मुसलमान कांग्रेस के पक्ष में हैं। और अगर सारा का सारा मुस्लिम समाज कांग्रेस के खिलाफ है तो इसका अर्थ यह हुआ कि आंदोलन वस्तुतः राष्ट्रीय नहीं रह गया।" उनके तर्क का खंडन करते हुए ह्यूम ने 5 नवंबर, 1888 को लिखा था कि मुसलमानों का प्रबल बहुमत कांग्रेस के नहीं, सर सैयद अहमद के खिलाफ है। 1893 के बाद आम तौर पर कांग्रेस अधिवेषन में मुसलमानों की सहभागिता संतोषजनक नही थी और रुझान गिरावट की तरफ था। सुनिश्चित रूप से इसका एक खास कारण सर सैयद अहमद तथा ब्रिटिश शासकों का विरोध था। ब्रिटिश शासकों की मेहरबानी से 1890 के बाद होनेवाले हिंदू–मुस्लिम दंगों, गोवध विरोधी

आंदोलन, हिंदी–उर्दू विरोध आदि भी एक हद तक कांग्रेस से मुसलमानों को अलग रखने में सहायक हुए। मुसलमानों के बहुत बड़े हिस्से को कांग्रेस और 1905–07 के राष्ट्रीय प्रांदोलन की धारा से अलग रखने में सर सैयद अहमद खॉ के साथ–साथ हमारे उग्र राष्ट्रवादी नेताओं के धार्मिक और सामाजिक कार्यकलाप भी सहायक रहा।

नवीन मध्यमवर्ग का उदय –

यहॉ यह बात भी उल्लेखनीय है कि सारे ब्रिटिश भारत में हिंदुओं और मुसलमानों–दोनों के अंदर अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त नया मध्यवर्ग पैदा हो रहा था, जिसका द्वंद्व खास तौर पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ–साथ आपस में भी था। इन नवोदित हिंदू और मुस्लिम मध्यमवर्गों की प्रगति समान न थी। नए हिंदू मध्यमवर्ग का उदय पहले हुआ था, लेकिन नए मुस्लिम मध्यमवर्ग का उदय बाद में। इसलिए इन दोनों के अंदर भी द्वंद्व छिपा था किंतु वह अत्यंत गौण था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नवोदित भारतीय मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी और साम्राज्यवादियों के साथ उसके द्वंद्व का इस्तेमाल करती थी। भारतीयों के राष्ट्रीय अंदोलन को दुर्बल करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर मुस्लिम मध्यमवर्ग और हिंदू मध्यमवर्ग के बीच द्वंद्वों को उभारकर मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ खड़ा करने का रास्ता अपनाया और सर सैयद अहमद खॉ तथा उनके साथी इस काम में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हथियार बने।

दो कौम की अवधारणा –

वस्तुतः धार्मिक भेद के बावजूद हिन्दूओं और मुसलमानों के स्वार्थ एक थे लेकिन सर सैयद अहमद खॉ ने उनके स्वार्थों को अलग–अलग बताया और उन्हे दो अलग–अलग कौम तक कहा। अपनी इसी सोच की वजह से उन्होने संसदीय जनतंत्र को भारत के लिए अनुपयुक्त बताया और अंग्रेजी राज को बनाये रखने की पैरवी तक की। लेकिन दूसरी तरफ 1890 के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में इलाहाबाद के जमींदार सदरुद्दीन अहमद ने सर सैयद अहमद खॉ को 'फूटपरस्ती का रहनुमा' और 'कांग्रेस विरोधियों का मसीहा' कहा। दिल्ली के नासिर अली शोहरत ने उसी अधिवेशन में अपने भाषण में कहा – 'मुसलमानों और हिंदुओं के बीच कोई फूट नहीं। सभी का विचार एक है। इसमें कोई शक नहीं कि सर सैयद अहमद और उनके अब मुट्ठी भर अनुयायियों ने ऐसी फूट पैदा करने की कोशिश की थी, लेकिन अब सभी देखते हैं कि वे बुरी तरह नाकाम हुए हैं।"

बंगाल विभाजन और मुसलमान –

यह सोचना गलत होगा कि सभी मुसलमान तथाकथित प्रशासनिक सुविधा के नाम पर ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये बंगाल विभाजन के पक्ष में और सब हिंदू उसके विरुद्ध थे। जब सरकार बंगभंग की योजना पर विचार कर रही थी, उस वक्त सरकारी प्रश्न के उत्तर में सेंट्रल नेशनल मोहमडन एसोसिएशन के सेक्रेटरी नवाब सैयद अमीर हुसेन ने फरवरी 1904 को सूचित किया था कि उनका एसोसिएशन बंगाल के बंटवारे के खिलाफ है। बंटवारा न तो आवश्यक है और न वांछनीय। वस्तुतः आम तौर पर मुसलमान भी प्रारंभ में बंगभंग के खिलाफ थे। मुसलमानों के इस रुख को बदलने के लिए लार्ड कर्जन ने फरवरी 1904 में पूर्व बंगाल का दौरा किया और ढॉका के नवाब सलीमुल्ला को बंगभंग

का समर्थन करने को राजी कर लिया। ढॉका के नवाब परिवार के कई लोगों ने बंगभंग का विरोध किया और स्वदेशी आंदोलन में हिस्सा लिया, लेकिन सलीमुल्ला खॉ ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का साथ दिया और पूर्व बंगाल तथा असम में बंगभंग विरोधी आंदोलन तथा बायकाट आंदोलन का विरोध करनेवाले मुसलमानों के नेता बन गए। इस खिदमत के लिए ब्रिटिश सरकार ने भी उन पर मेहरबानी की और भारत सरकार ने उन्हें कम ब्याज की दर पर 14 लाख रुपए का कर्ज दिया। मुसलमानों को बंगभंग आंदोलन के विरुद्ध खड़ा करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने सरकारी तंत्र का ज्यादा से ज्यादा दुरुपयोग किया।

इन सब हरकतों के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवादी न तो राष्ट्रीय ग्रांदोलन को दुर्बल कर सके और न मुसलमानों को उससे एकदम अलग कर सके। इसीलिए उन्होंने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए और बड़े कदम उठाना जरूरी समझा, ऐसे कदम जिनका असर भारत की भावी राजनीति पर पढ़े। आल इण्डिया मुस्लिम लीग का गठन ऐसा ही कदम था। ये कदम स्वयं इस बात के प्रमाण थे कि उस समय तक मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग करने में ब्रिटिश साम्राज्यवादी बुरी तरह नाकाम रहे थे। भारत सरकार से चौदह लाख रुपए का कम ब्याज दर पर कर्ज पाने वाले नवाब सलीमुल्ला खॉ ने मुस्लिम लीग के निर्माण में पहल की।

मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डल और ब्रिटिश सरकार –

1890 में ही सरकारपरस्त मुसलमानों के एक गुट ने सर सैयद अहमद खां के नेतृत्व में मुसलमानों के लिए विशेष सुविधाएँ और पदों का प्रस्ताव पेश किया था लेकिन राष्ट्रवादी मुसलमानों ने ही इसका विरोध किया था। 'मुस्लिम हेराल्ड' ने उसकी निंदा करते हुए कहा था कि यह ऐसा प्रस्ताव है जो सुनिश्चित तौर पर जिलों और गांवों के सामाजिक जीवन के लिए जहर साबित होगा और भारत को नरक बना देगा। उस वक्त इस प्रस्ताव को दफना दिया गया था। 1906 तक आते–आते राष्ट्रीय आंदोलन की बढती हुई लहर से लड़ने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादी वही हथियार काम में लाए। इसी का परिणाम 1 अक्टूबर 1906 को वाइसराय मिंटो के पास गया कुछ मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमंडल था जिसे ब्रिटिश सरकार ने अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए कारगर शस्त्र समझा था।

तात्कालीन वायसराय लार्ड मिण्टो भारतीय जागरण के वेग को रोकना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होने अपने निजी सचिव को अलीगढ के प्राचार्य से मिलने के लिए भेजा और मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमण्डल भेजने का सुझाव दिया। इस मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डल को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मॉग पेश करने का सन्देश दिया गया था। ध्यातव्य है कि 1898 ई0 में सर सैयद अहमद खॉ के देहान्त के बाद उनके आंदोलन का नेतृत्व नवाब मोहसिन–उल–मुल्क ने संभाला था। इस सन्देश के बाद अलीगढ़ के प्राचार्य आर्चबोल्ड ने नवाब मोहसिन–उल–मुल्क को 10 अगस्त 1906 को जो पत्र लिखा उसका सारांश कुछ इस प्रकार था –

पहला प्रश्न आवेदन पत्र भेजने का है। मेरे ख्याल से यह काफी होगा कि मुसलमानों के कुछ नेताओं का इस पर हस्ताक्षर होने चाहिए। दूसरा प्रश्न है कि प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य किसको होना चाहिए। उन्हें सभी प्रांतों का प्रतिनिधि होना चाहिए। तीसरा प्रश्न है कि आवेदनपत्र में क्या लिखा जाना चाहिए ? इस संबंध में मेरी राय है कि आवेदनपत्र में

राजभक्ति प्रकट की जानी चाहिए, धन्यवाद दिया जाना चाहिए कि सुनिश्चित नीति के अनुसार स्वायत्त शासन की दिशा में ऐसे कदम उठाए जाने वाले हैं जिनसे भारतीयों के लिए सरकारी उच्च पदों के दरवाजे खुल जाएंगे। लेकिन आशंका प्रकट की जानी चाहिए कि निर्वाचन को लागू कर मुस्लिम अल्पमत को नुकसान पहुँचाया जाएगा और प्राशा प्रकट की जानी चाहिए कि मनोनयन की पद्धति लागू करने या धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व देने में मुसलमानों की राय को वाजिब महत्व दिया जाएगा।

मेरा व्यक्तिगत मत यह है कि मुसलमानों के लिए सबसे बुद्धिमानी का काम यह होगा कि वे मनोनयन की पद्धति का समर्थन करें क्योंकि निर्वाचन लागू करने का समय अभी नहीं आया है। इसके अलावा अगर चुनाव की प्रथा जारी कर दी जाती है तो अपना उचित हिस्सा पाना उनके लिए मुश्किल हो जाएगा। लेकिन इन बातों में मैं परदे के पीछे रहना चाहता हूँ और यह कदम आप की तरफ से उठाया जाना चाहिए। आप जानते हैं कि मैं मुसलमानों की भलाई के लिए कितना उत्सुक हूँ और इसलिए मैं बड़ी खुशी के साथ हर तरह की मदद करूंगा। नवाब साहब कृपया याद रखिए कि अगर कोई बड़ा और असरदार काम करना है तो आपको जल्दी कदम उठाना होगा।

अलीगढ के प्राचार्य आर्चबोल्ड और **वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ** के बीच बातचीत के अनुसार 36 मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमण्डल 1 अक्टूबर 1906 ई0 छिपे तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के संकेतानुसार लार्ड मिण्टो से मिला जिसके नेता आगा खॉ थे। इस मुस्लिम शिष्टमण्डल द्वारा भारत के वायसराय के समक्ष एक स्मृति–पत्र पेश करके निम्नलिखित मॉगे प्रस्तुत की गई –

1. मुसलमानों के लिए पृथक चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था हो। सुधार के बाद बने हुये विधान–मण्डलों में मुसलमानों को उनकी आबादी से अधिक स्थान दिया जाय।
2. प्रत्येक उच्च न्यायालय और मुख्य न्यायालय में मुसलमानों को भी न्यायाधीश का पद मिले
3. सरकारी नौकरियॉ मुसलमानों को अधिक दी जाय और नौकरियों में प्रतियोगी तत्व की समाप्ति हो।
4. सरकारी विश्वविद्यालयों की स्थापना में सरकारी सहायता दी जाय और मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय।
5. विधान परिषद के लिए मुस्लिम जमींदारों, वकीलों, व्यापारियों, जिला परिषदों और नगरपालिकाओं के मुस्लिम सदस्य और पॉच वर्षों का अनुभव वाले मुस्लिम स्नातकों का एक अलग निर्वाचक मण्डल बनाया जाय।
6. यदि वायसराय की काउन्सिल में किसी भारतीय को नियुक्त किया जाय तो मुसलमानों के हितों का ध्यान रखा जाय।

स्पष्ट है कि इस आवेदनपत्र में नगरपालिका परिषदों, जिला बोर्डों, केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की योजना विस्तार के साथ पेश की गई थी। उसमें मांग की गई थी कि कौंसिल में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपात उनके समाज की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित न किया जाए और किसी भी हालत में

मुसलमानों का प्रतिनिधित्व इतना कम न हो कि वह प्रभावहीन हो जाए। उनके मुसलमान सदस्य चुनने में मुसलमान जमींदारों, वकीलों, व्यापरियों, अन्य महत्वपूर्ण स्वार्थों के प्रतिनिधियों, प्रांतीय कौसिलों के मुस्लिम सदस्यों आदि को चुनने का अधिकार दिया जाए। सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को उचित अनुपात में नियुक्त किया जाए। नौकरियों में भरती के लिए प्रतियोगितात्मक परीक्षा समाप्त की जाए। हर न्यायालयों में मुसलमान जज नियुक्त किए जाएं। नगरपालिका परिषदों में सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल की प्रथा लागू की जाए। विधान परिषदों के लिए मुस्लिम निर्वाचक मंडल स्थापित किए जाएं।

लार्ड मिण्टो ने प्रतिनिधिमण्डल से मिलकर प्रसन्नता व्यक्त की और उनके आवेदन की सराहना की। लार्ड मिण्टो ने प्रतिउत्तर में एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें मुसलमानों को संरक्षण देने की बात स्वीकार कर ली गई। उनकी मांगों को उचित बताते हुये उन्होने कहा कि – आपका यह दावा बिल्कुल वाजिब है कि आपके स्थान का अनुमान सिर्फ आपकी जनसंख्या के आधार पर नहीं, बल्कि आपके समाज के राजनीतिक महत्व और उसके द्वारा की गई साम्राज्य की सेवा के आधार पर लगाना चाहिए। लार्ड मिण्टो ने उनकी मॉगों को यथासंभव मानने का वादा किया। लार्ड मिण्टो ने मुस्लिम शिष्टमण्डल के साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मॉगों को सहर्ष स्वीकार किया और इस प्रकार भारत के इतिहास में पहली बार साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को सरकारी स्तर पर स्वीकार कर साम्प्रदायिकता को खुला प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रतिनिधिमण्डल के आवेदन से संतुष्ट होकर उन्होंने समझ लिया था कि वे 6.2 करोड़ मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करने में समर्थ हो गए हैं और शायद इसी कारण से उनकी खुशी का कोई ठिकाना नही रहा। मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ खड़ा करने के इस काम के लिए मार्ले ने 16 अक्टूबर, 1906 को मिण्टो को पत्र लिखकर बधाई दी थी। इस प्रकार एक 'सिखाया–पढ़ाया तमाशा' (Command Performance) सम्पन्न हुआ। लार्ड मिण्टो कांग्रेस की प्रतिद्वन्दी संस्था चाहते थे और उनकी कूटनीति सफल हुई।

मुस्लिम लीग की स्थापना, 1906 –

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 1 अक्टूबर, 1906 के उपर्युक्त मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डल की सांगठनिक परिणिति मुस्लिम लीग के रूप में सामने आई। दिसंबर 1906 में मोहम्मडन एजुकेशनल कांफ्रेंस के सिलसिले में लगभग 3000 मुस्लिम प्रतिनिधि ढॉका में उपस्थित थे। इसका फायदा उठाकर नवाब सलीमुल्ला खॉ ने मुसलमानों के अलग राजनीतिक संगठन के निर्माण पर विचार करने के लिए मुस्लिम नेताओं की सभा बुलाई। उन्होंने ऐसे संगठन की योजना पेश करते हुए स्पष्ट कहा कि इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार का समर्थन करना और मुसलमानों के अधिकारों और स्वार्थो की रक्षा करना है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा कि इसका एक उद्देश्य कांग्रेस के बढ़ते प्रभाव को रोकना और मुस्लिम नौजवानों को राजनीति में हिस्सा लेने के लिए मंच प्रदान करना है ताकि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में न जाएं।

मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग–थलग करने और राष्ट्रीय आन्दोलन की धार को दुर्बल करने के लिए ब्रिटिश सरकार की शह पर ढॉका के नवाब सलीमुल्ला खॉ द्वारा ढ़ॉका में मुसलमानों का एक सम्मेलन 30 दिसम्बर 1906 ई0 को बुलाया गया। 30

दिसंबर, 1906 को आयोजित इस सम्मेलन की अध्यक्षता नवाब–उल–मुल्क ने की और इसी सम्मेलन में एक मुस्लिम राजनीतिक संगठन के रूप में 'आल इंडिया मुस्लिम लीग' (All India Muslim League) के निर्माण की घोषणा की गयी। यह नाम नवाब सलीमुल्ला खॉ द्वारा प्रस्तावित किया गया और इसे हकीम अजमल खॉ द्वारा अनुमोदित किया गया। मुस्लिम लीग के संस्थापक सदस्य थे– नवाब सलीमुल्ला खॉ, विकार–उल–मुल्क, सैयद अमीर अली, सैयद नबीउल्लाह, खान बहादुर गुलाम और मुस्तफा चौधरी। इसके पहले मानद अध्यक्ष सर सुल्तान मुहम्मद शाह थे जिसे हम सामान्यतय आगा खॉ तृतीय के नाम से जानते है। इस प्रकार यह राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ मुसलमानों का राजनीतिक संगठन खड़ा करने का प्रयास था और राष्ट्रीय आन्दोलन की राह में रूकावट पैदा करने के लिए ही मुस्लिम लीग की स्थापना की गयी।

मुस्लिम लीग के लक्ष्य और उद्देश्य –

आल इंडिया मुस्लिम लीग के निम्नलिखित लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित किए गए –

1. भारत के मुसलमानों के अंदर ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी की भावना बढ़ाना और किसी भी सरकारी कार्यवाही को लेकर सरकार की नीयत के बारे में पैदा हुई गलतफहमी को दूर करना।
2. भारत के मुसलमानों के राजनीतिक और अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उन्हें आगे बढ़ाना और उनकी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को सरकार के सामने संयम और विनम्रता के साथ पेश करना।
3. जहॉ तक हो सके, उपरोक्त उद्देश्यों और लक्ष्यों को यथासंभव बिना हानि पहुॅचाये, मुसलमानों और अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में मित्रतापूर्ण भावना उत्पन्न करना।

उपर्युक्त बातों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम लीग के नेताओं का लक्ष्य क्या था। वे भारत के मुसलमानों के अंदर अपने देश के प्रति नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रति वफादारी की भावना बढ़ाना चाहते थे, वे भारत के अन्य निवासियों के साथ नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ मुसलमानों की एकता कायम करना चाहते थे। उन्हें भारत राष्ट्र से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद प्यारा था। मुस्लिम लीग की ढॉका बैठक के लगभग तीन महीने बाद अलीगढ़ में विद्यार्थियों की सभा में भाषण देते हुए नवाब बकर–उल–मुल्क ने कहा –

.....अगर हिंदुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत खत्म हो गई तो उसपर हिन्दू राज करेंगे और तब हमारी जिंदगी, जायदाद और इज्जत पर हमेशा खतरा मॅडराया करेगा। इस खतरे से बचने के लिए मुसलमानों के लिए एकमात्र उपाय है– ब्रिटिश हुकूमत को बनाए रखने में मदद पहुॅचाना। अगर मुसलमान तहेदिल से अंग्रेजों का साथ देते हैं, तो उनकी हुकूमत जरूर बनी रहेगी। मुसलमान अपने को ब्रिटिश फौज समझें और ब्रिटिश ताज के लिए अपना खून बहाने और अपनी जिंदगी कुर्बान कर देने के लिए तैयार रहें। हम कांग्रेस की आंदोलन करने की राजनीति की नकल न करें। अगर हमें कोई मॉग उठानी हो तो उन्हें वाजिब अदब के साथ सरकार के सामने पेश करना चाहिए। लेकिन याद रखो कि ब्रिटिश हुकूमत का वफादार होना आपका 'कौमी (राष्ट्रीय) कर्तव्य' है। आप जहॉ भी रहें,

चाहे फुटबाल के मैदान में या टेनिस के लॉन में, आपको अपने को ब्रिटिश फौज का सिपाही समझना होगा। आपको ब्रिटिश साम्राज्य की हिफाजात करनी होगी और ऐसा करने के लिए दुश्मन से लोहा लेना होगा। अगर आप इसे याद रखें और इसी के मुताबिक काम करें, तो आप उसकी हिफाजत का काम पूरा कर सकेंगे और आपका नाम ब्रिटिश हिंदुस्तान की तवारीख में सुनहरे हर्फो में लिखा जाएगा। आनेवाली पीढ़ियां आपका एहसान मानेंगी।

एक बडा ही दिलचस्प पहलू की ओर यहॉ ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक है। मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्यों और लक्ष्यों में बडी समानता थी। दोनों के जन्मदाता ब्रिटिश सरकार के वफादार थे। दोनों संस्थाओं को ब्रिटिश हुकूमत को हिंदुस्तान में बनाए रखने के लिए जन्म दिया गया था। दोनों के स्थापना का लक्ष्य राष्ट्रीय आंदोलन को क्रांति का रूप धारण करने से रोकना था। कांग्रेस को जन्म दिया गया था ताकि हिंदुस्तान के नवजात शिक्षित मध्यवर्ग को क्रांतिकारी आंदोलन से अलग रखा जा सके और इस मध्यवर्ग के जरिए पूरे राष्ट्रीय आंदोलन को ब्रिटिश सरकार का पिछलग्गू बनाया जा सके। अब मुस्लिम लीग को जन्म दिया गया ताकि आमतौर पर मुसलमानों को और खासकर नवजात मुस्लिम मध्यवर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन की धारा से अलग रखा जा सके।

लेकिन लाख कोशिश करने के बाद भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उस रास्ते पर न चला सके जो रास्ता ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने उसके लिए निर्धारित किया था। राष्ट्रीय आंदोलन की धारा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की सारी चालों से ज्यादा शक्तिशाली साबित हुई थी।

जिस समय ब्रिटिश साम्राज्यवादी हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाने और कुछ अंग्रेजपरस्त मुस्लिम नेताओं के जरिए मुसलमानों के लिए अलग प्रतिनिधित्व और विशेष सुविधाओीं की मॉग करवा रहे थे, तब राष्ट्रीय विचारों के कुछ मुसलमान इनके खिलाफ लड़ रहे थे। ऐसे ही राष्ट्रीय मुसलमानों में 30 वर्ष के युवा मुहम्मद अली जिन्ना भी थे। कांग्रेस के मंच से उनका पहला भाषण मुसलमानों के लिए अलग प्रतिनिधित्व या विशेष सुविधाओं के विरोध में था। 1909 के मार्ले–मिंटो सुधार के जरिए मिण्टो ने मुस्लिम प्रतिनिधिमण्डल से किए गए अनेक वादों को पूरा किया। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हमेशा के लिए दरार पैदा करने के लिए अलग चुनाव मंडल और प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। यही नहीं, मुसलमानों को प्रतिनिधित्व की विशेष सुविधाएं दी गईं। मुसलमानों को संख्या के अनुपात से ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया था। इस तरह की सुविधाओं के जरिए मुसलमानों को अपनी तरफ खींचने का षड्यंत्र ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने किया था। राष्ट्रवादी मुसलमान जानते थे कि यह सारे देश और खुद मुसलमानों के लिए बहुत हानिकारक है। मुहम्मद अली जिन्ना प्रथम विश्वयुद्ध और उसके बाद तक कांग्रेसी और राष्ट्रवादी बने रहे। जिन्ना के राष्ट्रवादी विचारों के कारण लोगों ने बडे स्नेह के साथ उन्हे 'एकता का राजदूत' कहना शुरू किया था लेकिन अफसोस है कि जिन्ना को कांग्रेस अपने अन्दर बनाये नही रख सकी। 30 सितम्बर 1921 ई0 को वह कांग्रेस से अलग हो गये और शीध्र ही वह मुस्लिम लीग के अध्यक्ष और नेता बन गये। यही से 'एकता का राजदूत' क्रमशः भारत की एकता और अखण्डता का कट्टर शत्रु बन गया।

मुस्लिम लीग की राजनीति (1906–47)–

वस्तुतः आरंभ से ही मुस्लिम लीग एक साम्प्रदायिक संगठन था जिसका उद्देश्य केवल मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य हितों की रक्षा करना था। इसका यह स्वरूप देश की आजादी 1947 ई0 तक बना रहा। 1913 के उपरान्त लगभग एक दशक तक मुस्लिम लीग उदारवादी मुस्लिम नेताओं के प्रभाव में रही जिनमें मौलाना मुहम्मद अली, अजहर–उल–हक, सैयद वजीर हुसैन, हसन इमाम, मुहम्मद अली जिन्ना प्रमुख थे। मुहम्मद अली जिन्ना प्रारंभिक चरण में एक प्रखरा राष्ट्रवादी थे। सर्वइस्लामी प्रचार तथा खिलाफत आन्दोलन के कारण मुस्लिम लीग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बहुत समीप आ गयी और इसके फलस्वरूप 1916 ई0 में लखनऊ में कांग्रेस–लीग समझौता हो गया। लीग के शुरूआती वर्षों में देश का विभाजन भारतीय मुसलमानों के दिमाग में नहीं था और 1920–21 के मध्य मुस्लिम लीग की कार्यवाही लगभग ठप्प रही परन्तु साइमन आयोग की नियुक्ति के समय से मुस्लिम लीग में जान आ गयी। यद्यपि 1920 के बाद से ही जिन्ना का झुकाव राष्ट्रवादी राजनीति से साम्प्रदायिक राजनीति की ओर आरंभ हो गया था लेकिन 1930 तक आते–आते जिन्ना मुस्लिम लीग के निर्विवाद नेता बन गये थे और मुस्लिम लीग ने यह प्रचार शुरू किया कि हिन्दू और मुस्लिम एक राष्ट्र नहीं है, उनकी अलग–अलग संस्कृतियॉ और पहचान है। मुहम्मद अली जिन्ना ने मुस्लिम लीग में वही स्थान बना लिया था जो कांग्रेस में गॉधीजी को प्राप्त था।

22 दिसम्बर 1928 को कलकत्ता में प्रतिनिधि सभा बुलाई गई जिसमें सर्वदलीय कांफ्रेन्स द्वारा स्वीकृत ''नेहरू रिपोर्ट'' पर पुनर्विचार हुआ। इसमें जिन्ना ने अपने विचार की सविस्तार व्याख्या की और एक संशोधन प्रस्तुत किया जिसके अनुसार केन्द्र में मुस्लिम सदस्यों को एक–तिहाई स्थान मिलना चाहिए तथा अवशिष्ट शक्तियॉ प्रान्तों के पास ही होना चाहिए। यह संशोधन स्वीकार नही किया गया। अतः अगले वर्ष के आरंभ 28 मार्च 1929 ई0 को दिल्ली में हुई मुस्लिम लीग की सभा ने नेहरू–रिर्पोट अस्वीकार कर दिया और फिर न्यूनतम मुस्लिम मॉगों को 14 बिन्दुओं के रूप में प्रस्तुत किया जिसे इतिहास में 'जिन्ना के 14 सूत्रीय प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है। कालान्तर में विभिन्न गोलमेज सम्मेलनों में भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के लिए चुनाव प्रतिनिधित्व पर कोई सर्वसम्मति नहीं हो सकी अतः ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड ने अपना प्रसिद्ध 'साम्प्रदायिक पांचाट' (Communal Award) 16 अगस्त 1932 को घोषित कर दिया। इसमें वह सबकुछ स्वीकार कर लिया गया था जो साइमन आयोग को भी असंगत लगता था। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए पहला चुनाव 1937 ई0 में हुआ जिसमें मुस्लिम लीग अपने नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर चुनाव लडी। इस चुनाव में उसे आशातीत सफलता नही मिल सकी। मुसलमानों के लिए आरक्षित 485 स्थानों में से उसे केवल 110 स्थान पर ही सफलता मिली। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में पंजाब, उत्तरी–पश्चिमी सीमा प्रान्त, बंगाल तथा सिन्ध में भी उसे अन्य मुस्लिम दलों ने पछाड दिया। मुस्लिम लीग ने बंगाल, असम तथा पंजाब में कांग्रेस से मिलकर मिली–जुली सरकार बनाने की इच्छा प्रकट की परन्तु कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग का तकरार और बढ़ा। जब अक्टूबर 1939 ई0 में युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया तो मुस्लिम लीग ने उस तिथि को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाया।

स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग की तल्खी और बढती गई। मार्च 1940 में मुस्लिम लीग का लाहौर में अधिवेशन हुआ जिसमें मुहम्मद अली जिन्ना ने स्पष्ट घोषणा की कि हिन्दू और मुसलमान दोनों पृथक–पृथक जातियॉ है। लाहौर अधिवेशन में ही जिन्ना के नेतृत्व में पहली बार स्पष्ट द्वि–राष्ट्र सिद्धान्त का समर्थन करते हुये मुस्लिम लीग ने 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पेश किया। इसके बाद तो मुसलमानो के लिए पाकिस्तान की मॉग धर्मनिष्ठा का उतना ही महत्वपूर्ण भाग बन गया जितना कि कुरान। लार्ड लिंलिथगो के 'अगस्त प्रस्ताव' का मुस्लिम लीग ने स्वागत किया और एक प्रस्ताव पारित करते हुये कहा गया कि भारत के भावी संविधान के कठिन प्रश्न का एकमात्र हल केवल विभाजन ही है। 1942 के 'क्रिप्श मिशन' योजना को मुस्लिम लीग ने खारिज करते हुये पाकिस्तान के मॉग की पुनरावृत्ति की। लार्ड वैवेल ने शिमला में जून–जुलाई 1945 ई0 में सम्मेलन बुलाया ताकि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेद दूर हो सके। यहॉ कांग्रेस ने अपने सदस्यों में से दो कांग्रेसी मुसलमान को नियुक्त करने का प्रस्ताव किया लेकिन जिन्ना ने इस बात पर बल दिया कि सभी मुस्लिम सदस्य मुस्लिम लीग से ही मनोनीत किये जाय। परिणामस्वरूप गतिरोध की दशा में यहॉ भी कोई निर्णय नहीं हो सका। यह स्पष्ट हो गया कि जिन्ना अपनी जिद मनवाने के लिए पूरी तरह अडिग थे। 1946 के आम चुनावों में मुस्लिम लीग उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त को छोड़कर शेष सभी मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में अच्छी खासी सीटे जीतने में सफल रही। इस चुनाव में उसे मुसलमानों का लगभग 75 प्रतिशत मत प्राप्त हुये थे। इस प्रकार मुस्लिम लीग ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह एक सुदृढ़ राजनीतिक दल है और उसकी कोई अनदेखी नही कर सकता है।

मार्च 1946 ई0 में एक कैबिनेट मिशन भारत आया जिसके अध्यक्ष सर पैथिक लारेन्स थे। कैबिनेट मिशन की योजना 16 मई 1946 ई0 को प्रकाशित की गई जिसमें पाकिस्तान की मॉग अस्वीकार कर दी गई जिसके परिणामस्वरूप जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त 1946 ई0 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' मनाया जिसके तहत मुस्लिम लीग ने बंगाल, उत्तरप्रदेश, बम्बई, पंजाब, सिन्ध तथा उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त में साम्प्रदायिक दंगे भडकाये। भारत के इतिहास में यह अबतक का सबसे बडा साम्प्रदायिक दंगा था जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से बंगाल में व्यापक पैमाने पर नरसंहार हुआ। मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का भी बहिष्कार किया परन्तु अंतरिम सरकार में शामिल हो गयी ताकि सरकारी कामकाज में बाधाऍ उपस्थित की जा सके।

यहॉ यह कहने में कोई संकोच नही है कि मुस्लिम लीग के अधिकांश नेता अपने देशवासियों से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों पर विश्वास करते थे। वे हिन्दुओं को अपना दुश्मन और ब्रिटिश सरकार को अपना रहनुमा समझते थे। उनके नेता मुस्लिम जमींदारों–ताल्लुकदारों और नवजान मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो संख्या और शक्ति की दृष्टि से दुर्बल था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की अगूॅली पकडकर चलना अपने लिए ज्यादा सुरक्षित समझते थे। मुसलमानों में अपनी पैठ और प्रभाव बढ़ाने के लिए वे साम्प्रदायिकता के अस्त्र का प्रयोग करते थे। सबसे बडी बात भारत में हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच कटुता बढ़ाने वाले खुद ब्रिटिश साम्राज्यवादी थे। ब्रिटिश सरकार के संरक्षण के कारण मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना का मस्तिष्क अत्यन्त षड़यंत्रकारी हो गया था। जब उन्होने मुस्लिम समुदाय के सामने पाकिस्तान की

योजना रखी तो मुस्लिम जनता ने इसे बहुत पसन्द किया क्योंकि इससे उन्हे आर्थिक लाभ की आशा थी। मुस्लिम लीग ने बंगाली और पंजाबी कृषकों को यह विश्वास दिलाया कि पाकिस्तान बनने से उन्हे हिन्दू जमींदारों और बनियों से छुटकारा मिल जायेगा। उभरते हुये बुद्धिजीवियों और छोटे व्यापारी वर्ग को यह भरोसा दिलाया गया कि इससे उन्हे भिन्न–भिन्न सेवाओं में तथा व्यापार में हिन्दू चुनौती का सामना नहीं करना पड़ेगा। इस प्रकार मुस्लिम लीग का पाकिस्तान आन्दोलन का आधार अब काफी विस्तृत हो चुका था। 1946 के अन्त तक यह स्पष्ट हो चुका था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिलकर कार्य नही कर सकती थी इसलिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने भी यह संकेत दे दिया कि अब वह देश के बॅटवारे की ओर बढ़ेगी। हालॉकि गॉधीजी अंतिम समय तक देश विभाजन के खिलाफ रहे और मार्च 1947 ई0 में उन्होने जिन्ना को अंतरिम सरकार का सर्वेसर्वा बनाने का अनुरोध किया परन्तु कांग्रेस सहित मुहम्मद अली जिन्ना और मुस्लिम लीग ने इस सुझाव का विरोध किया। इस प्रकार अन्ततः माउण्टवेटन योजना, 1947 के तहत भारत विभाजन का प्रस्ताव तैयार हुआ जिसका मुस्लिम लीग ने स्वागत किया और अन्ततः देश को भारत एवं पाकिस्तान नामक दो अधिराज्यों में विभाजित कर दिया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान राष्ट्रीय जागृति (1914–18)
National Awakening during First World War.

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की शुरूआत वस्तुतः 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हुई जिसमें समय–समय पर गतिशीलता एवं परिवर्तन विभिन्न कारणों से दिखाई देता है। 1885 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर उदार नेताओं के नियंत्रण में रहा जिसने अनुनय–विनय को अपना प्रमुख शस्त्र बनाया। 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल विभाजन के फैसले के परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नयी उर्जा मिली और स्वदेशी व बहिष्कार आन्दोलन एक देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। 1908 तक आते–आते उग्र राष्ट्रवादी नेताओं की गिरफ्तारी तथा स्वदेशी व बहिष्कार आंदोलन के निष्क्रिय होने से भारतीय राष्ट्रवाद के प्रहरी भी निष्क्रिय हो गए थे। 1914 में अचानक छिड़े प्रथम विश्वयुद्ध ने भारतीय राष्ट्रीयता के प्रहरियों को झकझोरा और उन्हें उद्वेलित किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की इस घोषणा से कि– हम सभी लोगों की स्वतंत्रता और विकास के लिए युद्ध लड रहे है, किसी को भी ऐसी राजसत्ता के अधीन नही रहना चाहिए जिसे वे पसन्द नही करते हो, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वशासन की मॉग को एक नया अर्थ मिला। कुछ इसी प्रकार का आश्वासन ब्रिटिश प्रधानमंत्री और तात्कालीन वायसराय ने देते हुये कहा कि युद्ध के पश्चात भारतीयों को भविष्य नये दृष्टिकोण से देखा जायेगा। प्रथम विश्वयुद्ध की परिस्थितियों में भारतीयों की प्रतिक्रिया तीन प्रकार से उभर कर आई –

1. कांग्रेस के नरमपंथी व उदार नेताओं ने अंग्रेजों को उनके आश्वासनों के आधार पर ही पूर्ण समर्थन का वचन दिया।
2. कुछ ऐसे नेता थे जो अंग्रेजों पर विश्वास तो नही करते थे किन्तु अंग्रेजों से इस समय अपनी मॉगों के बदले मदद करने को तैयार हुये।
3. कुछ राष्ट्रवादी नेता ऐसे भी थे जो किसी भी दशा में अंग्रेजी सरकार पर भरोसा नही करते थे उस समय यह धारणा प्रचलित थी कि ब्रिटेन पर किसी भी तरह का संकट भारत के हित में है और उसके लिए यह एक उचित मौका है।

अन्ततः भारतीयों ने वायसराय की बातों पर विश्वास करते हुये युद्ध में ब्रिटिश सरकार को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान इस मौके का कई जगहों पर कई तरह से फ़ायदा उठाया गया। उत्तरी अमरीका में गदर क्रांतिकारियों और भारत में लोकमान्य तिलक तथा एनी बेसेंट व उनके स्वदेशी संगठनों ने इस 'मौके' का लाभ उठाया। ग़दर क्रांतिकारियों ने सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से अँग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया, जबकि स्वदेशी संगठनों ने स्वराज के लिए देशव्यापी आंदोलन छेड़ा। इसके अतिरिक्त इस काल में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान न केवल कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी दलों का पुनर्मिलन हुआ अपितु लखनऊ के कांगेस अधिवेशन में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य ऐतिहासिक लखनऊ समझौता हुआ।

गदर आन्दोलन –

गदर आन्दोलन भारत में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए प्रवासी भारतीयों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक आन्दोलन था। 20वीं सदी की शुरूआत में बढ़ते भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के कारण न केवल भारतीय उपमहाद्धीप में बल्कि उसी क्षेत्र से आने वाले दुनिया भर के छात्रों और प्रवासियों के बीच भी राष्ट्रवादी भावनाओं का उदय हुआ। लाला हरदयाल जिनका जन्म 14 अक्टूबर 1884 को हुआ था और तारकनाथ जैसे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों ने इन छात्रों को राष्ट्रवादी विचार प्रदान करते हुये संगठित करने का प्रयास किया।

गदर पार्टी, जिसे शुरू में पेसिफिक कोस्ट हिंदुस्तान एसोसिएशन नाम दिया गया था, का गठन 15 जुलाई 1913 को संयुक्त राज्य अमेरिका में लाला हर दयाल, संत बाबा वसाखा सिंह ददेहर, बाबा ज्वाला सिंह, संतोख सिंह और सोहन सिंह भकना के नेतृत्व में किया गया था। इसके अध्यक्ष लाला हरदयाल थे। गदर पार्टी को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, पूर्वी अफ्रीका और एशिया में रहने वाले भारतीय प्रवासियों के बीच एक बड़ा समर्थन आधार मिला।

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व उत्तरी अमरीका का पश्चिमी सागर तट पंजाबी आप्रवासियों का स्थायी घर बनने लगा था। भारी संख्या में पंजाबी किसान रोजी–रोटी कमाने का साधन ढ़ूँढने की तलाश में यहाँ आकर बसने लगे थे। इनमें ज्यादातर ब्रिटिश सेना के सेवानिवृत्त सैनिक थे। आर्थिक संकटों और बाहर जाकर एक सुखी जीवन जीने के सपनों ने इन्हें विदेश जाने के लिए उत्प्रेरित किया। लेकिन इनका भावुक सपना सच्चाई से बहुत दूर था। इनमें से ज़्यादातर को कनाडा और अमरीका में घुसने नहीं दिया गया, क्योंकि इनमें से अधिकांश लोग पश्चिमी सभ्यता के तौर–तरीकों से अनभिज्ञ थे। जिन्हें बसने की इजाज़त मिली वे जातीय द्वेष के शिकार हुये क्योंकि गोरे मजदूर इन्हें फटी आँखों नहीं देखना चाहते थे। इसलिए गोरे मजदूरों और उनके संगठनों ने भारतीयों के प्रवेश के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया। अंग्रेजी हुकूमत के पक्षधर इन देश के सौतेले व्यवहार से भारतीय बहुत क्षुब्ध हुये और यही से उनके मन में राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी। विभिन्न संगठनों और पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से इन भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का प्रयास किया गया।

अमेरिका में राजनीतिक माहौल खुला होने के कारण शीध्र ही वह राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। लाला हरदयाल, जो यहॉ राजनीतिक निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे, ने एक परचा 'युगान्तर' जारी किया जिसमें लार्ड हार्डिंग पर हमले को उचित ठहराया गया। इससे प्रभावित होकर आप्रवासीय भारतीयों ने लाला हरदयाल को अपना नेता चुन लिया। लाला हरदयाल ने लोगों से अपील करते हुये कहा कि – यहॉ जो आजादी मिली है, उसका इस्तेमाल अंग्रेजों से लडने में किजिए। जबतक आप अपने देश में आजाद नही हो जाते आपके साथ यहॉ भी समान व्यवहार नही किया जायेगा। भारत की गरीबी और पतन के लिए अंग्रेजी हुकूमत ही जिम्मेदार है, अतः उसे सशस्त्र विद्रोह से उखाड फेकिये। इस सन्देश को घर–घर पहुॅचाइये। आप सब लोग भारत जाइए और जनता का समर्थन प्राप्त किजिए।

लाला हरदयाल की इस अपील का असर हुआ और शीघ्र ही एक समिति का गठन करते हुये एक साप्ताहिक अखबार 'गदर' निकालने तथा इसे निःशुल्क बॉटने का निर्णय लिया गया। इस प्रकार लाला हरदयाल के नेतृत्व में गदर आन्दोलन की शुरूआत हुई और आन्दोलनकारियों ने बडे पैमाने पर प्रचार कार्य शुरू किया। 1 नवम्बर 1913 ई0 को 'गदर' का पहला अंक उर्दू में प्रकाशित हुआ। हर अंक के पहले पृष्ठ पर छपता था– 'अंग्रेजी राज का दुश्मन', ''अंग्रेजी राज का कच्चा चिट्ठा''। यह कच्चा चिट्ठा बहुत ही सरल भाषा में लिखा जाता था और साथ ही सावरकर, अरविन्द घोष, मैडम कामा, बाल गंगाधर तिलक, श्यामजी कृष्ण वर्मा, अजीत सिंह आदि के विचार व लेख छापे जाते थे, जो भारतीयों को संघर्ष की प्रेरणा देते थे। गदर में छपी कविताओं ने जनता को सबसे अधिक प्रभावित किया जिसे बाद में 'गदर की गूँज' नाम से इन कविताओं का एक संकलन प्रकाशित हुआ और इसे निःशुल्क बॉटा गया। इस प्रकार गदर आन्दोलन ने बहुत जल्द आप्रवासियों को अपना समर्थक बना लिया। गदर का संदेश लोगों के दिलों तक पहुँचा और युवक संघर्ष के लिए मचलने लगे। इसी बीच हरदयाल को अराजकतावादी गतिविधियों के आरोप में 25 मार्च 1914 को गिरफ्तार कर लिया गया। जमानत पर छूटने के बाद वे चुपके से देश से बाहर चले गये और गदर आन्दोलन को उनका सहयोग फिलहाल समाप्त हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान गदर आन्दोलन की भावी रणनीति को कामागाटामारू काण्ड ने सबसे अधिक प्रभावित किया।

कामागाटामारू प्रकरण –

कनाडा सरकार ने एक ऐसा आप्रवासी कानून बनाया था, जिसके तहत केवल वही भारतीय कनाडा जा सकता था, जो भारत से सीधे कनाडा आया हो। यह बहुत ही सख्त कानून था, क्योंकि उन दिनों ऐसी कोई नौपरिवहन व्यवस्था नहीं थी जो इस तरह के जलमार्ग से किसी को कनाडा पहुँचाती। लेकिन नवंबर 1913 में कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे 35 भारतीयों को कनाडा में प्रवेश की इजाजत दे दी, जो लगातार यात्रा करके नहीं आए थे। अदालत के इस फ़ैसले से उत्साहित होकर सिगापुर में ठेकेदारी का काम कर रहे एक भारतीय नागरिक गुरदीत सिंह ने किराए पर एक जहाज लेकर दक्षिण व पूर्व एशिया में इधर–उधर रह रहे भारतीय नागरिकों को लेकर बैंकोवर जाने का फैसला किया। 376 यात्रियों से लदा कामागाटामारू जहाज़ बैंकोवर की ओर चल पड़ा। जापान के याकोहामा शहर में गदर क्रांतिकारी इन यात्रियों से मिले औरे चेतावनी दी गई कि यदि इन भारतीयों को कनाडा में प्रवेश की अनुमति नहीं मिली तो इसके गंभीर परिणाम होंगे। बैंकोंवर में कुछ अखबारों ने इसे कनाडा का अतिक्रमण बताया। इसी बीच कनाडा सरकार ने आप्रवासी कानून की उन खामियों को दूर कर लिया जिसके चलते अदालत ने 35 भारतीयों को कनाडा में प्रवेश की इजाजत दी थी। इस तरह संघर्ष की रूपरेखा तैयार कर ली गई थी।

जहाज़ जब बैंकोवर के पास पहुँचा तो इसे बंदरगाह से दूर ही रोक दिया गया और पुलिस ने घेराबंदी कर ली। यात्रियों के अधिकारों के लिए लड़ने के उद्देश्य से कई विरोध बैठकें होने लगीं और भारत में अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ विद्रोह की धमकी दी गई। इनके लिए अन्य देशों में भी प्रभावी आंदोलन छेड़ा गया और भारतीयों से विद्रोह के लिए तैयार होने को कहा गया। लेकिन कनाडा सरकार पर इसका कोई असर न हुआ और कामागाटामारू को कनाडा की जल–सीमा से बाहर कर दिया गया। जब तक यह जहाज

याकोहामा पहुँचता, प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। अँग्रेज़ी हुकूमत ने आदेश दिया कि जहाज़ को सीधे कलकत्ता लाया जाए और किसी भी यात्री को कहीं भी उतरने न दिया जाए। यह जहाज़ जिस–जिस बंदरगाह से होकर गुज़रता अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ भारतीय जनता के मन में नफ़रत की आग सुलगती। किसी तरह जहाज़ जब कलकत्ते के पास पहुँचा, तो पुलिस को देखकर पहले से ही परेशान और क्षुब्ध यात्री अपने क्रोध पर काबू न पा सके और पुलिस से जमकर संघर्ष हुआ। 18 यात्री मारे गए, 202 जेल भेज दिए गए और कुछ निकल भागने में कामयाब रहे। यह समस्त प्रकरण भारतीय इतिहास में कामागाटामारू काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रथम विश्वयुद्ध और गदर आन्दोलन –

प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही गदर आन्दोलनकारियों को एक और सुनहरा मौका मिला हालांकि इसके लिए वे पूरी तरह तैयार नहीं थे। आनन–फानन में बड़े नेताओं की एक बैठक बुलाई गई, और फैसला किया गया कि हिंदुस्तान में जाकर भारतीय सैनिकों से मदद ली जाए। गदर पार्टी ने 'ऐलान–ए–जंग' अर्थात युद्ध की घोषणा कर दी। गदर पार्टी से जुडे कई नेताओं ने प्रवासी भारतीयों के बीच जा–जाकर सभाएँ की और उनसे हिंदुस्तान जाकर सशस्त्र विद्रोह करने का अनुरोध किया। जापान, फिलीपीन, चीन, हांगकांग, मलाया, सिंगापुर व बर्मा में रहनेवाले भारतीयों को भी समझा–बुझाकर भारत भेजने के लिए कई नेता इन देशों में भेजे गए। कुछ अति उग्रपंथी नेता जैसे करतार सिंह सराभा व रघुवीर दयाल गुप्त पहले ही भारत पहुँच चुके थे। इनमें से करतार सिंह सराभा को गदर षड्यंत्र में शामिल होने के आरोप में फाँसी दे दी गई थी।

दूसरी तरफ गदर आंदोलनकारियों को कुचलने के लिए अंग्रेजी हुकूमत ने कमर कस ली थी। जैसे ही प्रवासी भारतीय हिदुस्तान में दाखिल होते, इनकी पूरी जाँच–पड़ताल की जाती, जिनसे खतरा दिखाई देता उन्हें इस आदेश के साथ छोड़ा जाता कि वे अपने गाँव छोड़कर कहीं नहीं जाएँगे। हुकूमत ने जिन्हें बहुत खतरनाक समझा, उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अनुमान है कि लगभग 8000 प्रवासी भारतीय स्वदेश लौटे, फ़रवरी 1915 तक 189 व्यक्ति नज़रबंद किए गए और 704 व्यक्तियों को अपने ही गाँव में रहने का आदेश दिया गया। श्रीलंका और दक्षिण भारत के रास्ते से आनेवाले तमाम लोग प्रशासन को चकमा देकर पंजाब पहुँच गए। ये गाँव–गाँव घूमे, जनसभाएँ कीं, लेकिन जैसा ग़दर क्रांतिकारियों ने सोचा था, पंजाबी ग़दर क्रांतिकारियों का साथ देने को क़तई तैयार नहीं थे। जनता के इस व्यवहार से क्षुब्ध ग़दर आंदोलनकारी अब भारतीय सैनिकों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिशें करने लगे। नवंबर 1914 में अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ सैनिक विद्रोह के कई प्रयास किए गए, लेकिन किसी संगठित नेतृत्व और केंद्रीय नियंत्रण के अभाव में ये तमाम प्रयास विफल हो गए। अन्ततः रासबिहारी बोस ने नेतृत्व सँभालना स्वीकार कर लिया और जनवरी 1915 में वह पंजाब पहुँच गए। इनके प्रयास से सैनिक विद्रोह के लिए तैयारी प्रारंभ हुई लेकिन समय से पहले ही सी0आई0डी0 को सब कुछ पता चल गया। सरकार ने पहले से ही इन आंदोलनकारियों को धर दबोचने की तैयारी कर ली। ज्यादातर नेता गिरफ्तार कर लिए गए लेकिन रासबिहारी बोस किसी तरह बच निकलने में सफल रहे। इस तरह व्यावहारिक रूप से ग़दर आंदोलन समाप्त हो गया। सरकार ने दमनात्मक कार्रवाइयाँ और तेज़ कर दीं। पंजाब और मंडालय में चले षड्यंत्र के मुकद्दमों में 42 क्रांतिकारियों को फांसी दी गई और लगभग 200 क्रांतिकारियों को

लंबी सजा। इस तरह पंजाब के समूचे राष्ट्रीय नेतृत्व का एक तरह से गला घोंट दिया गया।

बर्लिन में बसे कुछ भारतीय आंदोलनकारी, जिनका संपर्क अमरीका में ग़दर क्रांतिकारी रामचंद्र से था, जर्मनी की मदद से विदेशों में तैनात भारतीय सैनिकों से संपर्क करने और उन्हें विद्रोह के लिए तैयार करने की कोशिश करने लगे। राजा महेन्द्रप्रताप और बरकतुल्ला ने अफगानिस्तान के अमीर की मदद लेने की कोशिश की और काबुल में एक अंतरिम सरकार भी गठित कर ली। लेकिन इस तरह की तमाम कोशिशों का कोई खास नतीजा नहीं निकला और सशस्त्र विद्रोह के बल पर अँग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने का लक्ष्य पूरा न हो सका।

स्पष्ट है कि गदर आन्दोलन अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नही हो सका। वस्तुतः ग़दर आंदोलन की अपनी खामियाँ थीं। किसी सशस्त्र विद्रोह के लिए कितनी तैयारी, कितना पैसा, कैसा संगठन चाहिए और कब कैसी रणनीति अपनाई जानी चाहिए, इसका ठीक–ठीक' अनुमान वे नहीं लगा सके। प्रथम विश्वयुद्ध इतनी जल्दी छिड़ जाएगा, इसकी उन्हें आशंका नहीं थी। जैसे ही प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ, ग़दर आंदोलनकारी भी अपनी ताकत और संगठन का आंकलन किये बिना अँग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ मैदान में उतर पड़े। भारत में अँग्रेजी हुकूमत की ताकत को भी उन्होंने कम करके आँका। उन्हें लगा कि हिंदुस्तान की जनता विद्रोह के इंतज़ार में बैठी है, बस उसे ललकारने भर की ज़रूरत है। जैसे ही ललकारा उन्हे उत्प्रेरित किया जायेगा, भारत की जनता अँग्रेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंकेगी। ग़दर आंदोलन ने किसी ऐसे नेतृत्व को भी जन्म नहीं दिया, जो इसे निरंतरता प्रदान करता। लाला हरदयाल को ऐसे समय पर अमरीका छोड़ना पड़ा जब उनकी वहाँ बहुत ज़रूरत थी। इससे ग़दर आंदोलनकारियों का न तो कोई संगठन रह गया, न कोई नेता। सही समझ, प्रभावी नेतृत्व और मज़बूत संगठन के अभाव में यह आंदोलन समाप्त हो गया। प्रथम विश्व युद्ध, के समापन पर गदर पार्टी एक कम्युनिस्ट और एक समाजवादी गुट में विभाजित हो गई। इस झटके के बावजूद गदर पार्टी स्वतंत्रता संग्राम के कई क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणा का स्रोत था, उनमें से सबसे उल्लेखनीय भगत सिंह थे।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि ग़दर आंदोलन निरर्थक था, या वह पूरी तरह असफल रहा। केवल लक्ष्य को पैमाना मानकर ही किसी आंदोलन की सफलता या विफलता आँकना गलत है। सफलता या विफलता का पैमाना तत्कालीन समाज की राजनीतिक चेतना की बढ़त और संघर्ष के लिए नई रणनीतियों और तरीक़ों का विकास भी होता है। यदि इन मुद्दों पर इस आंदोलन को तौला जाए तो यह कहना पड़ेगा कि भारत की आज़ादी की लड़ाई में गदर आंदोलन की भूमिका व उसकी उपलब्धि सराहनीय थी। गदर क्रांतिकारियों में किसी तरह की क्षेत्रीय भावना भी नहीं थी। लोकमान्य तिलक, अरविंद घोष, खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त व सावरकर जैसे कांतिकारी नेता गदर आन्दोलनकारियों के आदर्श थे। गदर आन्दोलन के प्रणेता लाला हरदयाल का एक और महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने ग़दर क्रांतिकारियों को अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित किया–उन्हें अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि दी। गदर आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इसने उपनिवेशवाद के खिलाफ वैचारिक संघर्ष छेड़ा। शुरुआती दौर के राष्ट्रवादी नेताओं ने अँग्रेज़ी हुकूमत के औपनिवेशिक चरित्र का जो विश्लेषण और

पर्दाफाश किया था, उसे गदर आन्दोलन ने ही सीधी–साधी परंतु प्रभावशाली भाषा में भारतीय आप्रवासी जन समूह तक पहुँचाया। इस व्यापक प्रचार के प्रयास के फलस्वरूप ही ऐसे उत्साही राष्ट्रवादियों का आविर्भाव हुआ जो देश के लिए सब–कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। गदर आंदोलन को अत्यधिक वीरता, कड़ी मेहनत, परिश्रम की कहानी के रूप में वर्णित किया जा सकता है जिसने दूर–दराज के तटों पर बसे हर भारतीय के दिल को छू लिया।

लखनऊ अधिवेशन, 1916

1914 ई0 में प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभ होते ही भारतीय राजनीति में नवजीवन एवं उत्साह का संचार हुआ। ब्रिटेन को युद्ध में फॅसे देखकर उग्र राष्ट्रवादी तुरन्त सजग हो गये। इस दौरान 1916 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लखनऊॅ अधिवेशन दो घटनाओं की दृष्टि से स्मरणीय था–

1. उग्र राष्ट्रवादियों, जिन्हें नौ वर्ष पूर्व कांग्रेस से निष्कासित कर दिया गया था, का कांग्रेस में पुनर्प्रवेश।
2. कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य समझौता।

उग्र राष्ट्रवादियों का कांग्रेस में पुनर्प्रवेश –

सूरत अधिवेशन, 1907 के दौरान कांग्रेस का दो दलों में विभाजन हो चुका था। गरम दल वाले उससे अलग हो गये थे और कई वर्षों तक अलग काम करते रहे। अन्त में 1916 में श्रीमती एनी बेसेन्ट के प्रयास से दोनों पक्षों में मेल हुआ और गरम दलवालों का कांग्रेस में पुनर्प्रवेश हुआ। वस्तुतः नरम दल और गरम दल में कांग्रेस के विभाजन से कांग्रेस सर्वथा आकर्षणहीन हो गयी थी और यह महसूस किया जा रहा था कि उसके द्वारा भारत की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति होना कादापि संभव नहीं है। 1914 में बाल गंगाधर तिलक के माण्डले जेल से वापस आने के बाद उन्होने भी महससू किया कि कांग्रेस के विभाजन से देश का राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर हुआ है अतः वे भी कांग्रेस को संयुक्त करने के इच्छुक थे। उन्होने महसूस किया कि दोनो धडों को एकीकृत कर ही कांग्रेस में नवजीवन का संचार किया जा सकता है। दूसरी तरफ एनी बेसेण्ट जैसी राष्ट्रवादियों को भी यह भय लग रहा था कि अगर उग्रदल वालों को कांग्रेस में नहीं मिलाया जायगा तो संभव है वे क्रांतिकारियों के साथ मिल जायें। इसके अतिरिक्त श्रीमती बेसेन्ट द्वारा चलाये गये 'होम रूल आन्दोलन' के सफल संचालन के लिए आवश्यक था कि भारत के सभी राजनीतिज्ञों का समर्थन उसे प्राप्त हो। ब्रिटिश शासन पर दबाव तभी पड सकता था जबकि सभी भारतीय राजनीतिज्ञ तथा दल मिलजुल कर काम करें। इन बातों को ध्यान में रखते हुए श्रीमती बेसेन्ट ने नरम और गरम दोनों में मेल– मिलाप कराना श्रेयष्कर समझा। इस सम्बन्ध में 1914 में उन्होंने गोखले और फिरोजशाह मेहता से बातचीत की लेकिन उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। कुछ ही समय बाद 1915 में गोखले और फिरोजशाह मेहता दोनों की मृत्यु हो गयी। अब नरम दल में कोई प्रभावशाली नेता नहीं रह गया था। इस बीच उग्र राष्ट्रवादी नेता तिलक जेल से छूटकर वापस आ चुके थे। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने इस सुनहरा मौका मानते हुये फिर से दोनों गुटों को मिलाने का प्रयास जारी किया। वे 1915 के कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुईं और कांग्रेस की नियमावली में संशोधन कराने में सफल हुईं। इस नियमावली के अंतर्गत

अब गरम दल के लोगों के लिए भी कांग्रेस में सम्मिलित हो सकना संभव हो गया। बी0जी0तिलक ने इस संशोधन का स्वागत किया। इस प्रकार 1916 के कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में वे अपने अनुयायियों के साथ कांग्रेस में पुनः सम्मिलित हो गये और लगभग 10 वर्षों के बाद कांग्रेस में पुनः एकता स्थापित हो गयी। नौ वर्षों बाद 1916 का लखनऊ अधिवेशन कांग्रेस का पहला संगठित अधिवेशन था।

कांग्रेस–लीग समझौता :

1912–13 तक आते–आते मुस्लिम लीग का ब्रिटिश सरकार के प्रति मोहभंग होने लगा था। 1913 के उपरान्त लगभग एक दशक तक मुस्लिम लीग उदारवादी मुस्लिम नेताओं के प्रभाव में रही जिनमें मौलाना मुहम्मद अली, अजहर–उल–हक, सैयद वजीर हुसैन, हसन इमाम, मुहम्मद अली जिन्ना प्रमुख थे। इसका प्रभाव मुस्लिम लीग की नीतियों तथा उद्देश्यों पर पड़ा। वह पृथकता की नीति से दूर होने लगी और प्रगतिवादी तथा राष्ट्रीय नीति को अपनाने लगी। फलतः वह कांग्रेस के निकट आ गयी तथा उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए मिलजुल कर काम करने लगी।

मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में परिवर्तन के अनेक कारण थे। लार्ड कर्जन ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उभाड़ने के लिए बंगाल का विभाजन किया था। इस घटना ने मुसलमानों को काफी प्रोत्साहित किया था तथा अंग्रेजी सरकार के प्रति उनकी वफादारी बढ़ गयी थी लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा जनता द्वारा घोर विरोध के कारण सरकार ने 1911 ई0 में बंगाल विभाजन के फैसले को रद्द कर दिया। फलस्वरूप मुसलमान असंतुष्ट हो गये और अंग्रेजी सरकार से उनका विश्वास उठने लगा। इसी बीच राष्ट्रवादी तथा प्रगतिशील मुस्लिम नेताओं के प्रभाव ने लीग के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में बहुत बड़ा योग दिया। इस समय कई ऐसे मुसलमान नेताओं ने राजनीति में प्रवेश किया जो राष्ट्रवादी थे। उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रखने की चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप मुसलमानों की प्रगति और चेतना अवरुद्ध हो गयी है। मुहम्मद अली द्वारा सम्पादित 'कामरेड' और 'हमदर्द' तथा मौलाना आजाद द्वारा सम्पादित 'अलहिलाल' नामक पत्रों ने मुसलमानों में नवचेतना का संचार किया और उन्हें कांग्रेस के निकट ला दिया। दूसरी ओर हिन्दू राष्ट्रवादियों ने भी मुसलमानों के प्रति सहानुभूति दिखायी जिससे मुसलमान उनमें विश्वास करने लगे और यह महसूस करने लगे कि हिन्दुओं और मुसलमानों के हितों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। पान–इस्लामिक आन्दोलन (Pan-islamic Movement) ने भी मुसलमानों में यूरोपीय जातियों के प्रति विरोधी–भावना उत्पन्न किया। 1912–13 के बाल्कन युद्ध तथा प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजों ने तुर्की के सुल्तान, जो सम्पूर्ण मुस्लिम जगत का खलीफा था, के विरुद्ध नीति अपनायी। इससे मुसलमान अंग्रेजों के प्रति सशंकित हो उठे। दूसरी ओर हिन्दुओं ने खलीफा के प्रति सहानुभूति दिखलायी अतः भारत में हिन्दू और मुसलमान बहुत निकट आ गये। तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग ने कांग्रेस तथा राष्ट्रवादियों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया जबकि उसके पूर्व लार्ड मिण्टों ने मुसलमानों के प्रति पक्षपात तथा विशेष सहानुभूति अपनायी थी। सरकार की नीति में परिवर्तन होते देख मुसलमान सशंकित हो उठे और

सरकार की ओर से वे उदासीन होने लगे। फलतः सरकार को मुस्लिम लीग का सहयोग मिलना कम हो गया।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में मुस्लिम लीग की नीतियों और उद्देश्यों में परिवर्तन आया और 1913 के अपने अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य से सम्बन्धित प्रस्ताव पारित किया। स्पष्ट है कि ध्येय की एकता के कारण वह कांग्रेस के निकट आ गई। 1915 में मुसिलम लीग का अधिवेशन बम्बई में बुलाया जहाँ कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। मुस्लिम लीग के इस अधिवेशन में पंडित मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू जैसे कई कांग्रेसी नेता सम्मिलित हुए। एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय लिया गया कि भारत शासन सुधार की एक ऐसी योजना तैयार की जाय जिसके लिए कांग्रेस और लीग एक साथ मिलकर यत्न करें। दूसरी ओर कांग्रेस ने भी एक प्रस्ताव द्वारा अपनी महासमिति को आदेश दिया कि वह लीग से परामर्श करके शासन–सुधार की एक ऐसी योजना तैयार करे जो कांग्रेस और लीग दोनों को स्वीकार हो। सुधार योजना को तैयार करने के लिए कांग्रेस और लीग की एक संयुक्त समिति संगठित की गयी। इसी अधिवेशन में मुस्लिम लीग और कांग्रेस ने एक ही स्थान और एक ही समय पर अपने अगले वार्षिक अधिवेशनों को आयोजित करने का निर्णय लिया।

दिसम्बर 1916 ई0 में मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों ने लखनऊ में अपने वार्षिक अधिवेशनों का आयोजन किया। इन दोनों दलों ने पृथक्–पृथक् रूप से संवैधानिक सुधारों की संयुक्त योजना के संबंध में प्रस्ताव पारित किए और संयुक्त कार्यक्रम के आधार पर राजनीतिक क्षेत्र में एक–दूसरे के साथ सहयोग करने के संबंध में एक समझौता किया। यह समझौता सामान्यतया लखनऊ समझौता या कांग्रेस–लीग समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते में एनी बेसेण्ट और बाल गंगाधर तिलक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि मदन मोहन मालवीय समेत कई वरिष्ठ नेता इसके बिल्कुल खिलाफ थे क्योंकि उनका आरोप था कि यह समझौता मुस्लिम लीग को बहुत तजब्बो देता है। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के अनुसार– 'भारत के इतिहास में यह एक सुनहरा दिन था।'

लखनऊ समझौते के अन्तर्गत एक उन्नीस सूत्री ज्ञापन पत्र (Nineteen Memorundum) तैयार किया गया जिसकी कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित थी –

1. केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं में 80 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित और 20 प्रतिशत सदस्य मनोनीत होने चाहिए।
2. केन्द्रीय विधानसभा की सदस्य संख्या 150, मुख्य प्रान्तों की विधानसभाओं की सदस्य–संख्या कम–से–कम 125 और अन्य प्रान्तों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या 50 से 75 तक हो।
3. विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों को जनता द्वारा चुना जाय और मताधिकार को यथासंभव विस्तृत किया जाय।
4. विधानसभाओं में मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया जाय। विभिन्न विधानसभाओं में उनकी संख्या इस प्रकार हो– केन्द्रीय विधानसभा एक तिहाई, पंजाब 50 प्रतिशत, संयुक्त प्रान्त 30 प्रतिशत, बिहार 25 प्रतिशत, बम्बई एक तिहाई, मध्यप्रदेश 15 प्रतिशत, और मद्रास 15 प्रतिशत।

5. केन्द्रीय सरकार का शासन गवर्नर–जनरल कार्यकारिणी परिषद की सहायता से करे जिसमें आधे सदस्य भारतीय हों।
6. प्रांतों का शासन गवर्नर कार्यकारिणी परिषद् की सहायता से करें जिसमें कम–से–कम आधे सदस्य भारतीय हों।
7. अल्पसंख्यकों को किसी विधेयक को निषिद्ध (Veto) करने का अधिकार दिया जाय। यदि अलपसंसंख्यक वर्ग में तीन–चौथाई प्रतिनिधि किसी विधेयक के विरुद्ध हों, तो उसपर विधानसभा में विचार नहीं किया जायगा।
8. भारत–मंत्री की परिषद को समाप्त कर दिया जाय और भारत सरकार के साथ उसका वही सम्बन्ध रहे जो औपनिवेशिक मंत्री का औपनिवेशिक सरकारों के साथ हो।
9. भारतीय प्रशासकीय सेवा (सिविल सर्विस) में नियुक्तियाँ करने का अधिकार भारत सरकार में निहित होना चाहिए।
10. ब्रिटिश भारतीय सेना में सेना और नौसेना के कमिशण्ड और गैर–कॉमिशण्ड पदों पर भारतीय लोगों की नियुक्ति की जाए।

लखनऊ समझौते में कांग्रेस ने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचक–मण्डल की माँग को भी औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया, जो मुस्लिम लीग के लिए एक बहुत बडी सकारात्मक उपलब्धि थी, क्योंकि कांग्रेस अब तक इसका विरोध करती आ रही थी। इसमें शक नहीं कि इस समझौता से कम–से–कम इतना फायदा अवश्य हुआ कि भारत में राष्ट्रीय एकता का वातावरण उत्पन्न हुआ और हिन्दू तथा मुसलमान परस्पर मिलकर स्वराज्य आन्दोलन में अग्रसर हुए। इस प्रकार कांग्रेस–लीग समझौता राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम था, लेकिन कांग्रेस को इसके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। मुसलमानों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को स्वीकार करके कांग्रेस ने इस बात को स्वीकार कर लिया कि मुसलमान एक पृथक् राष्ट्रीयता है। कांग्रेस ने इन मॉगों को मानकर सदा के लिए मुस्लिम लीग और साम्प्रदायिकता के सामने घुटने टेक दिया। डा0 ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि– ''लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग को संतुष्ट करने की नीति का प्रारम्भ था।"

कांग्रेस का यह सोचना कि विशेष सुविधाएं प्रदान करने से मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना भविष्य में शांत हो जायगी, यह भी ख्याली पोलाव सिद्ध हुआ। कालान्तर में मुसलमानों की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियां निरन्तर तीव्रतर होती गयीं जिसका भयानक परिणाम हुआ। लखनऊ समझौता केवल एक अस्थायी विराम समझौता था। मुस्लिम लीग ने इस समझौते के बावजूद अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखा। मुस्लिम लीग हिन्दुओं के सामान्य हितों से भिन्न, मुसलमानों के लिए पृथक् राजनीतिक अधिकारों की वकालत करती रही। 1922 में चौरी–चौरा घटना के परिणामस्वरूप असहयोग आन्दोलन के स्थगन तक कांग्रेस और लीग दोनों इस समझौते की भावना के अनुरूप एक–दूसरे के साथ सहयोग करते रहे और एकसाथ राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रहे। परन्तु असहयोग आन्दोलन के स्थगन के साथ ही लखनऊ समझौता भंग हो गया और लीग ने पुनः अपना पुराना पृथक् रास्ता पकड़ लिया। लखनऊ समझौता भंग हो जाने के उपरान्त मुस्लिम लीग कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन दोनों की पहले से कहीं अधिक कटु शत्रु बन गई। डॉ0 रमेश चन्द्र

मजूमदार ने लखनऊ समझौते की बहुत कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि – "परवर्ती घटनाओं की पृष्ठभूमि में निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि 1916 में कांग्रेस द्वारा लखनऊ समझौता करने के निर्णय ने वस्तुतः वह नींव डाली जिसके ऊपर तीस वर्षों बाद पाकिस्तान का निर्माण किया गया।

होम–रूल आन्दोलन, 1916 :

प्रथम विश्वयुद्ध के विस्फोट और 1914 में तिलक की कारावास की सजा पूरी होने पर उनकी रिहाई के बाद तिलक एवं श्रीमती एनी बेसेन्ट ने एक–दूसरे के पारस्परिक सहयोग से होम–रूल आन्दोलन प्रारम्भ करने का निर्णय लिया। बाल गंगाधर तिलक 6 साल की लम्बी सजा काटने के बाद 16 जून 1914 ई0 को माण्डले जेल से छूटे। उस दौरान उग्र राष्ट्रवादी नेता अरविन्द घोष सन्यास की राह पकड कर पांडीचेरी चले गये थे और लाला लाजपत राय अमेरिका में थे। नरमपंथी राष्ट्रवादी आन्दोलन में अपनी प्रासंगिकता खोते जा रहे थे। बाल गंगाधर तिलक ने महसूस किया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हुये बगैर कोई भी राजनीतिक आन्दोलन सफल नही हो सकता। दूसरी तरफ नरमपंथी खेमे के तमाम नेता अब यह महसूस करने लगे थे कि 1907 ई0 में सूरत में जो कुछ भी हुआ, वह गलत था। नरमपंथियों पर अभी हाल ही में कांग्रेस में शामिल हुई एनी बेसेण्ट जैसी नेता का लगातार दबाव पड़ रहा था कि देश में राष्ट्रवादी राजनीतिक आन्दोलन को फिर से शुरू किया जाय।

एनी बेसेण्ट ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरूआत इंग्लैण्ड से प्रारंभ किया था। 1893 ई0 में वह थियोसॉफीकल सोसायटी के लिए कार्य करने के उद्देश्य से भारत आई। यह सोसायटी भारत के नवजागरण के लिए कार्य कर रही थी। श्रीमती एनी बेसेण्ट भारत की दार्शनिक विचारधारा से बहुत प्रभावित थी और वे भारत को ही अपनी मातृभूमि मानने लगी थी। थियोसॉफी के प्रचार के क्रम में उन्होने शीध्र ही समर्थकों की एक बडी संख्या तैयार कर ली। अतः एनी बेसेण्ट ने अपनी गतिविधियों का दायरा बढाने का निर्णय किया और आयरलैण्ड के नेता रेडमाण्ड द्वारा स्थापित होमरूल लीग की तर्ज पर भारत में भी स्वशासन की मॉग को लेकर आन्दोलन चलाने की योजना बनाई।

होमरूल आन्दोलन के उद्देश्य –

गृह–शासन अथवा होमरूल आन्दोलन एक वैधानिक और शान्तिपूर्ण आन्दोलन था जिसका उद्देश्य भारत में स्वशासन की स्थापना करना था। यह आन्दोलन एक अधिकारपूर्ण माँग की अभिव्यक्ति था अर्थात् स्वशासन की माँग कोई 'याचना' नहीं थी कि भारत का स्वशासन ब्रिटिश सरकार की कृपा पर निर्भर हो, भारतीयों को स्वशासन दिलाने के मुख्य उद्देश्य के अतिरिक्त होमरूल आन्दोलन के कुछ और भी तात्कालिक उद्देश्य थे । इसका पहला उद्देश्य था कि स्थानीय संस्थाओं और विधानसभाओं में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का स्वशासन स्थापित किया जाए। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने कहा था– राजनीतिक सुधारों से हमारा अभिप्रायः ग्राम पंचायतों से लेकर जिला नगरपालिका और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं तक राष्ट्रीय संसद के रूप में स्वशासन की स्थापना है। इस राष्ट्रीय संसद के अधिकार स्वशासित उपनिवेशों की व्यवस्थापिकाओं के समान होंगे। उन्हें नाम चाहे जो भी दिया जाए, किन्तु जब ब्रिटिश साम्राज्ञी की संसद में स्वशासित राज्यों के प्रतिनिधि लिए जाएँ तो भारत का प्रतिनिधि भी इस संसद में होगा। दूसरा

उद्देश्य यह था कि जब भारतीय तन–मन–धन से युद्ध में अंग्रेजों की सहायता कर रहे हैं तो उन्हें स्वशासन देकर सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। एनीबेसेन्ट का कहना था कि यह ब्रिटिश साम्राज्य के हित में होगा कि वह भारत को गृह–शासन प्रदान करे। तीसरा उद्देश्य, भारतीय राजनीति को उग्रधारा की ओर जाने से रोकना था। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने तत्कालीन आतंकवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन की नब्ज पहचानी और यह निष्कर्ष निकाला कि यदि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को संयुक्त नेतृत्व प्रदान नहीं किया तो उस पर आतंकवादियों, क्रान्तिकारियों का आधिपत्य हो जाएगा। अतः उन्होंने शांतिपूर्ण तथा वैधानिक आन्दोलन चलाकर भारतीयों के जोश को दूसरी ओर मोड़ देने की चेष्टा की। श्रीमती एनीबेसेन्ट का प्रयास बहुत कुछ सफल हुआ और उन्होंने उग्रवादियों को आतंकवादियों के प्रयोग से सदैव के लिए मुक्त कर दिया। चौथा उद्देश्य यह था कि भारतीय राजनीति के शान्त जीवन में नए प्राण फूँकना आवश्यक था। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने समय की माँग को पहचाना और होमरूल आन्दोलन चलाकर भारतीय जनता को झकझोर दिया । उन्होंने कहा, "मैं भारत में वैतालिक का कार्य कर रही हूँ और सब सोने वालों को जगा रही हूँ ताकि वो उठ बैठें तथा अपनी मातृभूमि के लिए कार्य करें।"

होमरूल आन्दोलन की प्रगति –

श्रीमती बेसेन्ट ने यह अनुभव किया कि स्वशासन प्राप्त किए बिना कोई वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती है, अतः वे इस राजनीतिक संघर्ष में कूद पड़ीं। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उस समय उदारवादियों के नियंत्रणाधीन कांग्रेस इतनी शक्तिहीन है कि वह स्वशासन की दिशा में कोई भी कार्य नहीं कर सकती है। इस हेतु वह स्वयं कांग्रेस में शामिल हो गयी और बिखरे कांग्रेस को एकीकृत करने का प्रयास तेज कर दिया। एनी बेसेण्ट ने भारतीय राजनीतिक प्रवृति का विश्लेषण करते हुये पाया कि यदि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को संयत नेतृत्व नही दिया गया तो इसपर क्रान्तिकारियों का आधिपत्य स्थापित हो जायेगा। इसके अतिरिक्त युद्धकाल में भारतीय राजनीतिक आन्दोलन भी शिथिल पड़ गया था और सक्रिय और प्रभावकारी नेता के अभाव में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति अवरूद्ध हो गयी थी। अतः भारतीय जनमानस को सुषुप्तावस्था से जागृत करना आवश्यक था। इस प्रकार उन्होने समय की मॉग को पहचाना और होम रूल आन्दोलन चलाकर भारतीय जनता को झकझोर देने का प्रयास किया।

1915 ई0 के प्रारंभ में एनी बेसेण्ट ने दो अखबारों– 'न्यू इण्डिया' और 'कामनवील' के माध्यम से आन्दोलन छेड दिया। उनकी मॉग थी कि जिस तरह गोरे उपनिवेशों में वहॉ की जनता को अपनी सरकार बनाने का अधिकार दिया गया है, भारतीय जनता को भी स्वशासन का अधिकार मिले। अप्रैल 1915 के बाद एनी बेसेण्ट ने और भी कड़ा रूख अख्तियार किया। इन अखबारों ने ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत स्वशासन के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, धार्मिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक और राजनीतिक सुधारों को अपना आधारभूत कार्यक्रम बनाया।

1915 में जब तिलक को कांग्रेस में शामिल करने की स्वीकृति मिल गयी तो अप्रैल 1916 में बेलगॉव में हुये प्रान्तीय सम्मेलन में उन्होने 'होम रूल लीग' के गठन की घोषणा कर दी। इसे देखकर एनी बेसेण्ट के समर्थक भी उतावले होने लगे और एनी बेसेण्ट से 'होम रूल लीग' की स्थापना की अनुमति ले ली। इस प्रकार एनी बेसेण्ट ने सितम्बर 1916 में

'होम रूल लीग' का गठन किया। शीघ्र ही तिलक और एनी बेसेण्ट ने अपनी–अपनी लीग के लिए कार्यक्षेत्रों का बॅटवारा कर लिया। महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्यप्रान्त और बरार तिलक के हिस्से आया जबकि देश के शेष भाग एनी बेसेण्ट की लीग के हिस्से में आया।

दोनों नेताओं ने होम रूल के पक्ष में अपने–अपने समाचार पत्रों– श्रीमती एनी बेसेन्ट के 'कॉमनवील' और 'न्यू इण्डिया' तथा तिलक के 'मराठा' एवं 'केसरी' के माध्यम प्रचार करना प्रारम्भ किया। दोनों ने जनता को होम रूल की विचारधारा से अवगत कराने के लिए देशव्यापी दौरे किए। तिलक ने मुख्य रूप से जनता को समझाया गया कि इसकी जरूरत क्यों है, इसका उद्देश्य क्या है ? तिलक ने क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा और भाषाई राज्यों की मॉग को स्वराज्य की मॉग से जोड दिया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि तिलक के उस समय दिये गये भाषणों में कहीं से भी धार्मिक अपील नही झलकती। होम रूल की मॉग पूरी तरह धर्मनिरपेक्षता पर आधारित थी। तिलक ने 6 मराठी और 2 अंग्रेजी परचे निकालकर अपने प्रचार कार्य को और तेज कर दिया।

तिलक और एनी बेसेंट की 'लीग' में से एनी बेसेण्ट का संगठन बहुत ढीला था। कोई भी तीन व्यक्ति मिलकर कहीं भी शाखा खोल सकते थे। जबकि तिलक की लीग का संगठन बहुत मज़बूत था और सभी छह शाखाओं के काम और कार्यक्षेत्र निर्धारित थे। एनी बेसेंट की लीग की दो सौ शाखाएँ थीं जिनमें से कुछ शाखाएँ क़स्बों और नगरों में थीं, बाक़ी गाँवों में। एक शाखा के तहत कुछेक गाँव ही आते थे। हालाँकि कार्यकारी परिषद् का चुनाव किया जाता था, लेकिन सारा काम एनी बेसेंट और उनके सहयोगी अरुंडेल, सी0पी0 रामास्वामी अय्यर तथा बी.0पी0 वाडिया देखते थे। सदस्यों को निर्देश देने का कोई संगठित तरीका नहीं अपनाया गया। या तो व्यक्तिगत रूप से सदस्यों को निर्देश दे दिए जाते या फिर 'न्यू इंडिया' में अरूंडेल के लेखों को पढ़कर लोग जानते कि उन्हें क्या करना है। एनी बेसेंट की लीग तिलक की लीग की तुलना में सदस्य बनाने में भी पीछे रही। मार्च 1917 तक एनी बेसेण्ट की लीग के सदस्यों की संख्या केवल सात हज़ार थी। जवाहरलाल नेहरू, बी0 चक्रवर्ती और जे0 बनर्जी भी इसमें शामिल हो गए थे। फ़िलहाल शाखाओं की गिनती से लीग की ताक़त का अनुमान लगाना कठिन है, क्योंकि इनमें से कुछ तो काफ़ी सक्रिय थे और कुछ निष्क्रिय क्योंकि वे ज्यादातर 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' की गतिविधियों तक ही सीमित थे। बतौर उदाहरण, मद्रास नगर में शाखाओं की संख्या सबसे ज़्यादा थी, लेकिन बंबई, उत्तरप्रदेश के नगरों और गुजरात के ग्रामीण इलाकों की शाखाएँ काफी सक्रिय थीं, हालाँकि उनकी संख्या कम थी।

इन सारी गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य था 'होम रूल' की माँग के लिए बड़े पैमाने पर आंदोलन छेड़ना। इसके लिए राजनीतिक शिक्षा देना और राजनीतिक बहस शुरू करना बहुत ज़रूरी था। अरुंडेल ने 'न्यू इंडिया' के माध्यम से अपने समर्थकों को राजनीतिक बहस छेड़ने, राष्ट्रीय राजनीति के बारे में जानकारी देनेवाले पुस्तकालयों की स्थापना, छात्रों को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए कक्षाओं का आयोजन, परचे बाँटने, चंदा इकट्ठा करने, सामाजिक कार्य करने, राजनीतिक सभाओं के आयोजन, दोस्तों के बीच 'होम रूल' के समर्थन में तर्क देने तथा उन्हें आंदोलन में भागीदार बनाने के लिए कार्य करने को

कहा। कई शाखाओं ने इन पर अमल किया। राजनीतिक बहस चलाने पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

होम रूल का प्रचार कितना तेज़ हुआ, इसका अंदाज़ इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि सितंबर 1916 तक 'प्रचार फंड' से छापे जाने वाले तीन लाख परचे बाँटे जा चुके थे। यह 'प्रचार फंड' कुछ महीने पहले ही स्थापित किया गया था। इन परचों में तत्कालीन सरकार का कच्चा चिट्ठा होता था और स्वराज के समर्थन में तर्क दिए जाते थे। एनी बेसेंट की लीग की स्थापना के बाद इन परचों को फिर छापा गया। कई क्षेत्रीय भाषाओं में भी इनका प्रकाशन हुआ। साथ–साथ जनसभाओं का आयोजन और भाषण का क्रम भी जारी रहा। जब भी किसी मुद्दे को लेकर देशव्यापी प्रतिरोध का आह्वान किया जाता, लीग की सारी शाखाएँ इसका समर्थन करतीं। नवंबर 1916 में, जब एनी बेसेंट पर बरार व मध्य प्रांत में जाने पर प्रतिबंध लगाया गया, तो अरुंडेल की अपील पर लीग की तमाम शाखाओं ने विरोध बैठकें आयोजित कीं और वाइसराय तथा गृह सचिव को विरोध प्रस्ताव भेजे। इसी तरह 1917 में जब तिलक पर पंजाब और दिल्ली जाने पर प्रतिबंध लगाया गया तो पूरे देश में विरोध–बैठकें हुईं। लीग की तमाम शाखाओं ने इसका डटकर विरोध किया।

कांग्रेस की अर्कमण्यता से क्षुब्ध अनेक नरमपंथी कांग्रेसी भी 'होम रूल' आंदोलन में शामिल हो गए। गोखले की 'सर्वेंट–ऑफ़ इंडिया सोसाइटी' के सदस्यों को लीग का सदस्य बनने की इजाज़त नहीं थी, लेकिन उन्होंने जनता के बीच भाषण देकर और परचे बाँटकर 'होम रूल' आंदोलन का समर्थन किया। उत्तरप्रदेश में अनेक नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने लखनऊ कांग्रेस सम्मेलन (1916) की तैयारी के सिलसिले में होम रूल लीग के कार्यकर्ताओं के साथ गाँवों–कस्बों का दौरा किया। इनकी ज्यादातर बैठकें पुस्तकालयों में होतीं थी जहाँ छात्र, व्यवसायी व अन्य पेशों से जुड़े हुए लोग इकट्ठा होते और अगर बैठक किसी बाज़ार के दिन होती तो इसमें गाँवों से आए किसान भी शरीक होते। इन बैठकों में हिदुस्तान की ग़रीबी और बदहाली का मुद्दा उठाया जाता। अतीत की समृद्धि की याद दिलाई जाती और यूरोप के स्वतंत्रता आंदोलनों पर प्रकाश डाला जाता, उससे प्रेरणा लेने की अपील की जाती। इन बैठकों में हिंदी भाषा का इस्तेमाल किया जाता था। नरमपंथियों का होम रूल लीग को समर्थन देना, कोई अचरज की बात नहीं थी, क्योंकि लीग, नरमपंथियों के राजनीतिक प्रचार व शैक्षणिक कार्यक्रमों को ही अमली जामा पहना रही थी।

सरकारी दमनचक्र –

होम रूल आन्दोलन जैसे जैसे लोकप्रिय होता गया, सरकार ने दमनात्मक कार्यवाहियॉ तेज कर दी। तिलक द्वारा होल रूल की सभाओं में दिए गए उनके कुछ भाषणों के आधार पर 23 जुलाई 1916 को उनके 60वें जन्मदिन पर एक 'कारण बताओं नोटिस' दिया गया जिसमें लिखा था कि आपकी गतिविधियों के आधार पर आपके उपर क्यों न प्रतिबंध लगाया जाय। इस आरोप में उस पर मुकदमा चलाया गया और तिलक की ओर से मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में वकीलों की एक पूरी टीम ने मुकदमा लड़ा। मजिस्ट्रेट की अदालत में वे मुकदमा हार गये परन्तु नवम्बर 1916 में हाईकोर्ट ने उन्हे निर्दोष करार दिया। होम रूल आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव को देखते हुये मद्रास सरकार ने

छात्रों के राजनीतिक बैठकों में भाग लेने पर प्रतिबंध लगा दिया जिसका पूरे देश में विरोध हुआ। 1917 में श्रीमती एनी बेसेन्ट के साथ–साथ जार्ज अरूंडेल तथा वी0पी0 वाडिया को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके खिलाफ देशव्यापी प्रदर्शन हुए। सर एस0 सुब्रह्मण्यम अय्यर ने सरकारी उपाधि 'नाइटहुड' अस्वीकार कर दी। मदनमोहन मालवीय, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और मुहम्मद अली जिन्ना जैसे तमाम नरमपंथी नेताओं ने एनी बेसेंट व अन्य नेताओं की गिरफ़्तारी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। 28 जुलाई 1917 को कांग्रेस की एक बैठक में तिलक ने कहा कि यदि सरकार इन लोगों को तुरन्त रिहा नहीं करती है, तो शांतिपूर्ण असहयोग आंदोलन चलाया जाएगा। गाँधीजी के कहने पर शंकरलाल बैंकर और जमुनादास, द्वारकादास ने ऐसे एक हज़ार लोगों के हस्ताक्षर इकट्ठे किए जो सरकारी आदेशों की अवहेलना करके जुलूस की शक्ल में जाकर एनी बेसेंट से मिलना चाहते थे। इन लोगों ने 'स्वराज' के समर्थन में किसानों और मज़दूरों से हस्ताक्षर कराना शुरू किया। गुजरात के क़स्बों और गाँवों का दौरा किया गया और वहाँ लीग की शाखाएँ स्थापित करने में मदद की गई। इससे होम रूल लीग के सदस्यों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई।

इस प्रकार सरकारी दमन ने आंदोलन को और बढ़ावा दिया, आंदोलनकारियों को और जुझारू बनाया। मान्टेग्यू ने अपनी डायरी में लिखा है – "शिव ने अपनी पत्नी को 52 टुकड़ों में काटा, भारत सरकार ने जब एनी बेसेंट को गिरफ्तार किया, तो उसके साथ ठीक ऐसा ही हुआ।'

इन घटनाओं के बाद इंग्लैंड की सरकार ने अपनी नीतियाँ बदलीं। अब उसका रुख समझौतावादी हो गया। नए गृह सचिव मान्टेग्यू ने हाउस ऑफ़ कामंस में ऐतिहासिक घोषणा करते हुये कहा– "ब्रिटिश शासन की नीति है कि भारत के प्रशासन में भारतीय जनता को भागीदार बनाया जाए और स्वशासन के लिए विभिन्न संस्थानों का क्रमिक विकास किया जाए जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके।" इस घोषणा का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि अब होम रूल या स्वराज की माँग को देशद्रोही नहीं कहा जा सकता था। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं था कि ब्रिटिश हुकूमत स्वराज की मॉग मानने ही जा रही थी। फ़िलहाल मान्टेग्यू की घोषणा के चलते सितंबर 1917 में एनी बेसेंट को रिहा कर दिया गया।

आन्दोलन की असफलता –

1917 में भारी सफलता मिलने के बावजूद 1918 तक आते–आते अनेक कारणों से होम रूल आंदोलन कमज़ोर पड़ गया और मृतप्राय हो गया। सबसे बड़ी बात यह थी कि एनी बेसेंट की गिरफ़्तारी से उत्तेजित होकर जो नरमपंथी इस आंदोलन में शामिल हुए थे, उनकी रिहाई के बाद निष्क्रिय हो गए। सरकार ने सुधारों का आश्वासन दिया था अतः इन नेताओं को लगा कि अब आंदोलन की ज़रूरत नहीं है। इसके अलावा कानून निषेध आंदोलन चलाने की चर्चा से भी वे नाराज़ थे। इसीलिए इन्होंने सितंबर 1918 के बाद से कांग्रेस की बैठकों में भाग लेना छोड़ दिया। 1918 में सुधार–योजनाओं की घोषणा से राष्ट्रवादी खेमे में एक और दरार पड़ गई। कुछ लोग इसे ज्यों–का–त्यों स्वीकार करने के पक्ष में थे तो कुछ लोग इसे पूरी तरह नामंजूर करना चाहते थे। कुछ लोगों का मानना था कि इसमें कई कमियाँ तो हैं पर इसे आजमाना चाहिए। इन सुधारों और

शांतिपूर्ण असहयोग आंदोलन के मुद्दों पर खुद एनी बेसेंट दुविधा में थीं। कभी तो वह इसे ग़लत कहतीं और कभी अपने समर्थकों के दबाव के कारण ठीक कहतीं। शुरू में तिलक के साथ एनी बेसेंट ने भी कहा कि इन सुधार–योजनाओं को भारतीय जनता मंजूर न करे, यह उसका अपमान है, पर बाद में उन्होंने इसे मान लेने की अपील की। एक प्रकार से अगस्त 1917 के मॉण्टेग्यू घोषणा के उपरान्त श्रीमती एनी बेसेण्ट ने अपनी होम रूल लीग का काम बन्द कर दिया। तिलक काफ़ी समय तक अपने निर्णय पर अडिग रहे, लेकिन एनी बेसेंट की ढुलमुल नीतियों और नरमपंथियों के रुख में बदलाव के कारण वह अकेले अपने बूते पर इन सुधारों का विरोध करते हुए आंदोलन की गाड़ी को आगे खींचने में असमर्थ हो गए और साल के अंत में एक मुकदमें की पैरवी में इंग्लैंड चले गए। एनी बेसेंट एक सशक्त नेतृत्व देने में असमर्थ थीं और तिलक विदेश में थे। नतीजतन 'होम रूल आंदोलन' नेतृत्वविहीन हो गया।

महत्व और मूल्यांकन –

इन असफलताओं के बावजूद होम रूल आन्दोलन व्यर्थ नही गया और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसका विशेष महत्व है क्योंकि इसने एक ऐसे समय में स्वतंत्रता की ज्योति को जलाए रखा जब कांग्रेस निस्पन्द और निष्प्राण नजर आती थी। इसने राष्ट्र के समक्ष स्वशासन की एक ठोस योजना प्रस्तुत की और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश के सभी वर्गो में 'संयुक्त मोर्चे की भावना' का आह्वान किया। इसने भारतीयों को सुषुप्तावस्था से जगाया, राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी गति प्रदान की और सरकार को नयी सुधार योजना लागू करने के लिए बाध्य किया। होम रूल आन्दोलन के दो दूरगामी राजनीतिक परिणाम हुए। एक तो, इससे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक नई शक्ति और चेतना का संचार हुआ। होम रूल आन्दोलन से राजनीतिक क्षेत्र से उदारवादियों के प्रभाव का लगभग सूर्यास्त हो गया। इस आन्दोलन ने यह जता दिया कि यदि कांग्रेस अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति करना चाहती है तो कोई भीख मॉगने से काम नही चलेगा। इसकी व्यापक सफलता के परिणामस्वरूप कांग्रेस में गरमपंथियों का पुनर्प्रवेश हुआ और 1917 में श्रीमती बिसेन्ट को कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने घोषणा की कि भारत अब अनुग्रहों के लिए अपने घुटनों पर नहीं, बल्कि अधिकारों के लिए अपने पैरों पर खड़ा है।" अध्यक्ष के रूप में उनके निर्वाचन से कांग्रेस के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। दूसरा, होम रूल आन्दोलन ने शीघ्र ही ब्रिटिश सरकार को एक नवीन नीति के निर्धारण के लिए बाध्य किया, जिसे मॉण्टेग्यू घोषणा या अगस्त घोषणा के द्वारा स्पष्ट किया गया। यदि होमरूल आन्दोलन नही होता तो 20 अगस्त, 1917 की मांटेग्यू घोषणा उस समय नही होती और 1919 का अधिनियम आगे लम्बे समय के तक के लिए टल जाता। होम रूल आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इसने भावी राष्ट्रीय आंदोलन के लिए जुझारू योद्धा तैयार किए। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में यही जुझारू आंदोलनकारी आज़ादी की मशाल लेकर आगे बढ़े। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के लिए एक नई पीढ़ी तैयार हो गई थी जिसे होम रूल

आंदोलनकारियों ने ही तैयार किया था। अन्ततः हम यह कह सकते है कि राष्ट्रीयता के आन्दोलन को जीवित रखने तथा भारत के स्वतंत्रता संग्राम में एक नई तकनीक जोड़ने में होम रूल आन्दोलन का अपना विशिष्ट स्थान है।

******